✵ हिंदी अनुवाद ✵

वेदानुवचन ।

लेखक

बाबा नगीनासिंह आत्मदर्शी

प्रकाशक-

श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग

लखनऊ.

१९२५.

मूल्य-विशेष संस्करण सजिल्द १॥)

साधारण संस्करण बिना जिल्द १।)

* हिंदी अनुवाद *

वेदानुवचन ।

लेखक

बाबा नगीनासिंह आत्मदर्शी

प्रकाशक.

श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग

लखनऊ.

१९२५.

मूल्य-विशेष संस्करण सजिल्द [illegible]

साधारण संस्करण बिना जिल्द [illegible]

निवेदन

ईश्वर का धन्यवाद है कि राम प्यारों को अब हिन्दी भाषा में इस अमूल्य रत्न 'वेदानुवचन' के देखने और पढ़ने का अवसर मिला। इस पुस्तक से जो आनन्द परम हंस रामतीर्थ जी ने उठाया था और जैसा उत्तम व उपयोगी आप इस ग्रन्थ को समझते थे, यह सब भूमिका में स्पष्ट किया गया है। पर इस की भाषा उर्दू, और वह भी कठिन उर्दू, होने से यह ग्रन्थ साधारण पाठकों के अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हो सका, इस लिये बहुत कालसे सैकड़ों प्रार्थनाएँ राम प्यारों व धर्मज्ञों से इस प्रकार की आती थीं कि इस ग्रन्थ को अधिक सरल भाषा में, और विशेषतः हिंदी भाषा में किया जाय जिस से सब प्रान्तों के हिन्दु लोग इस के अध्ययन से लाभ उठा सकें। आज यह लिखते समय चित्त प्रसन्न व प्रफुल्लित हो रहा है कि लीग भगवत्-कृपा से उक्त प्रार्थनाओं के पूरा करने में समर्थवान् हुई और आज अभी आधे ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पाठकों की भेंट कर सकी।

लीग की सूचनानुसार यह अनुवाद (अर्थात् ग्रन्थावली का २९ वां और ३० वां भाग) गत दीपमाला तक स्थायी ग्राहकों की भेंट हो जाना चाहिये था, पर इस बार अनुवादक महोदय की सुस्ती, लापरवाही और टाल मटोल ने ही यह सब विलम्ब किया। अनुवादक महोदय श्रीयुत् चन्द्रिका प्रसाद गुप्त थे, जो गत चार वर्ष से लीग की उर्दू पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद करा करते थे, और जो मधुर तथा सरल भाषा लिखने में प्रसिद्ध भी थे, जिस से इन्हीं के सुपुर्द इस वेदानुवचन का भी अनुवाद किया गया था, और इन्हों ने अनुवाद-कार्य हाथ में लेते समय प्रतिज्ञा भी

निवेदन

ईश्वर का धन्यवाद है कि राम प्यारों को अब हिन्दी भाषा में इस अमूल्य रत्न 'वेदानुवचन' के देखने और पढ़ने का अवसर मिला। इस पुस्तक से जो आनन्द परम हंस रामतीर्थ जी ने उठाया था और जैसा उत्तम व उपयोगी आप इस ग्रन्थ को समझते थे, यह सब भूमिका में स्पष्ट किया गया है। पर इस की भाषा उर्दू, और वह भी कठिन उर्दू, होने से यह ग्रन्थ साधारण पाठकों के अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हो सका, इस लिये बहुत काल से सैकड़ों प्रार्थनाएँ राम प्यारों व धर्मज्ञों से इस प्रकार की आती थीं कि इस ग्रन्थ को अधिक सरल भाषा में, और विशेषतः हिंदी भाषा में किया जाय जिस से सब प्रान्तों के हिन्दु लोग इस के अध्ययन से लाभ उठा सकें। आज यह लिखते समय चित्त प्रसन्न व प्रफुल्लित हो रहा है कि लीग भगवत्-कृपा से उक्त प्रार्थनाओं के पूरा करने में समर्थवान् हुई और आज अभी आधे ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पाठकों की भेंट कर सकी।

लीग की सूचनानुसार यह अनुवाद (अर्थात् ग्रन्थावली का २९ वां और ३० वां भाग) गत दीपमाला तक स्थायी ग्राहकों की भेंट हो जाना चाहिये था, पर इस बार अनुवादक महोदय की सुस्ती, लापरवाही और टाल मटोल ने ही यह सब विलम्ब किया। अनुवादक महोदय श्रीयुत् चन्द्रका प्रसाद गुप्त थे, जो गत चार वर्ष से लीग की उर्दू पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद करा करते थे, और जो मधुर तथा सरल भाषा लिखने में प्रसिद्ध भी थे, जिस से इन्हीं के सुपुर्द इस वेदानुवचन का भी अनुवाद किया गया था, और इन्हों ने अनुवाद-कार्य हाथ में लेते समय प्रतिज्ञा भी

दूसरे संस्करण की भूमिका।

[ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य
श्रीमन्नारायण स्वामी जी की लेखनी से]

लग भग दस वर्ष का समय हुआ कि जब स्वामी राम तीर्थजी महाराज को, जो उन दिनों गृहस्थ-आश्रम में श्रीमान् गोस्वामी तीर्थ राम एम्० ए० के नाम से प्रसिद्ध थे, इस ग्रंथ की प्रशंसा सुनने का अवसर हुआ। उन्होंने पुस्तक की प्रशंसा चूंकि अपने एक शुद्धचित्त तथा सच्चे मित्र और भारत धर्म महामंडल के सुप्रसिद्ध महोपदेशक (पं० दीनदयाल जी) के मुख से सुनी थी, इसलिये इस ग्रंथ के देखने की स्वामीजी महाराज को और भी अधिक जिज्ञासा हुई। जब इस तरह जिज्ञासाग्नि की ज्वाला प्रदीप्त हुई और स्वामीजी उस पुस्तक के ढूंढने और पढ़ने के लिये तत्पर हुए, तो फिर पंडितजी ने ही, कि जिन्होंने इस ग्रंथ की हस्त लिखित प्रति को अपने पास दो तालों में सुरक्षित कर रक्खा था, बड़ी कठिनता से, अति अल्प समय के लिये अध्ययनार्थ उसे दे दिया।

अभी यह पुस्तक आधी भी समाप्त न होने पाई थी कि उसके अध्ययन से स्वामीजी के अंतःकरण में सच्चे आनंद का समुद्र उमँड़ने लगा, और मन में विश्व-प्रेम उमंगें मारने लगा। उनसे न रहा गया कि वह अकेले ही इस अमूल्य रत्न से आनंदित हों और दूसरों को इससे वंचित रक्खें, वरन मारे आनंद के उनका आनंदित चित्त बड़े वेग से यों लहराने लगा कि इस अमूल्य ग्रंथ को शीघ्र मुद्रित कराकर सत्य के जिज्ञासुओं की भेंट किया जाय।

निजानन्द में निमग्न चित्त यों तरंगें उठा ही रहा था कि

दूसरे संस्करण की भूमिका।

[ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य श्रीमन्नारायण स्वामी जी की लेखनी से]

लग भग दस वर्ष का समय हुआ कि जब स्वामी राम तीर्थजी महाराज को, जो उन दिनों गृहस्थ-आश्रम में श्रीमान् गोस्वामी तीर्थ राम एम्० ए० के नाम से प्रसिद्ध थे, इस ग्रंथ की प्रशंसा सुनने का अवसर हुआ। उन्होंने पुस्तक की प्रशंसा चूंकि अपने एक शुद्धचित्त तथा सच्चे मित्र और भारत धर्म महामंडल के सुप्रसिद्ध महोपदेशक (पं० दीनदयाल जी) के मुख से सुनी थी, इसलिये इस ग्रंथ के देखने की स्वामीजी महाराज को और भी अधिक जिज्ञासा हुई। जब इस तरह जिज्ञासाग्नि की ज्वाला प्रदीप्त हुई और स्वामीजी उस पुस्तक के ढूंढने और पढ़ने के लिये तत्पर हुए, तो फिर पंडितजी ने ही, कि जिन्होंने इस ग्रंथ की हस्त लिखित प्रति को अपने पास दो तालों में सुरक्षित कर रक्खा था, बड़ी कठिनता से, अति अल्प समय के लिये अध्ययनार्थ उसे दे दिया।

अभी यह पुस्तक आधी भी समाप्त न होने पाई थी कि उसके अध्ययन से स्वामीजी के अंतःकरण में सच्चे आनंद का समुद्र उमँड़ने लगा, और मन में विश्व-प्रेम उमंगें मारने लगा। उनसे न रहा गया कि वह अकेले ही इस अमूल्य रत्न से आनंदित हों और दूसरों को इससे वंचित रक्खें, वरन् मारे आनंद के उनका आनंदित चित्त बड़े वेग से यों लहराने लगा कि इस अमूल्य ग्रंथ को शीघ्र मुद्रित कराकर सत्य के जिज्ञासुओं की भेंट किया जाय।

निजानन्द में निमग्न चित्त यों तरंगें उठा ही रहा था कि

और कातिब तथा प्रूफरीडर की असावधानी से कई वाक्य के वाक्य कहीं-कहीं आधे, कहीं उलट-पलट और कहीं बिलकुल अशुद्ध छप गये, और पुस्तक का कागज़ और लिखाई छपाई भी ऐसी भद्दी कि किसी का मन भी उसके पढ़ने की ओर आकर्षित न हो। जब यह पुस्तक ऐसी दुर्दशा से छपी हुई स्वामी राम के पास भेंट के स्वरूप में पहुंची, तो पुस्तक खोलते ही स्वामीजी के हृदय के तल तक आघात पहुंचा।

दिल ही तो है न संग व ख़िश्त, दर्द से भर न आए क्यों?

जब व्यास-आश्रम (बद्रीनारायण के मार्ग) में स्वामी जी को इसके दुबारा देखने और पढ़ने का संयोग हुआ, तो नारायण उस समय सेवा में उपस्थित था। लंबी आह (श्वास) भर कर स्वामी जी फ़रमाने लगे कि:—"हाय! इस अमूल्य रत्न का कैसा बुरा हाल और मुँह काला कर दिया गया है।" अर्थात् इतनी उत्तम पुस्तक और ऐसी अशुद्ध और भ्रष्ट छपाई से प्रकाशित हुई है कि प्रत्येक इसके अध्ययन से घृणा करने लग जाय और इससे कुछ लाभ उठाने के स्थान पर पाठक उलटा तंग आकर इसे वेस्ट पेपर बास्केट (रद्दी की टोकरी) में फेंक दे। ज्यों ज्यों स्वामी जी इस छपी प्रति को पढ़ते गए, त्यों त्यों (अशुद्ध) पृष्ठ और वाक्यों पर काली लकीरें मारते गए, और पृष्ठ के पृष्ठ बिलकुल अशुद्ध देख कर फाड़ते गए। अंततः जब अशुद्धियों पर लेखनी फेरते-फेरते थक गए या तंग आ गए, तो नारायण से यों सम्मुखीन हुए कि "देखो, इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ का गला घोंटा गया है, और प्रमाद और असावधानी से मरणोन्मुख या मरण प्राय कर दी गई है। क्या तुम में कोई या नारायण स्वयं इस बेचारी की फ़रियाद न सुनेगा?" राम की यह आज्ञा सुनते ही करबद्ध प्रार्थना की गई कि अवकाश

और कातिब तथा प्रूफरीडर की असावधानी से कई वाक्य के वाक्य कहीं-कहीं आधे, कहीं उलट-पलट और कहीं बिलकुल अशुद्ध छप गये, और पुस्तक का काग़ज़ और लिखाई छपाई भी ऐसी नहीं कि किसी का मन भी उसके पढ़ने की ओर आकर्षित न हो। जब यह पुस्तक ऐसी दुर्दशा से छपी हुई स्वामी राम के पास भेंट के स्वरूप में पहुंची, तो पुस्तक खोलते ही स्वामीजी के हृदय के तल तक आघात पहुंचा।

दिल ही तो है न संग व ख़िश्त, दर्द से भर न आए क्यों?

जब व्यास-आश्रम (बद्रीनारायण के मार्ग) में स्वामी जी को इसके दुबारा देखने और पढ़ने का संयोग हुआ, तो नारायण उस समय सेवा में उपस्थित था। लंबी आह (श्वास) भर कर स्वामी जी फ़रमाने लगे कि:—"हाय! इस अमूल्य रत्न का कैसा बुरा हाल और मुँह काला कर दिया गया है।" अर्थात् इतनी उत्तम पुस्तक और ऐसी अशुद्ध और भ्रष्ट छपाई से प्रकाशित हुई है कि प्रत्येक इसके अध्ययन से घृणा करने लग जाय और इससे कुछ लाभ उठाने के स्थान पर पाठक उल्टा तंग आकर इसे वेस्ट पेपर बास्केट (रद्दी की टोकरी) में फेंक दे। ज्यों ज्यों स्वामी जी इस छपी प्रति को पढ़ते गए, त्यों त्यों (अशुद्ध) पृष्ठ और वाक्यों पर काली लकीरें मारते गए, और पृष्ठ के पृष्ठ बिलकुल अशुद्ध देख कर फाड़ते गए। अंततः जब अशुद्धियों पर लेखनी फेरते-फेरते थक गए या तंग आ गए, तो नारायण से यों सम्मुखीन हुए कि "देखो, इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ का गला घोंटा गया है, और प्रमाद और असावधानी से मरणोन्मुख वा मरण प्राय कर दी गई है। क्या तुम में कोई या नारायण स्वयं इस बेचारी की फ़रियाद न सुनगा?" राम की यह आज्ञा, सुनते ही करबद्ध प्रार्थना की गई कि अवकाश

प्रार्थना की गई, जो तत्काल बड़े तपाक से स्वीकृत हुई, और दीवान साहब ने बड़े शौक से अपने निज के अध्ययन की प्रति प्रदान की, वरन् यहाँ तक सहायता की कि पुस्तक के प्रकाशित होने के पश्चात् संशोधन करना स्वीकार किया, ताकि यदि कोई अशुद्धि संयोग से रह जाय, तो अलग शुद्धाऽशुद्ध पत्र बनाकर उस में लगा दिया जाय। इस के अतिरिक्त उक्त दीवान साहब ने संकेत किया कि बाबा नगीनासिंह साहिब के अत्यंत सुयोग्य, वेदांत के पारदर्शी शिष्य, राय हरनरायण साहब, भूत पूर्व ऐकस्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब और वर्तमान होममिनिस्टर रियासत कश्मीर, जो बाबा साहब की नियमानुसार सत्संग और शिक्षा से गौरवान्वित और सुशोभित थे, और इस ग्रंथ के तत्व से भली भाँति अवगत थे, उन से इस ग्रंथ की भूमिका लिखवाई जाय। अतएव उन की सेवा में प्रार्थना की गई, और राय साहब ने सर-आंखों से भूमिका लिखने का वादा कर लिया। परंतु राय साहब अपनी नौकरी के भारी काममें कुछ ऐसे व्यतिव्यस्त (प्रवृत्त) रहे कि अनेक बार प्रार्थना करने पर भी साल-भर तक आप भूमिका न लिख सके, और १९१० ई० के आरंभ में आप से भूमिका और प्रस्तावना दोनों परिपूर्ण प्राप्त हुए।

इस ग्रंथ के संबंध में नारायण केवल इतनी प्रार्थना कर देना चाहता है कि अभी तक सारे जीवन में नारायण ने उर्दू-भाषा में वेदांत की पुस्तक इससे बढ़कर या इसके समान नहीं देखी, और न किसी उर्दू पुस्तक में उपनिषदों के तात्पर्य और अर्थ की व्याख्या ऐसी युक्ति पूर्ण, स्पष्ट और सुगम पाई, वरन् अपने निजी अनुभव से यह कहने को भी प्रस्तुत है कि जिस स्पष्टता के साथ ग्रंथ कर्ता ने

प्रार्थना की गई, जो तत्काल बड़े तपाक से स्वीकृत हुई, और दीवान साहब ने बड़े शौक से अपने निज के अध्ययन की प्रति प्रदान की, वरन् यहाँ तक सहायता की कि पुस्तक के प्रकाशित होने के पश्चात् संशोधन करना स्वीकार किया, ताकि यदि कोई अशुद्धि संयोग से रह जाय, तो अलग शुद्धाऽशुद्ध पत्र बनाकर उस में लगा दिया जाय। इस के अतिरिक्त उक्त दीवान साहब ने संकेत किया कि बाबा नगीनासिंह साहिब के अत्यंत सुयोग्य, वेदांत के पारदर्शी शिष्य, राय हरनरायण साहब, भूत पूर्व एकस्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब और वर्तमान होममिनिस्टर रियासत कश्मीर, जो बाबा साहब की नियमानुसार संत्संग और शिक्षा से गौरवान्वित और सुशोभित थे, और इस ग्रंथ के तत्व से भली भाँति अवगत थे, उन से इस ग्रंथ की भूमिका लिखवाई जाय। अतएव उन की सेवा में प्रार्थना की गई, और राय साहब ने सर-आंखों से भूमिका लिखने का वादा कर लिया। परंतु राय साहब अपनी नौकरी के भारी काममें कुछ ऐसे व्यतिव्यस्त (प्रवृत्त) रहे कि अनेक बार प्रार्थना करने पर भी साल-भर तक आप भूमिका न लिख सके, और १९१० ई० के आरंभ में आप से भूमिका और प्रस्तावना दोनों परिपूर्ण प्राप्त हुए।

इस ग्रंथ के संबंध में नारायण केवल इतनी प्रार्थना कर देना चाहता है कि अभी तक सारे जीवन में नारायण ने उर्दू-भाषा में वेदांत की पुस्तक इससे बढ़कर या इसके समान नहीं देखी, और न किसी उर्दू पुस्तक में उपनिषदों के तात्पर्य और अर्थ की व्याख्या ऐसी युक्ति पूर्ण, स्पष्ट और सुगम पाई, वरन् अपने निजी अनुभव से यह कहने को भी प्रस्तुत है कि जिस स्पष्टता के साथ ग्रंथ कर्ता ने

जिस-जिस उपनिषद् का और उसके जिस-जिस अध्यापक का ग्रंथ-कर्ता ने इस ग्रंथ में अनुवाद किया है, पाद-टिप्पणी में उसका पता (ठिकाना) भी दे दिया है, जिससे पाठकों को किसी प्रकार कठिनता प्रतीत न हो।

फलतः ग्रंथ यथाशक्ति उत्तम तैयार हुआ है, और ग्रंथ के विषय-प्रबंध अत्यंत ही मनोरंजक और देखने-योग्य हैं। विशेषतः द्वितीय कांड अर्थात् ज्ञानकांड तो मानो मोतियों की एक लड़ी है, और यह बहुमूल्य मोती ग्रंथकर्ता ने अपने विचारों की तार में सिलसिले वार ऐसे पिरोए हुए हैं कि एक से एक बढ़कर अपना रंग दिखाते और मन को प्रकाशित करते हुए पाठकों के अंतः करण के तल तक अपना आतंक जमाते हैं, और जिज्ञासु को पूर्ण ज्ञानी और ज्ञानी को अपने निजानंद में निमग्न और लीन कर देते हैं। संक्षेप से ऐसे कि यह ग्रंथ श्रवण, मनन और निदिध्यासन के लिये यथेष्ट सहायक और साधन (द्वार) है। जो इसे ध्यान देकर पढ़ेगा, अपने अनुभव से आप ही साक्ष्य देगा।

अंत में नारायण उन उपर्युक्त महानुभावों का कि जिन्होंने इस लाभ दायक ग्रंथ के प्रकाशन में तन मन से सहायता की है, अंतः करण से धन्यवाद अर्पण करता है, और आशीर्वाद देता है कि ऐसी उत्तम और लाभदायक पुस्तक फले-फूले अर्थात् दिन दुगनी और रात चौगुनी उन्नति पावे। और इस के पढ़ने वालों के हृदय हरे भरे हों, और इस के अध्ययन की सहायता से पढ़ने वालों के हृदयकमल खिलें, और उनके व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव की प्रभावशालिनी गंध से दूसरे लाभान्वित हों। तथास्तु

दिसंबर, १९०६] आर० एस० नारायण स्वामी

जिस-जिस उपनिषद् का और उसके जिस-जिस अध्यापक का ग्रंथ-कर्ता ने इस ग्रंथ में अनुवाद किया है, पाद-टिप्पणी में उसका पता (ठिकाना) भी दे दिया है, जिससे पाठकों को किसी प्रकार कठिनता प्रतीत न हो।

फलतः ग्रंथ यथाशक्ति उत्तम तैयार हुआ है, और ग्रंथ के विषय-प्रबंध अत्यंत ही मनोरंजक और देखने-योग्य हैं। विशेषतः द्वितीय कांड अर्थात् ज्ञानकांड तो मानो मोतियों की एक लड़ी है, और यह बहुमूल्य मोती ग्रंथकर्त्ता ने अपने विचारों की तार में सिलसिले वार ऐसे पिरोए हुए हैं कि एक से एक बढ़कर अपना रंग दिखाते और मन को प्रकाशित करते हुए पाठकों के अंतः करण के तल तक अपना आतंक जमाते हैं, और जिज्ञासु को पूर्ण ज्ञानी और ज्ञानी को अपने निजानंद में निमग्न और लीन कर देते हैं। संक्षेप से ऐसे कि यह ग्रंथ श्रवण, मनन और निदिध्यासन के लिये यथेष्ट सहायक और साधन (द्वार) है। जो इसे ध्यान देकर पढ़ेगा, अपने अनुभव से आप ही साक्ष्य देगा।

अंत में नारायण उन उपर्युक्त महानुभावों का कि जिन्होंने इस लाभ दायक ग्रंथ के प्रकाशन में तन मन से सहायता की है, अंतः करण से धन्यवाद अर्पण करता है, और आशीर्वाद देता है कि ऐसी उत्तम और लाभदायक पुस्तक फले-फूले अर्थात् दिन दुगनी और रात चौगुनी उन्नति पाये। और इस के पढ़ने वालों के हृदय हरे भरे हों, और इस के अध्ययन की सहायता से पढ़ने वालों के हृदयकमल खिलें, और उनके व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव की प्रभावशालिनी गंध से दूसरे लाभान्वित हों। तथास्तु

दिसंबर, १९०६] आर० एस० नारायण स्वामी

स्फुट या स्पष्ट किया जाय जिस से यह ग्रंथ सत्य के जिज्ञासुओं को अधिक उपयोगी हो सके।

पूर्व संस्करण केवल चंदों से प्रकाशित हुआ था अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के विशेष धन से छपने नहीं पाया था, इस लिये केवल लागत-मूल्य पर वितरण किया गया था। न किसी प्रकार की आर्थिक आय के विचार पर दृष्टि थी और न किसी चंदा-दाता ने, सिवाय मास्टर अमीरचंद के, उसको बेचा था, वरन् जितनी-जितनी प्रतियाँ उनके चंदे की रकम (संख्या) के अनुसार चंदा दाताओं के भाग में आईं, उन सबने, बेचने के स्थान पर, उन्हें अधिकारी महानुभावों में वितरण कर दिया था। केवल मास्टर अमीरचंद के भाग में जितनी प्रतियाँ आईं थीं, उन्हों ने उन महानुभावों के लिये बेचने को रख छोड़ी थीं कि जो मूल्य व्यय करके और किसी से मुफ्त लेकर नहीं किताब पढ़ना चाहते है। तो भी उन्होंने केवल लागत मूल्यपर ही कापियाँ बेची थीं, और आधी के लगभग कापियाँ भेंट के रूप में अधिकारी जिज्ञासुओं में भी वितरण की थीं। इस लिये अगले संस्करण के लिये इस ग्रंथ का कोई फंड नियत होने न पाया। जब पूर्व संस्करण की सब प्रतियाँ समाप्त हो गईं, सत्य के जिज्ञासुओं के भीतर इस की चाह की आग भड़क उठी, और प्रार्थनाओं पर प्रार्थनाएँ आनी आरंभ होगई। (वरन् कुछ महीनों के भीतर-भीतर जब लग भग तीन सौ नई प्रार्थनाएँ प्राप्त हुई और ग्रंथाभिलाषियों की निरंतर प्रेरणाओं और पत्रों ने नाक में दम कर दिया), तो लेखक को और सब कामों से विरत होना पड़ा और अपने सम्माननीय गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी राम की उर्दू 'कुल्लयात' के भारी काम को बीच में छोड़ कर पहले इधर

स्फुट वा स्पष्ट किया जाय जिस से यह ग्रंथ सत्य के जिज्ञासुओं को अधिक उपयोगी हो सके।

पूर्व संस्करण केवल चंदों से प्रकाशित हुआ था अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के विशेष धन से छपने नहीं पाया था, इस लिये केवल लागत-मूल्य पर वितरण किया गया था। न किसी प्रकार की आर्थिक आय के विचार पर दृष्टि थी और न किसी चंदा-दाता ने, सिवाय मास्टर अमीरचंद के, उसको बेचा था, वरन् जितनी-जितनी प्रतियाँ उनके चंदे की रकम (संख्या) के अनुसार चंदा दाताओं के भाग में आईं, उन सबने, बेचने के स्थान पर, उन्हें अधिकारी महानुभावों में वितरण कर दिया था। केवल मास्टर अमीरचंद के भाग में जितनी प्रतियाँ आईं थीं, उन्हों ने उन महानुभावों के लिये बेचने को रख छोड़ी थीं कि जो मूल्य व्यय करके और किसी से मुफ्त लेकर नहीं किताब पढ़ना चाहते हैं। तो भी उन्होंने केवल लागत मूल्यपर ही कापियाँ बेची थीं, और आधी के लगभग कापियाँ भेंट के रूप में अधिकारी जिज्ञासुओं में भी वितरण की थीं। इस लिये अगले संस्करण के लिये इस ग्रंथ का कोई फंड नियत होने न पाया। जब पूर्व संस्करण की सब प्रतियाँ समाप्त हो गईं, सत्य के जिज्ञासुओं के भीतर इस की चाह की आग भड़क उठी, और प्रार्थनाओं पर प्रार्थनाएँ आनी आरंभ होगईं। (वरन् कुछ महीनों के भीतर-भीतर जब लग भग तीन सौ नई प्रार्थनाएँ प्राप्त हुईं और ग्रंथाभिलाषियों की निरंतर प्रेरणाओं और पत्रों ने नाक में दम कर दिया), तो लेखक को और सब कामों से विरत होना पड़ा और अपने सम्माननीय गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी राम की उर्दू कुल्लियात के भारी काम को बीच में छोड़ कर पहले इधर

ने इस ग्रन्थके भाषा-विन्यास आदि का काम (अपने जीवन ही में) इनको ही सौंपा था, जो दुर्भाग्य से उस समय न हो सका था, और आज ठीक २२ वर्ष के बाद इनकी ही लेखनी से हो गया। इस बड़े परिवर्तन के अतिरिक्त शेष सब परिवर्तन और परिवर्द्धन का उत्तरदाता लेखक स्वयं है। जहाँ तक हो सका है, केवल शब्दों और भाषा के क्रम को ठीक किया गया है जिससे तात्पर्य और विचार साफ स्पष्ट हो जाय, और कहीं भी विचार-शृंखला या तात्पर्य बिगड़ने न पाए; परन्तु अपनी ओर से ग्रंथलेखक के विचार या तात्पर्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, और न भाषा के शब्द ही बहुत घटाए-बढ़ाए गए हैं, अर्थात् केवल मोटी दुरुस्ती हुई है, महीन नहीं। हाँ, यदि सत्य के जिज्ञासुओं ने इस मोटे सुधार और भाषा-विन्यास को पसंद किया और हार्दिक सहानुभूति की, तो आशा है कि भविष्य संस्करण में और भी अधिक साफ़ और सरल भाषा की जायगी जिससे पढ़ने वाले को ग्रंथ के समझने में अधिक सुविधा मिल सके।

ग्रंथ के संशोधन का भारी काम समाप्त होने के पश्चात् इसके छपवाने का विचार सर पर सवार हुआ। पहली बार तो यह बिलकुल अप्रसिद्ध वरन् अज्ञात और हस्त-लिखित प्रति होने के कारण कोई अकेला प्यारा इसके छपवाने के व्यय का सारा भार अपने सिर पर लेने को तैयार नहीं होता था। इसलिये कुछ परचित प्यारों के चंदे की सहायता से इसे प्रकाशित किया गया था। मगर अब तो यह हस्त-लिखित प्रति लोगों के हाथोंमें पहुंच चुकी थी, और सत्य के जिज्ञासुओं को इसकी उपयोगिता ज्ञात हो चुकी थी, और सैकड़ों महाशयों की प्रार्थनाओं के उत्तर में यह स्पष्ट लिखा भी गया था कि ग्रंथ का संशोधन हो रहा है। इसके

ने इस ग्रन्थके भाषा-विन्यास आदि का काम (अपने जीवन ही में) उनको ही सौंपा था, जो दुर्भाग्य से उस समय न हो सका था, और आज ठीक २२ वर्ष के बाद उनकी ही लेखनी से हो गया। इस बड़े परिवर्तन के अतिरिक्त शेष सब परिवर्तन और परिवर्द्धन का उत्तरदाता लेखक स्वयं है। जहाँ तक हो सका है, केवल शब्दों और भाषा के क्रम को ठीक किया गया है जिससे तात्पर्य और विचार साफ स्पष्ट हो जाय, और कहीं भी विचार-शृंखला या तात्पर्य बिगड़ने न पाए; परन्तु अपनी ओर से ग्रंथलेखक के विचार या तात्पर्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, और न भाषा के शब्द ही बहुत घटाए-बढ़ाए गए हैं, अर्थात् केवल मोटी दुरुस्ती हुई है, महीन नहीं। हाँ, यदि सत्य के जिज्ञासुओं ने इस मोटे सुधार और भाषा-विन्यास को पसंद किया और हार्दिक सहानुभूति की, तो आशा है कि भविष्य संस्करण में और भी अधिक साफ़ और सरल भाषा की जायगी जिससे पढ़ने वाले को ग्रंथ के समझने में अधिक सुविधा मिल सके।

ग्रंथ के संशोधन का भारी काम समाप्त होने के पश्चात् इसके छपवाने का विचार सर पर सवार हुआ। पहली बार तो यह बिलकुल अप्रसिद्ध वरन् अज्ञात और हस्त-लिखित प्रति होने के कारण कोई अकेला प्यारा इसके छपवाने के व्यय का सारा भार अपने सिर पर लेने को तैयार नहीं होता था। इसलिये कुछ परचित प्यारों के चंदे की सहायता से इसे प्रकाशित किया गया था। मगर अब तो यह हस्त-लिखित प्रति लोगों के हाथोंमें पहुंच चुकी थी, और सत्य के जिज्ञासुओं को इसकी उपयोगिता ज्ञात हो चुकी थी, और सैकड़ों महाशयों की प्रार्थनाओं के उत्तर में यह स्पष्ट लिखा भी गया था कि ग्रंथ का संशोधन हो रहा है। इसके

दूसरे संस्करण की भूमिका

[राय हरनारायण साहब होम मिनिस्टर रियासत कश्मीर और सुप्रसिद्ध शिष्य आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब की लेखनी से ता० २१ दिसंबर १९०९ ई०]

मुझ को इस बात का अभिमान प्राप्त है कि मैंने इस ग्रंथ के लेखक बाबा नगीनासिंह साहब आत्मदर्शी के चरणों में बैठकर उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त की थी। बाबा साहब रियासत कपूर्थला के फगवाड़ा ग्राम में वेदी खत्रियों के वंश में, सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक जी की तेरहवीं पीढ़ी में सं० १८६१ विक्रमी में उत्पन्न हुए और आश्विन सं० १९५८ विक्रमी तदनुसार अक्तूबर १९०२ ई० में पंचभौतिक शरीर को त्यागकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हुए। आरंभिक आयु में उनके पूज्य पिताजी ने उनको फ़ारसी और अरबी-विद्या की शिक्षा के वास्ते उन्हें एक मौलवी साहब के सुपुर्द किया। तीव्र बुद्धि के कारण छोटी आयु में ही कुरान मजीद और उस की तफ़सीर (भाष्य) को भली भाँति अध्ययन किया। मौलवी साहब ने इसलाम-धर्म के सिद्धांतों को बाबा साहिब के दिल में पूरी तरह से जमा दिया और मूर्ति पूजा की ओर उन के हृदय में घृणा उत्पन्न करा दी थी। बाबाजी को पूर्ण निश्चय होगया कि हिंदू-धर्म ईश्वरप्राप्ति कराने में असंपूर्ण (दोष युक्त) है, और बिना मोहम्मद साहब की सफारश (अनुग्रह) के मुक्ति का मिलना असंभव है। इस लिये वह शिक्षा काल में ही मौलवी साहब के वश में आगए, और इसलाम-

दूसरे संस्करण की भूमिका

[राय हरनारायण साहब होम मिनिस्टर रियासत कश्मीर और सुप्रसिद्ध शिष्य आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब की लेखनी से ता० २१ दिसंबर १९०९ ई०]

"मुझ को इस बात का अभिमान प्राप्त है कि मैंने इस ग्रंथ के लेखक बाबा नगीनासिंह साहब आत्मदर्शी के चरणों में बैठकर उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त की थी। बाबा साहब रियासत कपूर्थला के फगवाड़ा ग्राम में वेदी खत्रियों के वंश में, सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक जी की तेरहवीं पीढ़ी में सं० १८६१ विक्रमी में उत्पन्न हुए और आश्विन सं० १९५८ विक्रमी तदनुसार अक्तूबर १९०२ ई० में पंचभौतिक शरीर को त्यागकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हुए। आरंभिक आयु में उनके पूज्य पिताजी ने उनको फ़ारसी और अरबी-विद्या की शिक्षा के वास्ते उन्हें एक मौलवी साहब के सुपुर्द किया। तीव्र बुद्धि के कारण छोटी आयु में ही क़ुरान मजीद और उस की तफ़सीर (भाष्य) को भली भाँति अध्ययन किया। मौलवी साहब ने इसलाम-धर्म के सिद्धांतों को बाबा साहिब के दिल में पूरी तरह से जमा दिया और मूर्ति पूजा की ओर उनके हृदय में घृणा उत्पन्न करा दी थी। बाबाजी को पूर्ण निश्चय होगया कि हिंदू-धर्म ईश्वरप्राप्ति कराने में असंपूर्ण (दोष युक्त) है, और बिना मोहम्मद साहब की सफारश (अनुग्रह) के मुक्ति का मिलना असंभव है। इस लिये वह शिक्षा काल में ही मौलवी साहब के वश में आगए, और इसलाम-

स्वामी जी ने बाबा साहब के पिता जी से कहा कि यदि वह बाबा जी को उन के पास कुछ काल के लिए छोड़ दें, तो आशा है कि यह बाबा साहब को नियमानुसार शास्त्रीय शिक्षा देकर धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार वेदों को सिखला-देंगे। स्वामी जी ने यह भी कहा कि यदि इस के बाद भी बाबा साहब अपना हठ (आग्रह) न छोड़ेंगे, तो उस दशा में उनको तंग करना उचित न होगा, वरन् उनको महम्मदीय धर्म ग्रहण करने की आज्ञा देनी उचित होगी। बाबा साहब के पूज्य पिता जी ने इस बात को स्वीकार करके उनको स्वामी जी के सुपुर्द कर दिया, और स्वामी जी ने वात्सल्य-भाव से बाबाजी को अपने पास रख कर पहले संस्कृत के अक्षर सिखलाए, फिर थोड़ा-सा व्याकरण पढ़ाकर उपनिषदों का अभ्यास कराना आरंभ किया। बाबा साहब की तीव्र बुद्धि की प्रशंसा पहले ही की जा चुकी है कि वह बड़े सूक्ष्म दर्शी, बोधिसत्व और प्रत्युत्पन्नमति थे। पूर्वजन्म के संस्कार उनके बलवान् थे और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में केवल क्षणिक आवरण शेष था जो थोड़े ही काल में दूर होगया। उनमें विवेक की शक्ति बढ़ गई, और स्वामी जी की कृपा से वह तत्ववेत्ता हो गए। अब जो विचार वैदिक धर्म के विरुद्ध उनको घेरे हुए थे, वे उपनिषदों के वेदांत-दर्शन की आंधी के आगे धुएँ के बादलों की तरह उड़ गए, और बाबा साहब ने उन विरोधी विचारों का खंडन स्वयं करना आरंभ कर दिया। इस के बाद स्वामी जी ने बाबा साहब को उन के पूज्य पिता जी के पास भेज दिया जिन्हों ने शास्त्रीय पद्धति के अनुसार बाबा साहब का प्रायश्चित्त कराकर उनको अपने परिवार में सम्मिलित कर लिया। दीवान रामजस साहब सी० एस० आई० रियासत कपूरथला के महामंत्री ने

स्वामी जी ने बावा साहब के पिता जी से कहा कि यदि वह बावा जी को उन के पास कुछ काल के लिए छोड़ दें, तो आशा है कि यह बावा साहब को नियमानुसार शास्त्रीय शिक्षा देकर धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार वेदों को सिखला-देंगे। स्वामी जी ने यह भी कहा कि यदि इस के बाद भी बावा साहब अपना हठ (आग्रह) न छोड़ेंगे, तो उस दशा में उनको तंग करना उचित न होगा, वरन् उनको महम्मदीय धर्म ग्रहण करने की आज्ञा देनी उचित होगी। बावा साहब के पूज्य पिता जी ने इस बात को स्वीकार करके उनको स्वामी जी के सुपुर्द कर दिया, और स्वामी जी ने वात्सल्य-भाव से बावाजी को अपने पास रख कर पहले संस्कृत के अक्षर सिखलाए, फिर थोड़ा-सा व्याकरण पढ़ाकर उपनिषदों का अभ्यास कराना आरंभ किया। बावा साहब की तीव्र बुद्धि की प्रशंसा पहले ही की जा चुकी है कि वह बड़े सूक्ष्म दर्शी, बोधिसत्व और प्रत्युत्पन्नमति थे। पूर्वजन्म के संस्कार उनके बलवान् थे और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में केवल क्षणिक आवरण शेष था जो थोड़े ही काल में दूर होगया। उनमें विवेक की शक्ति बढ़ गई, और स्वामी जी की कृपा से वह तत्ववेत्ता हो गए। अब जो विचार वैदिक धर्म के विरुद्ध उनको घेरे हुए थे, वे उपनिषदों के वेदांत-दर्शन की आंधी के आगे धुएँ के बादलों की तरह उड़ गए, और बावा साहब ने उन विरोधी विचारों का खंडन स्वयं करना आरंभ कर दिया। इस के बाद स्वामी जी ने बावा साहब को उन के पूज्य पिता जी के पास भेज दिया जिन्हों ने शास्त्रीय पद्धति के अनुसार बावा साहब का प्रायश्चित्त कराकर उनको अपने परिवार में सम्मिलित कर लिया। दीवान रामजस साहब सी० एस० आई० रियासत कपूरथला के महामंत्री ने

उनके पास बहस के लिये और उनकी बोध-पूर्ण वक्तृता सुनने के लिये आया करते थे। यदि उनके समस्त भाषणों को एकत्रित किया जाय, तो कई जिल्दों में भी उन का लेखनी-बद्ध होना कठिन प्रतीत होता है। बाबा साहब के रचित कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिन से उन की योग्यता और वर्णन-शक्ति का परिचय मिल सकता है। बाबा साहब वेदांत-शास्त्र के पूर्ण आचार्य थे, और उपनिषदों के रहस्य से पूर्ण अभिज्ञ थे। और वेदांत-शास्त्र को पढ़ाने की उन में विशेष योग्यता थी। जिस समय वह अपने शिष्यों को उपनिषदों की शिक्षा देते थे, उस समय उन के हृदयोद्वेग और विचारागमन (ख्याल के बहाव) की एक विचित्र दशा होती थी। कठिन से कठिन रहस्य को भी वह अत्यन्त सरल शैली से या कथा-कहानी के रूप में वर्णन करके शिष्यों के हृदय में पूर्ण-रूप से उस का चित्र अंकित कर देते थे। बाबा साहब ने सन् १८६१ ई० में मुझको इस "वेदानुवचन" के पढ़ने के लिये आज्ञा दी थी, और इच्छा प्रकट की थी कि इस की भाषा को छपने से पूर्व देख लिया जाय। परन्तु शोक कि उस समय सरकारी नौकरी के कामों की अधिकता के कारण मैं उन की आज्ञा का पालन न कर सका। पहली बार इस ग्रंथ का प्रकाशन बाबू हरलाल साहब ने लाहौर में करने का इरादा किया, और लाला हरीचन्द साहब रियासत कपूर्थला के दीवान ने जो कि बाबा साहब के अनुयायी थे, मुझको इस की प्रस्तावना लिखने को कहा था; किंतु बिना प्रस्तावना की प्रतीक्षा किये बाबू हरलाल ने इस अनमोल ग्रन्थ को संस्कृत भाषा के शब्दों की शुद्धि के बिना ही, (जो कि उर्दू में लिखे होने से ठीक पढ़े नहीं जाते थे) छपवा दिया। अब श्री नारायण स्वामी जी साहब ने इस को दुबारा

इनके पास बहस के लिये और उनकी बोध-पूर्ण वक्तृता सुनने के लिये आया करते थे। यदि उनके समस्त भाषणों को एकत्रित किया जाय, तो कई जिल्दों में भी उन का लेखनी-बद्ध होना कठिन प्रतीत होता है। बाबा साहब के रचित कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिन से उन की योग्यता और वर्णन-शक्ति का परिचय मिल सकता है। बाबा साहब वेदांत-शास्त्र के पूर्ण आचार्य थे, और उपनिषदों के रहस्य से पूर्ण अभिज्ञ थे। और वेदांत-शास्त्र को पढ़ाने की उन में विशेष योग्यता थी। जिस समय वह अपने शिष्यों को उपनिषदों की शिक्षा देते थे, उस समय उन के हृदयोद्वेग और विचारागमन (खयाल के बहाव) की एक विचित्र दशा होती थी। कठिन से कठिन रहस्य को भी वह अत्यन्त सरल शैली से या कथा-कहानी के रूप में वर्णन करके शिष्यों के हृदय में पूर्ण-रूप से उस का चित्र अंकित कर देते थे। बाबा साहब ने सन् १८९१ ई० में मुझको इस "वेदानुवचन" के पढ़ने के लिये आज्ञा दी थी, और इच्छा प्रकट की थी कि इस की भाषा को छपने से पूर्व देख लिया जाय। परन्तु शोक कि उस समय सरकारी नौकरी के कामों की अधिकता के कारण मैं उन की आज्ञा का पालन न कर सका। पहली बार इस ग्रंथ का प्रकाशन बाबू हरलाल साहब ने लाहौर में करने का इरादा किया, और लाला हरीचन्द साहब रियासत कपूर्थला के दीवान ने जो कि बाबा साहब के अनुयायी थे, मुझको इस की प्रस्तावना लिखने को कहा था; किंतु विना प्रस्तावना की प्रतीक्षा किये बाबू हरलाल ने इस अनमोल ग्रन्थ को संस्कृत भाषा के शब्दों की शुद्धि के विना ही, (जो कि उर्दू में लिखे होने से ठीक पढ़े नहीं जाते थे) छपवा दिया। अब श्री नारायण स्वामी जी साहब ने इस को दुबारा

तीसरे संस्करण की भूमिका।

[राय हरनारायण साहब भूतपूर्व होम मिनिस्टर रियासत कश्मीर और वर्तमान एक्सट्रा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब, तथा स्वर्गीय सुयोग्य शिष्य आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब, की लेखनी से]

अत्यन्त हर्ष का स्थान है कि "वेदानुवचन" का दूसरा संस्करण हाथों हाथ बिक गया और तीसरे संस्करण की बड़ी आवश्यकता मान (महसूस) हो रही है। यद्यपि दूसरे संस्करण में श्री स्वामी नारायण जी ने ग्रंथ की अशुद्धियों ही के सुधार करने का बड़ा प्रयत्न और परिश्रम किया, तो भी अशुद्धियां कुछ रह गईं, और कुछ वाक्य निरर्थक तथा अस्पष्ट प्रतीत होते थे, क्योंकि कुछ शब्द या तो लिखने में रह गए थे या प्राप्त हस्त-लिखित प्रति में अशुद्ध नक़ल किए हुए थे। स्वामी नारायण जी ने इस ग्रंथ के संशोधन का भार मुझे दिया और उनकी आज्ञा के अनुसार स्वर्गीय बाबा साहब के पुत्र बाबा देवराज जी से प्रार्थना की गई कि वह बाबा साहब के करकमलों से लिखे हुए काग़ज़ों की खोज करें जिससे वेदानुवचन की मौलिक-प्रति, जो बाबा साहब के कर कमलों से लिखी गई हो, प्राप्त होजाय। पाठकों को यह ज्ञात करके आनंद होगा कि इस प्रयत्न में कुछ सफलता हुई। बाबा देवराज और उनकी माताजी को धन्यवाद अर्पण किया जाता है कि उन्हों ने असल लेख मेरे सुपुर्द कर दिए और उनमें एक भाग वेदानुवचन का भी बाबा साहब की लेखनी का मिल गया। इस हस्तलिखित कापी की सहायता से बहुत-सी अशुद्धियाँ ठीक की गईं,

तीसरे संस्करण की भूमिका।

[राय हरनारायण साहब भूतपूर्व होम मिनिस्टर रियासत कश्मीर और वर्तमान इक्सट्रा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब, तथा स्वर्गीय सुयोग्य शिष्य आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब, की लेखनी से]

अत्यन्त हर्ष का स्थान है कि "वेदानुवचन" का दूसरा संस्करण हाथों हाथ बिक गया और तीसरे संस्करण की बड़ी आवश्यकता भान (महसूस) हो रही है। यद्यपि दूसरे संस्करण में श्री स्वामी नारायण जी ने ग्रंथ की अशुद्धियों ही के सुधार करने का बड़ा प्रयत्न और परिश्रम किया, तो भी अशुद्धियां कुछ रह गई, और कुछ वाक्य निरर्थक तथा अस्पष्ट प्रतीत होते थे, क्योंकि कुछ शब्द या तो लिखने में रह गए थे या प्राप्त हस्त-लिखित प्रति में अशुद्ध नक़ल किए हुए थे। स्वामी नारायण जी ने इस ग्रंथ के संशोधन का भार मुझे दिया और उनकी आज्ञा के अनुसार स्वर्गीय बाबा साहब के पुत्र बाबा देवराज जी से प्रार्थना की गई कि वह बाबा साहब के करकमलों से लिखे हुए काग़ज़ों की खोज करें जिससे वेदानुवचन की मौलिक-प्रति, जो बाबा साहब के कर कमलों से लिखी गई हो, प्राप्त होजाय। पाठकों को यह ज्ञात करके आनंद होगा कि इस प्रयत्न में कुछ सफलता हुई। बाबा देवराज और उनकी माताजी को धन्यवाद अर्पण किया जाता है कि उन्हों ने असल लेख मेरे सुपुर्द कर दिए और उनमें एक भाग वेदानुवचन का भी बाबा साहब की लेखनी का मिल गया। इस हस्तलिखित कापी की सहायता से बहुत-सी अशुद्धियाँ ठीक की गई,

मुक्ति प्रदान करें। मुझको भी आशीर्वाद पूर्वक स्मरण किया करना। शुभमस्तु। ॐ सच्चिदानंद परमात्मने नमः।"
आशा है कि बाबा साहब की रचनाएँ और आशीर्वाद अपना लाभदायक प्रभाव उत्पन्न किए बिना नहीं रहेंगी। ॐ शम्

जालंधर
२३ अप्रैल १९१३ } हरनारायण,

शुद्धि प्रदान करें। मुझको भी आशीर्वाद पूर्वक स्मरण किया करना। शुभमस्तु। ॐ सच्चिदानंद परमात्मने नमः।"

आशा है कि बाबा साहब की रचनाएँ और आशीर्वाद अपना लाभदायक प्रभाव उत्पन्न किए बिना नहीं रहेंगी। ॐ शम्

जालंधर
२३ अप्रैल १९१३ } हरनारायण,

जो आत्मा से भिन्न अर्थात् अज्ञान का अनादि परदा पड़ा हुआ है, गुरु के वाक्य से दूर हो जाता है और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का हेतु होता है। उसका उदाहरण बुद्धिमान् लोग इस प्रकार देते हैं कि जैसे एक कलईदार मैला शीशा आपके सम्मुख पड़ा है, परन्तु मलिन होने के कारण आप उसमें अपना मुख नहीं देख सकते, किंतु यदि किसी प्रकार से उस मैल को उतार दिया जाय, तो फिर स्वच्छ दर्पण चेहरे का प्रतिबिंब दिखलाने के योग्य हो जाता है, किंतु साथ ही इसके यदि इस स्वच्छ दर्पण को निरन्तर हिलाया या चेष्टावान् किया जाय और मुख के आगे ठहरने न दिया जाय, तो उसमें स्पष्ट प्रतिबिंब नहीं पड़ता और मनुष्य अपने मुखचिह्न को स्पष्ट नहीं देख सकता। किंतु जब स्वच्छ दर्पण को चेहरे के सामने बिना हिलाये डुलाये के रख दिया जाय, तो उसमें चेहरा साफ़ दिखाई देता है। तो भी अज्ञान के कारण इस बात का विश्वास नहीं होता कि जो प्रतिबिंब शीशे में दिखाई दे रहा है, वह देखनेवाले का ही ठीक स्वरूप है। ऐसे अवसर पर बुद्धिमान् पुरुष उस नासमझ को, जो अपना ही प्रतिबिंब देखकर आश्चर्यवान् हो रहा है और उसको अन्य समझता है, इस प्रकार प्रबुद्ध करता है कि जो दर्पण में तू देख रहा है, वह तेरा ही स्वरूप है, तुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं; और उसके एक-एक मुख-चिह्नों और गतियों को उस प्रतिबिंब में दिखाकर यह निश्चय करा देता है कि उस प्रतिबिंब और तेरे स्वरूप में कोई अंतर नहीं, वरन् वे दोनों एक ही हैं। तब ना समझी का परदा दूर हो जाता है और वह व्यक्ति कहने लगता है कि "हाँ मैं अब समझ गया कि जो प्रतिबिंब मुझको दर्पण में दिखाई देता है, वह स्वयं मेरा ही स्वरूप है, मुझ से भिन्न नहीं।

जो आत्मा से भिन्न अर्थात् अज्ञान का अनादि परदा पड़ा हुआ है, गुरु के वाक्य से दूर हो जाता है और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का हेतु होता है। उसका उदाहरण बुद्धिमान् लोग इस प्रकार देते हैं कि जैसे एक कलईदार मैला शीशा आपके सम्मुख पड़ा है, परन्तु मलिन होने के कारण आप उसमें अपना मुख नहीं देख सकते, किंतु यदि किसी प्रकार से उस मैल को उतार दिया जाय, तो फिर स्वच्छ दर्पण चेहरे का प्रतिबिंब दिखलाने के योग्य हो जाता है, किंतु साथ ही इसके यदि इस स्वच्छ दर्पण को निरन्तर हिलाया या चेष्टावान् किया जाय और मुख के आगे ठहरने न दिया जाय, तो उसमें स्पष्ट प्रतिबिंब नहीं पड़ता और मनुष्य अपने मुखचिह्न को स्पष्ट नहीं देख सकता। किंतु जब स्वच्छ दर्पण को चेहरे के सामने विना हिलाये डुलाये के रख दिया जाय, तो उसमें चेहरा साफ़ दिखाई देता है। तो भी अज्ञान के कारण इस बात का विश्वास नहीं होता कि जो प्रतिबिंब शीशे में दिखाई दे रहा है, वह देखनेवाले का ही ठीक स्वरूप है। ऐसे अवसर पर बुद्धिमान् पुरुष उस नासमझ को, जो अपना ही प्रतिबिंब देखकर आश्चर्यवान् हो रहा है और उसको अन्य समझता है, इस प्रकार प्रबुद्ध करता है कि जो दर्पण में तू देख रहा है, वह तेरा ही स्वरूप है, तुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं; और उसके एक-एक मुख-चिह्नों और गतियों को उस प्रतिबिंब में दिखाकर यह निश्चय करा देता है कि उस प्रतिबिंब और तेरे स्वरूप में कोई अंतर नहीं, वरन् वे दोनों एक ही हैं। तब ना समझी का परदा दूर हो जाता है और वह व्यक्ति कहने लगता है कि "हाँ मैं अब समझ गया कि जो प्रतिबिंब मुझको दर्पण में दिखाई देता है, वह स्वयं मेरा ही स्वरूप है, मुझ से भिन्न नहीं।

वेद के दो भाग गिने जाते हैं, एक कर्म-कांड, दूसरा ज्ञानकांड, क्योंकि उपासना-कांड ज्ञानकांड के भीतर ही समझा जाता है। वेद और उपनिषदों में प्रथम कर्मकांड का वर्णन किया गया है, और अंतिम भाग में ज्ञान का। ज्ञान का उपदेश प्रायः वेदों के अंतिम भाग में होने के कारण ज्ञान-कांड को वेदांत अर्थात् वेद का अंतिम भाग भी कहा जाता है।

वेदों की शिक्षा के अनुसार बाबा नगीनासिंह साहब आत्मदर्शी ने अपनी इस पुस्तक "वेदानुवचन" में पहले कर्मकांड की शिक्षा दी है और बाद में ज्ञान का उपदेश दिया है। कर्मकांड में दिखलाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार उत्पन्न होता है, और किन शुभकर्मों के करने से देवता बन जाता है, और किन कुकर्मों के कारण नरक में जाता करता है। उपनिषदों में, जिनका अनुवाद बाबा साहब ने वेदानुवचन में किया है, इस प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार बयान किया है कि मनुष्य अपनी प्रवृत्ति और भावना के अनुसार कर्मों को करता है, मृत्यु के समय जीव आत्मा मानवी शरीर को, जो उसका निवास-स्थान था, त्याग देता है। किंतु यह त्यागपूर्ण त्याग नहीं होता। जीवन में जीव-आत्मा अपने आपको शरीर से पृथक नहीं समझता और शरीर के भीतर अपना विशेष संबंध मस्तिष्क से रखता है। मस्तिष्क इसका सिंहासन है जहाँ यह विराजमान होकर सब प्रकार का प्रबंध करता है। जिस समय मनुष्य के प्राणों का वियोग होता है और प्राणों का गमनागमन बंद हो जाता है; उस समय संसार के लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया, किंतु जीव-आत्मा उस देह से जिसको जीवन में न केवल अपना निवास-स्थान वरन् अपना

वेद के दो भाग गिने जाते हैं, एक कर्म-कांड, दूसरा ज्ञानकांड, क्योंकि उपासना-कांड ज्ञानकांड के भीतर ही समझा जाता है। वेद और उपनिषदों में प्रथम कर्मकांड का वर्णन किया गया है, और अंतिम भाग में ज्ञान का। ज्ञान का उपदेश प्रायः वेदों के अंतिम भाग में होने के कारण ज्ञान-कांड को वेदांत अर्थात् वेद का अंतिम भाग भी कहा जाता है।

वेदों की शिक्षा के अनुसार बाबा नगीनासिंह साहब आत्मदर्शी ने अपनी इस पुस्तक "वेदानुवचन" में पहले कर्मकांड की शिक्षा दी है और बाद में ज्ञान का उपदेश दिया है। कर्मकांड में दिखलाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार उत्पन्न होता है, और किन शुभकर्मों के करने से देवता बन जाता है, और किन कुकर्मों के कारण नरक से नाता करता है। उपनिषदों में, जिनका अनुवाद बाबा साहब ने वेदानुवचन में किया है, इस प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है कि मनुष्य अपनी प्रवृत्ति और भावना के अनुसार कर्मों को करता है, मृत्यु के समय जीव आत्मा मानवी शरीर को, जो उसका निवास-स्थान था, त्याग देता है। किंतु यह त्यागपूर्ण त्याग नहीं होता। जीवन में जीव-आत्मा अपने आपको शरीर से पृथक नहीं समझता और शरीर के भीतर अपना विशेष संबंध मस्तिष्क से रखता है। मस्तिष्क इसका सिंहासन है जहाँ यह विराजमान होकर सब प्रकार का प्रबंध करता है। जिस समय मनुष्य के प्राणों का वियोग होता है और प्राणों का गमनागमन बंद हो जाता है; उस समय संसार के लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया, किंतु जीव-आत्मा उस देह से जिसको जीवन में न केवल अपना निवास-स्थान वरन् अपना

जब जीव-आत्मा अपना संबंध ज्वाला के साथ उत्पन्न करता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से सूर्य लोक में प्राप्त होता है, और सूर्य लोक में देवता बनकर अपरिमित काल तक देवलोक के सुख भोगता है। किंतु जब तमोगुण के कारण जीवात्मा ऊर्ध्वगमन नहीं कर सकता है, तो अपना संबंध भस्म या धूलि से उत्पन्न करता है। धूलि धरती पर वायु के द्वारा फैल कर नाना प्रकार की वनस्पति की वृद्धि का कारण होती है। इनको कच्ची या पक्की दशा में सृष्टि के नाना जीव-जंतु खाते हैं, और जीवात्मा उनसे संबंध पा जाता है। मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति इत्यादि को उपनिषदों में पंचाग्नि विद्या के नाम से भी प्रकट किया गया है। और वह इस प्रकार वर्णन करते हैं कि पहले मनुष्य अन्न को खाता है, उससे वीर्य उत्पन्न होता है, और उस रेतस (वीर्य) को मनुष्य स्त्री के गर्भाशय में आहुति के समान डालता है, जिससे बच्चा उत्पन्न होता है। जब यह मनुष्य मर जाता है, तो उसे अग्नि में जलाया जाता है, जो कि अग्नि में दूसरी आहुति है। फिर जीव आत्मा चन्द्रलोक में आहुति होकर चन्द्रवदन हो जाता है, और इसी तरह सूर्यलोक में आहुति होकर सूर्यवंश हो जाता है। और इन दोनों लोकों में अपने कर्मों का फल भोगकर बादलों में लौटकर धरती में वर्षा के द्वारा आहुति किया जाता है। इसका नाम पंचाग्नि-विद्या है। अर्थात् पहले वर्षा के द्वारा पृथ्वी-रूप अग्नि में आहुति, दूसरे वीर्य बनकर माता-रूपी अग्नि में आहुति होता है, तीसरे सामान्य अग्नि में देह की आहुति होती है, चौथे चन्द्रलोक में और पाँचवें सूर्यलोक रूपी अग्नि में आहुति किया जाता है, और आवागवन का यह क्रम सदैव से जारी है और संसार के अस्तित्व को

जब जीव-आत्मा अपना संबंध ज्वाला के साथ उत्पन्न करता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से सूर्य लोक में प्राप्त होता है, और सूर्य लोक में देवता बनकर अपरिमित काल तक देवलोक के सुख भोगता है। किंतु जब तमोगुण के कारण जीवात्मा ऊर्ध्वगमन नहीं कर सकता है, तो अपना संबंध भस्म या धूलि से उत्पन्न करता है। धूलि धरती पर वायु के द्वारा फैल कर नाना प्रकार की वनस्पति की वृद्धि का कारण होती है। इनको कच्ची या पक्की दशा में सृष्टि के नाना जीव-जंतु खाते हैं, और जीवात्मा उनसे संबंध पा जाता है। मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति इत्यादि को उपनिषदों में पंचाग्नि विद्या के नाम से भी प्रकट किया गया है। और वह इस प्रकार वर्णन करते हैं कि पहले मनुष्य अन्न को खाता है, उससे वीर्य उत्पन्न होता है, और उस रेतस (वीर्य) को मनुष्य स्त्री के गर्भाशय में आहुति के समान डालता है, जिससे बच्चा उत्पन्न होता है। जब यह मनुष्य मर जाता है, तो उसे अग्नि में जलाया जाता है, जो कि अग्नि में दूसरी आहुति है। फिर जीव आत्मा चन्द्रलोक में आहुति होकर चन्द्रवत् हो जाता है, और इसी तरह सूर्यलोक में आहुति होकर सूर्यवंश हो जाता है। और इन दोनों लोकों में अपने कर्मों का फल भोगकर बादलों में लौटकर धरती में वर्षा के द्वारा आहुति किया जाता है। इसका नाम पंचाग्नि-विद्या है। अर्थात् पहले वर्षा के द्वारा पृथ्वी-रूप अग्नि में आहुति, दूसरे वीर्य बनकर माता-रूपी अग्नि में आहुति होता है, तीसरे सामान्य अग्नि में देह की आहुति होती है, चौथे चन्द्रलोक में और पाँचवें सूर्यलोक रूपी अग्नि में आहुति किया जाता है, और आवागमन का यह क्रम सदैव से जारी है और संसार के अस्तित्व का

एक छोटा लड़का, सरल स्वभाव, श्रद्धा से भरा हुआ और मुक्ति का इच्छुक था। केनोपनिषद् में देवताओं को उमा रूपी आचार्य ने यक्ष के उदाहरण से उपदेश किया। मुंडकोपनिषद् में आचार्य प्रजापति की ओर से उपदेश किया गया। और छांदोग्य तथा बृहदारण्यकोपनिषद में विविध अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। 'नारद' ने जो विद्वान् होते हुए भी सनकादिक ऋषियों से उपदेश चाहा, तो उन्होंने नारद से पूछा कि तुमने पहले कौन-कौन विद्या सीखी है। और इस बात से परिचित होकर कि नारद क्या २ शिक्षा पा चुका था और अब क्या आवश्यकता शेष थी, उसको उपदेश किया। याज्ञवल्क्य और राजा जनक के उपाख्यान में दिखलाया गया है कि राजा जनक को अपनी विद्या का अभिमान था, और याज्ञवल्क्य ने उसको उपदेश किया। राजा इंद्र और विरोचन की कहानी में दिखलाया है कि प्रजापति ने विरोचन को उसकी मूर्खता के कारण ब्रह्मविद्या का उपदेश करना व्यर्थ समझा, और इंद्र को चार बार करके १०१ वर्ष में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। कहीं पर दिखलाया गया है कि आकाशवाणी से ज्ञान का उपदेश हो गया, या अग्नि शब्द से या बैल की आवाज़ से अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मविद्या प्राप्त होगई। एक स्थान पर घमण्डी और अहंकारी पुत्र को पिता ने उपदेश किया, और एक अवसर पर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को उपदेश किया है। कहीं पर सीखने वाले की योग्यता पर, बिना इस ख्याल के कि वह किस जाति का है, उपदेश किया गया है। और श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्रह्मवादी परस्पर बैठ कर तर्क-वितर्क करने लगे, और बहस करते-करते अभीष्ट परिणाम पर पहुँच गए। दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि ब्रह्मवादी

एक छोटा लड़का, सरल स्वभाव, श्रद्धा से भरा हुआ और मुक्ति का इच्छुक था। केनोपनिषद् में देवताओं को उमा रूपी आचार्य ने यक्ष के उदाहरण से उपदेश किया। मुंडकोपनिषद् में आचार्य प्रजापति की ओर से उपदेश किया गया। और छांदोग्य तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में विविध अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। 'नारद' ने जो विद्वान् होते हुए भी सनकादिक ऋषियों से उपदेश चाहा, तो उन्होंने नारद से पूछा कि तुमने पहले कौन-कौन विद्या सीखी है। और इस बात से परिचित होकर कि नारद क्या २ शिक्षा पा चुका था और अब क्या आवश्यकता शेष थी, उसको उपदेश किया। याज्ञवल्क्य और राजा जनक के उपाख्यान में दिखलाया गया है कि राजा जनक को अपनी विद्या का अभिमान था, और याज्ञवल्क्य ने उसको उपदेश किया। राजा इंद्र और विरोचन की कहानी में दिखलाया है कि प्रजापति ने विरोचन को उसकी मूर्खता के कारण ब्रह्मविद्या का उपदेश करना व्यर्थ समझा, और इंद्र को चार बार करके १०१ वर्ष में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। कहीं पर दिखलाया गया है कि आकाशवाणी से ज्ञान का उपदेश हो गया, या अग्नि शब्द से या बैल की आवाज़से अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मविद्या प्राप्त होगई। एक स्थान पर घमण्डी और अहंकारी पुत्र को पिता ने उपदेश किया, और एक अवसर पर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को उपदेश किया है। कहीं पर सीखने वाले की योग्यता पर, बिना इस ख्याल के कि वह किस जाति का है, उपदेश किया गया है। और श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्रह्मवादी परस्पर बैठ कर तर्क-वितर्क करने लगे, और बहस करते-करते अभीष्ट परिणाम पर पहुँच गए। दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि ब्रह्मवादी

वाला द्रवतत्त्व, (३) अग्नि अर्थात् ऊष्णता, (४) वायु अर्थात् उड़नेवाला तत्त्व, (५) आकाश अर्थात् पोलापन जिसमें समस्त वस्तुओं को स्थान या निवास मिलता है। मिश्र होना ही इस बात का प्रमाण है कि किसी समय इस के परमाणु अमिश्र अवस्था में थे। उस अवस्था का नाम विविध रूप से वर्णन किया गया है। वेदों में इसके संबंध में कथा है कि ईश्वर पहले एकमेवाद्वितीयम, अर्थात् कष से रहित अवस्था में, सारे संसार के तत्त्व को अपने में लय किए हुए, जैसा कि मनुष्य सुषुप्ति की दशा में होता है, स्थित थे। उस अवस्था से उठने के साथ ही इच्छा हुई कि "मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊं।" यहाँ इच्छा शब्द का अर्थ (तात्पर्य) स्वाभाविक प्रवृत्ति है, न कि ऐसी इच्छाएँ जो आवश्यकता के कारण मनुष्य के मन में उत्पन्न हुआ करती हैं।

जैसे जलाना अग्नि का स्वाभाविक धर्म है, इसी तरह मोती का चमकना, तारों का दमकना और सूर्य का प्रकाशित होना स्वाभाविक है। तो भी कहा जाता है कि सूर्य प्रकाश दे रहा है, अग्नि जला रही है, मोती चमक रहा है। जो गुण स्वाभाविक होता है, वह अपने स्पष्ट होने में किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता; परंतु गुण की स्थिरता गुणी में होने के कारण गुण चाहे गुणी का तद्रूप ही हो, तो भी गुणी को बात चीत में उस गुण का स्वामी या कर्ता कहा जाता है। इस लिये यद्यपि ईश्वर के स्वरूप में यह गुण स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान है कि जिसमें एक समय संसार लय होकर रहे और दूसरे समय प्रकट हो जाय—जैसे कि एक समय मकड़ी अपने भीतर से जाले को निकालती है और दूसरे समय उस जाले को

वाला द्रवतत्त्व, (३) अग्नि अर्थात् ऊष्णता, (४) वायु अर्थात् उड़नेवाला तत्त्व, (५) आकाश अर्थात् पोलापन जिसमें समस्त वस्तुओं को स्थान या निवास मिलता है। मिश्र होना ही इस बात का प्रमाण है कि किसी समय इस के परमाणु अमिश्र अवस्था में थे। उस अवस्था का नाम विविध रूप से वर्णन किया गया है। वेदों में इसके संबंध में कहा है कि ईश्वर पहले एकमेवाद्वितीयम, क्यों कब से. रहित अवस्था में, सारे संसार के तत्त्व को अपने में लय किए हुए, जैसा कि मनुष्य सुषुप्ति की दशा में होता है, स्थित थे। उस अवस्था से उठने के साथ ही इच्छा हुई कि "मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊं।" यहाँ इच्छा शब्द का अर्थ (तात्पर्य) स्वाभाविक प्रवृत्ति है, न कि ऐसी इच्छाएँ जो आवश्यकता के कारण मनुष्य के मन में उत्पन्न हुआ करती हैं।

जैसे जलाना अग्नि का स्वाभाविक धर्म है, इसी तरह मोती का चमकना, तारों का दमकना और सूर्य का प्रकाशित होना स्वाभाविक है। तो भी कहा जाता है कि सूर्य प्रकाश दे रहा है, अग्नि जला रही है, मोती चमक रहा है। जो गुण स्वाभाविक होता है, वह अपने स्पष्ट होने में किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता; परंतु गुण की स्थिरता गुणी में होने के कारण गुण चाहे गुणी का तद्रूप ही हो, तो भी गुणी को बात चीत में उस गुण का स्वामी या कर्त्ता कहा जाता है। इस लिये यद्यपि ईश्वर के स्वरूप में यह गुण स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान है कि जिसमें एक समय संसार लय होकर रहे और दूसरे समय प्रकट हो जाय—जैसे कि एक समय मकड़ी अपने भीतर से जाले को निकालती है और दूसरे समय उस जाले को

कि वायु से अग्नि की उत्पत्ति है। हवा की स्थिति आकाश में है, क्योंकि यदि आकाश विद्यमान न हो, तो वायु गति नहीं कर सकती। जब ये पाँच तत्व पृथक् हुए, तो उनकी पारस्परिक रचना वा उत्पत्ति आरंभ हुई, जिसको संस्कृत में पंचीकरण कहते हैं। अर्थात् पृथ्वी में आधा भाग पृथ्वी-तत्त्व का और आधा शेष चारों तत्त्वों का है; इसी तरह से जल में आधा भाग जल-तत्त्व का और शेष आधा चारों तत्त्वों का है; इसी तरह अन्य तत्त्वों की दशा है। इस रचना वा प्रक्रिया से ये पंच सूक्ष्म तत्त्व स्थूल हो गए, और उनका रूप प्रकट हो गया, अन्यथा वे सूक्ष्म अवस्था में देखने में नहीं आ सकते थे। पृथ्वी-तत्त्व से सूँघने का कारण (साधन) अर्थात् नासिका उत्पन्न हुई; जल से रस अर्थात् स्वाद; अग्नि से रूप; वायु से स्पर्श और आकाश से शब्द उत्पन्न हुआ। शब्द से कान, स्पर्श से त्वचा, रूप से चक्षु रस से जिह्वा और गंध से नाक बने। इनको पँच ज्ञानेंद्रिय कहते हैं। फिर इनसे पंच स्थूल इंद्रियाँ अर्थात् कर्मेंद्रियाँ उत्पन्न हुईं, अर्थात् पाँव चलने के लिये, गुदा मल-त्याग के लिये, जननेंद्रिय मूत्र और वीर्य गिराने के लिये, हाथ काम-धंधा करने के लिये और मुँह खाने के लिये बने ये कर्मेंद्रिय कहलाते हैं। इन ज्ञान-इन्द्रियों और कर्म-इन्द्रियों की स्थापना के लिये देवताओं की आवश्यकता हुई, जिनके बिना ये अपने काम को नहीं कर सकतीं। तत्त्वों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं जिनको सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण कहा जाता है। सतोगुण का स्वभाव प्रकाशमय और हलकापन है रजोगुण का स्वभाव चञ्चलता होता है, और तमोगुण का स्वभाव अंधकार वा आवरण रूप और भारीपन है। इन पाँचों तत्त्वों के

कि वायु से अग्नि की उत्पत्ति है। हवा की स्थिति आकाश में है, क्योंकि यदि आकाश विद्यमान न हो, तो वायु गति नहीं कर सकती। अब ये पाँच तत्व पृथक् हुए, तो उनकी पारस्परिक रचना वा उत्पत्ति आरंभ हुई, जिसको संस्कृत में पंचीकरण कहते हैं। अर्थात् पृथ्वी में आधा भाग पृथ्वी-तत्त्व का और आधा शेष चारों तत्त्वों का है; इसी तरह से जल में आधा भाग जल-तत्त्व का और शेष आधा चारों तत्त्वों का है; इसी तरह अन्य तत्त्वों की दशा है। इस रचना वा प्रक्रिया से ये पंच सूक्ष्म तत्त्व स्थूल हो गए, और उनका रूप प्रकट हो गया, अन्यथा वे सूक्ष्म अवस्था में देखने में नहीं आ सकते थे। पृथ्वी-तत्त्व से सूँघने का कारण (साधन) अर्थात् नासिका उत्पन्न हुई; जल से रस अर्थात् स्वाद; अग्नि से रूप; वायु से स्पर्श और आकाश से शब्द उत्पन्न हुआ। शब्द से कान, स्पर्श से त्वचा, रूप से चक्षु रस से जिह्वा और गंध से नाक बने। इनको पँच ज्ञानेंद्रिय कहते हैं। फिर इनसे पंच स्थूल इंद्रियाँ अर्थात् कर्मेंद्रियाँ उत्पन्न हुईं, अर्थात् पाँव चलने के लिये, गुदा मल-त्याग के लिये, जननेंद्रिय मूत्र और वीर्य गिराने के लिये, हाथ काम-धंधा करने के लिये और मुँह खाने के लिये बने ये कर्मेंद्रिय कहलाते हैं। इन ज्ञान-इन्द्रियों और कर्म-इन्द्रियों की स्थापना के लिये देवताओं की आवश्यकता हुई, जिनके बिना ये अपने काम को नहीं कर सकतीं। तत्त्वों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं जिनको सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण कहा जाता है। सतोगुण का स्वभाव प्रकाशमय और हलकापन है रजोगुण का स्वभाव चञ्चलता होता है, और तमोगुण का स्वभाव अंधकार वा आवरण रूप और भारीपन है। इन पाँचों तत्वों के

कि तू कौन है, तो वह उत्तर देता है कि "मैं हूँ"। फिर प्रजापति को अकेला होने के कारण भय उत्पन्न हुआ, अब भी जब मनुष्य अकेला होता है, तो भयभीत हो जाता है। फिर प्रजापति ने विचार किया कि सिवाय मेरे दूसरा कोई नहीं और भय सदैव दूसरे से होता है, अतः भय दूर हो गया। अब भी जब भय होने पर मनुष्य खयाल करता है कि दूसरा कोई नहीं, तो भय दूर हो जाता है। फिर प्रजापति ने कहा कि मुझ अकेले को कोई धंधा नहीं, दूसरे के बिना कोई धंधा या प्रमोद का कारण नहीं। अब भी मनुष्य का स्वभाव है कि जब अकेला होता है, तो उदास होता है। इस विचार के उत्पन्न होने के साथ प्रजापति के दो भाग होगए। एक भाग पुरुष जिसको मनु कहते हैं, और दूसरा स्त्री जिसको शतरूपा कहते हैं, ये दोनों प्रकट हुए। इस पुरुष ने स्त्री के साथ भोग किया जिससे मानवी संतति उत्पन्न हुई। ये पुरुष और स्त्री (अर्थात् मनु और शतरूपा) प्रजापति से प्रकट होने के कारण और गत जन्मों के पूर्ण शुभाशुभ कर्मों के फलों से सम्पन्न होकर पूर्ण समर्थवान् थे, इसलिये शतरूपा ने भोग के इस निरंतर कर्म से खिन्न होकर चाहा कि किसी प्रकार मनु उसका पीछा छोड़ दे। तब उसने अपने स्वरूप को बदल कर गाय, घोड़े आदि विविध शरीरों को धारण किया। परंतु मनु जो विषय-कामना से विवश हुआ था, उसने उसका पीछा न छोड़ा, और जिस-जिस पशु-पक्षी की आकृति शतरूपा धारण करती गई, मनु उसके नर-रूप को धारण करता गया और इस प्रकार नाना जीवों की उत्पत्ति होती गई। अंततः शतरूपा ने स्त्री के रूप को ग्रहण किया और मनु ने पुरुष के रूप को। उस समय थक कर मनु के मन में सोच-विचार उत्पन्न हुआ कि वह क्या था और उसने

कि तू कौन है, तो वह उत्तर देता है कि "मैं हूँ"। फिर प्रजापति को अकेला होने के कारण भय उत्पन्न हुआ, अब भी जब मनुष्य अकेला होता है, तो भयभीत हो जाता है। फिर प्रजापति ने विचार किया कि सिवाय मेरे दूसरा कोई नहीं और भय सदैव दूसरे से होता है, अतः भय दूर हो गया। अब भी जब भय होने पर मनुष्य खयाल करता है कि दूसरा कोई नहीं, तो भय दूर हो जाता है। फिर प्रजापति ने कहा कि मुझ अकेले को कोई धंधा नहीं, दूसरे के बिना कोई धंधा या प्रमोद का कारण नहीं। अब भी मनुष्य का स्वभाव है कि जब अकेला होता है, तो उदास होता है। इस विचार के उत्पन्न होने के साथ प्रजापति के दो भाग होगए। एक भाग पुरुष जिसको मनु कहते हैं, और दूसरा स्त्री जिसको शतरूपा कहते हैं, ये दोनों प्रकट हुए। इस पुरुष ने स्त्री के साथ भोग किया जिससे मानवी संतति उत्पन्न हुई। ये पुरुष और स्त्री (अर्थात् मनु और शतरूपा) प्रजापति से प्रकट होने के कारण और गत जन्मों के पूर्ण शुभाशुभ कर्मों के फलों से सम्पन्न होकर पूर्ण समर्थवान् थे, इसलिये शतरूपा ने भोग के इस निरंतर कर्म से खिन्न होकर चाहा कि किसी प्रकार मनु उसका पीछा छोड़ दे। तब उसने अपने स्वरूप को बदल कर गाय, घोड़े आदि विविध शरीरों को धारण किया। परंतु मनु जो विषय-कामना से विवश हुआ था, उसने उसका पीछा न छोड़ा, और जिस-जिस पशु-पक्षी की आकृति शतरूपा धारण करती गई, मनु उसके नर-रूप को धारण करता गया और इस प्रकार नाना जीवों की उत्पत्ति होती गई। अंततः शतरूपा ने स्त्री के रूप को ग्रहण किया और मनु ने पुरुष के रूप को। उस समय थक कर मनु के मन में सोच-विचार उत्पन्न हुआ कि वह क्या था और उसने

हैं। वह चूँकि सर्व व्यापक है, इसलिये वह सर्वत्र विद्यमान है, अतः खोजने से वह प्रत्येक स्थान और प्रत्येक अवसर पर मिल सकता है। इसलिये उसकी खोज की सर्वश्रेष्ठ विधि अपने तन में ही हो सकती है। मानवी शरीर में जो भाग स्थूल, ठोस और जड़ दिखाई देता है, उसको अन्नमय कोश कहते हैं। यह मानवी शरीर में पहला आवरण आत्मा पर है, और आत्मा इस अन्नमय कोष में व्यापक है, और इस कोष की स्थिति का कारण है। इस अन्नमय कोश के भीतर हम देखते हैं कि प्राणों का गमनागमन है। यह प्राण सारे अन्नमय कोष के भीतर फैले हुए हैं। देह के जिस भाग में प्राण की गति नहीं रहती, वह भाग जड़ या मृतक हो जाता है। जिस परिमाण में गति होती है उस सबका कारण प्राणमय कोष है। इसी की बदौलत खून चलता है और देह में गति होती है। यह दूसरा आवरण प्राणमय कोश के नाम से प्रसिद्ध है, और आत्मा में व्यापक है, और वह (प्राणमयकोष) स्वयं अन्नमयकोष में व्यापक है। इन कोषों के भीतर एक और आवरण देह में विद्यमान है जो इन से बढ़कर है और जिसको मनोमय कोष कहते हैं। क्योंकि मनके अधीन ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय काम करते हैं। पूर्व कोषों के अनुसार इस में भी आत्मा व्यापक है और यह तीसरा आवरण आत्मा को ढाँपे हुए इस तन में विद्यमान है। और स्वयं पहले दो कोषों अर्थात् अन्नमय-कोष और प्राणमयकोष में व्यापक है। इसके भीतर एक चौथा आवरण विद्यमान है जो इससे उत्तमतर है और जिसको विज्ञानमयकोष कहते हैं। क्योंकि जिस व्यक्ति में विज्ञान बलवान् है, वह मन और प्राणों की गति को रोक सकता है। आत्मा इस में व्यापक है और आत्मा की

हैं। वह चूँकि सर्व व्यापक है, इसलिये वह सर्वत्र विद्यमान है, अतः खोजने से वह प्रत्येक स्थान और प्रत्येक अवसर पर मिल सकता है। इसलिये उसकी खोज की सर्वश्रेष्ठ विधि अपने तन में ही हो सकती है। मानवी शरीर में जो भाग स्थूल, ठोस और जड़ दिखाई देता है, उसको अन्नमय कोश कहते हैं। यह मानवी शरीर में पहला आवरण आत्मा पर है, और आत्मा इस अन्नमय कोष में व्यापक है, और इस कोष की स्थिति का कारण है। इस अन्नमय कोश के भीतर हम देखते हैं कि प्राणों का गमनागमन है। यह प्राण सारे अन्नमय कोष के भीतर फैले हुए हैं। देह के जिस भाग में प्राण की गति नहीं रहती, वह भाग जड़ या मृतक हो जाता है। जिस परिमाण में गति होती है उस सबका कारण प्राणमय कोष है। इसी की बदौलत खून चलता है और देह में गति होती है। यह दूसरा आवरण प्राणमय कोश के नाम से प्रसिद्ध है, और आत्मा में व्यापक है, और यह (प्राणमयकोष) स्वयं अन्नमयकोष में व्यापक है। इन कोषों के भीतर एक और आवरण देह में विद्यमान है जो इन से बढ़कर है और जिसको मनोमय कोष कहते हैं। क्योंकि मनके अधीन ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय काम करते हैं। पूर्व कोषों के अनुसार इस में भी आत्मा व्यापक है और यह तीसरा आवरण आत्मा को ढाँपे हुए इस तन में विद्यमान है। और स्वयं पहले दो कोषों अर्थात् अन्नमय-कोष और प्राणमयकोष में व्यापक है। इसके भीतर एक चौथा आवरण विद्यमान है जो इससे उत्तमतर है और जिसको विज्ञानमयकोष कहते हैं। क्योंकि जिस व्यक्ति में विज्ञान बलवान् है, वह मन और प्राणों की गति को रोक सकता है। आत्मा इस में व्यापक है और आत्मा की

का साक्षी होता है, अर्थात् जाग्रत् की दशा में जीव-आत्मा स्वप्नवाली और स्वप्न-हीन निद्रा की अवस्थाओं के आश्रय (अधीन) नहीं होता। और जब सोया हुआ स्वप्न देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न रहित निद्रा की दशाओं के अधीन नहीं होता। और जब स्वप्न रहित निद्रा की दशा को देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न की दशाओं के अधीन नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि यह आत्मा प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक तीनों दशाओं से पृथक् और निः सम्बन्ध और (निराश्रय) है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अपनी स्थिति और अपने विद्यमानता के लिये जीवात्मा के अधीन या आश्रयीभूत हैं, किंतु जीव-आत्मा अपने अस्तित्व की स्थिति के लिये किसी अवस्था के अधीन (आश्रित) नहीं। यह सत्य है कि जीवात्मा को इन अवस्थाओं से पृथक हमने कभी नहीं देखा, जब देखा, तो किसी अवस्था में विद्यमान देखा। तो भी यह भली भाँति सिद्ध है कि जीवात्मा जो एक समय केवल अपनी एक अवस्था में विद्यमान होता है, उस अन्य दो अवस्थाओं से बिलकुल असंग होता है, इसी तरह जब दूसरी अवस्था में विद्यमान होता है, उस समय पहली और तीसरी अवस्था से असंग होता है; और जब तीसरी अवस्था में विद्यमान होता है, तो पहली और दूसरी अवस्था से असंग होता है। अतः प्रत्येक अवस्था में वह असंग और स्वतःस्थित रहता है। इस जीवात्मा में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं होता, अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। जैसे एक प्रोफ़ेसर एक कमरे में बैठ कर शिक्षा देता है, और चार विभिन्न श्रेणियाँ विभिन्न समयों पर उससे शिक्षा पाती हैं, एक समय पहली श्रेणी उससे शिक्षा प्राप्त करती है, फिर वह चली जाती है और दूसरी

का साक्षी होता है, अर्थात् जाग्रत् की दशा में जीव-आत्मा स्वप्नवाली और स्वप्न-हीन निद्रा की अवस्थाओं के आश्रय (अधीन) नहीं होता। और अब सोया हुआ स्वप्न देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न रहित निद्रा की दशाओं के अधीन नहीं होता। और जब स्वप्न रहित निद्रा की दशा को देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न की दशाओं के अधीन नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि यह आत्मा प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक तीनों दशाओं से पृथक् और निः सम्बन्ध और (निराश्रय) है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अपनी स्थिति और अपने विद्यमानता के लिये जीवात्मा के अधीन वो आश्रयीभूत हैं, किंतु जीव-आत्मा अपने अस्तित्व की स्थिति के लिये किसी अवस्था के अधीन (आश्रित) नहीं। यह सत्य है कि जीवात्मा को इन अवस्थाओं से पृथक हमने कभी नहीं देखा, जब देखा, तो किसी अवस्था में विद्यमान देखा। तो भी यह भली भाँति सिद्ध है कि जीवात्मा जो एक समय केवल अपनी एक अवस्था में विद्यमान होता है, उस अन्य दो अवस्थाओं से बिलकुल असंग होता है, इसी तरह जब दूसरी अवस्था में विद्यमान होता है, उस समय पहली और तीसरी अवस्था से असंग होता है; और जब तीसरी अवस्था में विद्यमान होता है, तो पहली और दूसरी अवस्था से असंग होता है। अतः प्रत्येक अवस्था में वह असंग और स्वतःस्थित रहता है। इस जीवात्मा में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं होता, अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। जैसे एक प्रोफ़ेसर एक कमरे में बैठ कर शिक्षा देता है, और चार विभिन्न श्रेणियाँ विभिन्न समयों पर उससे शिक्षा पाती हैं, एक समय पहली श्रेणी उससे शिक्षा प्राप्त करती है, फिर वह चली जाती है और दूसरी

त्यादि गुण थे। जो नाक से सूँघा गया, वह उसकी गंध ी। अतः जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ, वह सब ाठी के गुण थे, लाठी नहीं थी। इसी तरह जो लाठी के गुण मन के द्वारा ज्ञात हुए, वह भी सब लाठी के गुण हैं, ाठी नहीं हैं, इसी तरह जो गुण अब तक प्रकट नहीं ो चुके हैं और अप्रकट हैं, वह भी गुण ही हैं, लाठी नहीं हैं। तएव जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ है या मन के ारा जाना गया, या जो अब तक अप्रकट है, वह सब गुण ी हैं, लाठी नहीं हैं। असल लाठी अर्थात् आत्मा तो मन ौर वाणी से परे है, इसलिय जाना नहीं जा सकता। जो छ जाना गया वह केवल गुण हैं, पराधीन वा परतंत्र हैं, वतः स्थित वा स्वतंत्र नहीं हैं; अथवा वस्तु की लम्बाई ौड़ाई है, वस्तु स्वयं नहीं हैं; गुण-मात्र हैं, वास्तविक वस्तु हीं हैं, और अपनी विद्यमानता में लाठी के अस्तित्व के ाधीन है, किंतु लाठी उन गुणों के अधीन वा आश्रय नहीं है, यों कि जब वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ था, और केवल बीज ही वेद्यमान था, तो जो गुण लाठी के हमने ज्ञानेंद्रिय और मन े द्वारा मालूम किए, वह विद्यमान नहीं थे, और जब बीज से ृक्ष उत्पन्न होकर लाठी के गुण विद्यमान हुए, तो लाठी उन गुणों की, जो बीज की दशा में अप्रकट थे, मोहताज (अधीन ा आश्रित) न रही; और जब फिर लाठी को जला दिया जाय ो दोनों पूर्व क गुण लुप्त हो जाते हैं, तो भी लाठी का अस्तित्व (अर्थात् स्वरूप) स्थित रहता है, और वह उन गुणों के अधीन (आश्रय) नहीं होता। अतः लाठी का ठीक स्वरूप उसका आत्मा ही है जो अपने अस्तित्व में स्वतः स्थित है, और किसी अन्य वस्तु के अधीन नहीं है। परंतु इस लाठी के आश्रय जो गुण हमने परिवर्तन होने

इत्यादि गुण थे। जो नाक से सूँघा गया, वह उसकी गंध थी। अतः जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ, वह सब लाठी के गुण थे, लाठी नहीं थी। इसी तरह जो लाठी के गुण मन के द्वारा ज्ञात हुए, वह भी सब लाठी के गुण हैं, लाठी नहीं हैं, इसी तरह जो गुण अब तक प्रकट नहीं हो चुके हैं और अप्रकट हैं, वह भी गुण ही हैं, लाठी नहीं हैं। अतएव जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ है या मन के द्वारा जाना गया, या जो अब तक अप्रकट है, वह सब गुण ही हैं, लाठी नहीं हैं। असल लाठी अर्थात् आत्मा तो मन और वाणी से परे है, इसलिये जाना नहीं जा सकता। जो कुछ जाना गया वह केवल गुण हैं, पराधीन वा परतंत्र हैं, स्वतः स्थित वा स्वतंत्र नहीं हैं; अथवा वस्तु की लम्बाई चौड़ाई है, वस्तु स्वयं नहीं है; गुण-मात्र हैं, वास्तविक वस्तु नहीं हैं, और अपनी विद्यमानता में लाठी के अस्तित्व के अधीन है, किंतु लाठी उन गुणों के अधीन वा आश्रय नहीं है, क्योंकि जब वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ था, और केवल बीज ही विद्यमान था, तो जो गुण लाठी के हमने ज्ञानेंद्रिय और मन के द्वारा मालूम किए, वह विद्यमान नहीं थे, और जब बीज से वृक्ष उत्पन्न होकर लाठी के गुण विद्यमान हुए, तो लाठी उन गुणों की, जो बीज की दशा में अप्रकट थे, मोहताज (अधीन वा आश्रित) न रही; और जब फिर लाठी को जला दिया जाय तो दोनों पूर्वक गुण लुप्त हो जाते हैं, तौ भी लाठी का अस्तित्व (अर्थात् स्वरूप) स्थित रहता है, और वह उन गुणों के अधीन (आश्रय) नहीं होता। अतः लाठी का ठीक स्वरूप उसका आत्मा ही है जो अपने अस्तित्व में स्वतः स्थित है, और किसी अन्य वस्तु के अधीन नहीं है। परंतु इस लाठी के आश्रय जो गुण हमने परिवर्तन होने

उदाहरण से दिखलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु जो नाम-रूप रखती है, उसमें जो कुछ ज्ञानेंद्रिय के द्वारा ज्ञात होता है या जो कुछ मन के द्वारा जाना जाता है, या जो कुछ अभी जाना नहीं गया और भविष्य में जाना जा सकता है, वह सब गुण हैं, परिवर्तन होने वाले हैं और वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं हैं। जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप है, वह मन और ज्ञानेंद्रियों से परे है। और ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं का आधार आत्मा है, जो इसी कारण से कि मन और ज्ञान इंद्रियों की उस तक पहुँच नहीं क्यों कब के हेतु से अतीत, और अनुपम कहा जाता है। अतः जब यह आत्मा सर्वतोभावेन नाम-रूप से अलग और उनका अधीन नहीं, तो किसी प्रकार भी यह कर्त्ता नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा क्योंकर कर्त्ता होकर दिखलाई देता है, और मनुष्य-शरीर में कौन कर्त्ता है? हम पहले मनुष्य-शरीर की जाँच (विवेक) कर चुके हैं और हमने देखा है कि बाह्य स्थूल आवरण अन्नमयकोश रूपवाला है जो-तीन रूप वाले तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि से बना हुआ है; दूसरा आवरण प्राणमयकोश है जिसमें वायु की प्रधानता है; तीसरा मनोमयकोश है जिसको अंतःकरण भी कहते हैं, और अंतःकरण तत्त्वों के सतोगुण अंश अर्थात् सूक्ष्म-तत्त्व से बना हुआ है। इस अंतःकरण के सूक्ष्म अंश का नाम विज्ञानमय कोश है। और इस शरीर में यही विज्ञानमय कोश कर्त्ता, जाननेवाला, निर्णय करने वाला माना गया है। अंतःकरण पंच तत्त्वों का सूक्ष्म अंश है, इसलिये निर्मल है। पत्थर में मनुष्य के रूप का प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता, परन्तु दर्पण में जो पत्थर के उत्तम (शुद्ध) अंशों से बनाया जाता है प्रतिबिंब पड़ता है। इसी तरह तत्त्वों की

उदाहरण से दिखलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु जो नाम-रूप रखती है, उसमें जो कुछ ज्ञानेंद्रिय के द्वारा ज्ञात होता है या जो कुछ मन के द्वारा जाना जाता है, या जो कुछ अभी जाना नहीं गया और भविष्य में जाना जा सकता है, वह सब गुण हैं, परिवर्तन होने वाले हैं और वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं हैं। जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप है, वह मन और ज्ञानेन्द्रियों से परे है। और ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं का आधार आत्मा है, जो इसी कारण से कि मन और ज्ञान इंद्रियों की उस तक पहुँच नहीं क्यों कब के हेतु से अतीत, और अनुपम कहा जाता है। अतः जब यह आत्मा सर्वतो-भावेन नाम-रूप से अलग और उनका अधीन नहीं, तो किसी प्रकार भी यह कर्त्ता नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा क्योंकर कर्त्ता होकर दिखलाई देता है, और मनुष्य-शरीर में कौन कर्त्ता है? हम पहले मनुष्य-शरीर की जाँच (विवेक) कर चुके हैं और हमने देखा है कि बाह्य स्थूल आवरण अन्नमयकोश रूपवाला है जो-तीन रूप वाले तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि से बना हुआ है; दूसरा आवरण प्राणमयकोश है जिसमें वायु की प्रधानता है; तीसरा मनोमयकोश है जिसको अंतःकरण भी कहते हैं, और अंतःकरण तत्त्वों के सतोगुण अंश अर्थात् सूक्ष्म-तत्त्व से बना हुआ है। इस अंतःकरण के सूक्ष्म अंश का नाम विज्ञानमय कोश है। और इस शरीर में यही विज्ञानमय कोश कर्त्ता, जाननेवाला, निर्णय करने वाला माना गया है। अंतः करण पंच तत्त्वों का सूक्ष्म अंश है, इसलिये निर्मल है। पत्थर में मनुष्य के रूप का प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता, परन्तु दर्पण में जो पत्थर के उत्तम (शुद्ध) अंशों से बनाया जाता है प्रतिबिंब पड़ता है। इसी तरह तत्त्वों की

पर विद्यमान हों, उनको दिखाती है। क्योंकि नियम यह है कि लौटते समय जो किरण के किसी निर्मल तल पर पड़ने से कोण उत्पन्न होता है, प्रतिबिंबित किरण उस कोण को समान काट कर लौटती है, और उस लौटने में जिस जगह पर जाकर रुकती है, उसको दिखाती है। देखी गई वस्तु वास्तव में आँख की उस किरण ने जो आँख से निकल कर गई थी (परन्तु कलई की रुकावट के कारण जो दर्पण के पीछे है, लौट आई है) देखी है, दर्पण में कोई रूप दिखाई नहीं दिया। यदि दर्पण में कोई आकृति उत्पन्न होती, तो बहुत-सी आकृतियों के उत्पन्न होने से दर्पण मैला होजाता या बहुत मनुष्य एक ही दर्पण को सामने रख कर नाना रूपों को न देख सकते, और संभव नहीं था कि एक छोटे-से दर्पण के टुकड़े में मनुष्य समस्त आकाश या बड़े-बड़े पहाड़ों या दृश्यों का परिदर्शन कर सकता। देखने का तत्वज्ञान यह है कि मन दृष्टि-किरणों के द्वारा बाहर निकल कर जिस वस्तु के साथ टकराता है, उसकी आकृति में तदाकार हो जाता है, और इस मन की आकृति से विज्ञान आत्मा परिचित हो जाता है, और ये रूप विज्ञानमय कोश से होकर जब आनंदमय कोश में प्रविष्ट होते हैं, तो वहाँ मन और बुद्धि की गति न होने के कारण एक समष्टि रूप में विद्यमान रहते हैं। परन्तु मन का किसी वस्तु के साथ टकराना मन को गतिशील (चंचल) और तरंगायित करता है, और इस मौज (तरंग) को वृत्ति कहते हैं। जब वह वृत्ति आनंदमय कोश में चली आती है, तो उसको संस्कार बोलते हैं। प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार गति जब एक बार उत्पन्न हो जाती है, तो कभी बंद नहीं होती; वरन् निरंतर जारी रहती है। परन्तु जब

पर विद्यमान हों, उनको दिखाती है। क्योंकि नियम यह है कि लौटते समय जो किरण के किसी निर्मल तल पर पड़ने से कोण उत्पन्न होता है, प्रतिबिंबित किरण उस कोण को समान काट कर लौटती है, और उस लौटने में जिस जगह पर आकर रुकती है, उसको दिखाती है। देखी गई वस्तु वास्तव में आँख की उस किरण ने जो आँख से निकल कर गई थी (परन्तु कलई की रुकावट के कारण जो दर्पण के पीछे है, लौट आई है) देखी है, दर्पण में कोई रूप दिखाई नहीं दिया। यदि दर्पण में कोई आकृति उत्पन्न होती, तो बहुत-सी आकृतियों के उत्पन्न होने से दर्पण मैला होजाता या बहुत मनुष्य एक ही दर्पण को सामने रख कर नाना रूपों को न देख सकते, और संभव नहीं था कि एक छोटे-से दर्पण के टुकड़े में मनुष्य समस्त आकाश या बड़े-बड़े पहाड़ों या दृश्यों का परिदर्शन कर सकता। देखने का तत्वज्ञान यह है कि मन दृष्टि-किरणों के द्वारा बाहर निकल कर जिस वस्तु के साथ टकराता है, उसकी आकृति में तदाकार हो जाता है, और इस मन की आकृति से विज्ञान आत्मा परिचित हो जाता है, और ये रूप विज्ञानमय कोश से होकर जब आनंदमय कोश में प्रविष्ट होते हैं, तो वहाँ मन और बुद्धि की गति न होने के कारण एक समष्टि रूप में विद्यमान रहते हैं। परन्तु मन का किसी वस्तु के साथ टकराना मन को गतिशील (चंचल) और तरंगायित करता है, और इस मौज (तरंग) को वृत्ति कहते हैं। जब वह वृत्ति आनंदमय कोश में चली आती है, तो उसको संस्कार बोलते हैं। प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार गति जब एक बार उत्पन्न हो जाती है, तो कभी बंद नहीं होती, वरन् निरंतर जारी रहती है। परन्तु जब ७

जो प्रतिबिंब दर्पण में है, क्योंकि दृष्टि की किरणें टकरा कर वापिस अपने मुख मंडल पर पड़ती हैं, इसलिये मुख मंडल को उल्टा अर्थात् अपनी ओर को मुख किए हुए दिखलाती हैं। एक और विचित्र बात भी हम दर्पण में देखते हैं कि दर्पण के हिलने से असल वस्तु प्रतिबिम्बित रूप से हिलती हुई दृष्टिगोचर होती है। दर्पण की गति असल वस्तु की गति प्रतीत होती है। इसी तरह हम देखते हैं कि अंतः करण में आत्मा जो सर्व व्यापक है, परिच्छिन्न और छोटा-सा मालूम होता है; जो सर्व शक्तिमान है, वह शक्तिहीन और दुर्बल ज्ञात होता है; जो स्वयं सर्व व्यापक होने के कारण शांत वा स्थिर है, अंतः करण की गति के कारण चञ्चल वा अस्थिर प्रतीत होता है। आत्मा सत्-चित्-आनंद-स्वरूप है। सत् इस लिये कहते हैं कि सदैव विद्यमान रहता है, कभी परिवर्तन या पतन को नहीं पाता; चित् इस लिये कहते हैं कि साक्षी रूप है, और स्वयं किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं पाता; और आनंद इस कारण से है कि स्वप्न-रहित निद्रा (सुषुप्ति) में हमने देखा है कि चंचलता वा चेष्टा, परिवर्तन, और कुछ भी भान न होने के कारण मनुष्य आनंद पाता है, और इसी लिये उसको आनंदमय कोश, अर्थात् ऐसा स्थान जहाँ आनंद की अतिशयता है, कहते हैं। चूँकि यह केवल प्रतिबिंब है, इस लिये इसको पूर्णानंद नहीं कहा गया, और आत्मा जो मूल है, वह शुद्ध और पूर्णानंद है।

ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि अंतःकरण की मिलावट से जो प्रतिबिंब उस में पड़ रहा है, वह हिलता हुआ मालूम होता है, और प्रतिबिम्ब के हिलने से मूल वस्तु (बिम्ब) के हिलने की कल्पना की जाती है। यह केवल अज्ञान और अविद्या के कारण मालूम होता है। अन्यथा यह भली भाँति

जो प्रतिबिंब दर्पण में है, क्योंकि दृष्टि की किरणें टकरा कर वापिस अपने मुख मंडल पर पड़ती हैं, इसलिये मुख मंडल को उल्टा अर्थात् अपनी ओर को मुख किए हुए दिखलाती हैं। एक और विचित्र बात भी हम दर्पण में देखते हैं कि दर्पण के हिलने से असल वस्तु प्रतिबिम्बित रूप से हिलती हुई दृष्टिगोचर होती है। दर्पण की गति असल वस्तु की गति प्रतीत होती है। इसी तरह हम देखते हैं कि अंतः करण में आत्मा जो सर्व व्यापक है, परिच्छिन्न और छोटा-सा मालूम होता है; जो सर्व शक्तिमान है, वह शक्तिहीन और दुर्बल ज्ञात होता है; जो स्वयं सर्व व्यापक होने के कारण शांत वा स्थिर है, अंतः करण की गति के कारण चञ्चल वा अस्थिर प्रतीत होता है। आत्मा सत्-चित्-आनंद-स्वरूप है। सत् इस लिये कहते है कि सदैव विद्यमान रहता है, कभी परिवर्तन या पतन को नहीं पाता; चित् इस लिये कहते हैं कि साक्षी रूप है, और स्वयं किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं पाता; और आनंद इस कारण से है कि स्वप्न-रहित निद्रा (सुषुप्ति) में हमने देखा है कि चंचलता वा चेष्टा, परिवर्तन, और कुछ भी भान न होने के कारण मनुष्य आनंद पाता है, और इसी लिये उसको आनंदमय कोश, अर्थात् ऐसा स्थान जहाँ आनंद की अतिशयता है, कहते हैं। चूँकि यह केवल प्रतिबिम्ब है, इस लिये इसको पूर्णानंद नहीं कहा गया, और आत्मा जो मूल है, वह शुद्ध और पूर्णानंद है।

ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि अंतःकरण की मिलावट से जो प्रतिबिंब उस में पड़ रहा है, वह हिलता हुआ मालूम होता है, और प्रतिबिम्ब के हिलने से मूल वस्तु (बिम्ब) के हिलने की कल्पना की जाती है। यह केवल अज्ञान और अविद्या के कारण मालूम होता है। अन्यथा यह भली भाँति

कि अब यह प्रश्न उत्पन्न हो कि इस संसार के उत्पन्न करने का प्रेरक कौन है? और अंतः करण और अन्य वस्तुओं में गति किस प्रकार होती है, और कौन इसका हेतु है? हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि सांसारिक प्रकृति एक गुणवती प्रकृति है। जिस तरह मनुष्य की परछाईं मनुष्य के साथ रहती है, इसी तरह से यह तत्त्व जिसको माया या अविद्या या प्रकृति बोलते हैं, आत्मा के साथ छाया रूप से स्थित रहता है। जिस तरह से लाठी के गुण लाठी में छाया-रूप से स्थिर रहते हैं, लाठी से अलग नहीं रह सकते, जिस तरह तारों का डगमगाना तारों से भिन्न नहीं है, इसी तरह यह छाया आत्मा से अलग नहीं है। इसका खुलना जगत् की उत्पत्ति है, इसका सकुचना जगत् की प्रलय है। यह छाया आत्मा के एक 'देश अर्थात् भाग में रहती है, जैसे मनुष्य की छाया मनुष्य में। इस लिये इस छाया में चूँकि यह सर्व-व्यापक नहीं, कल्पित गति का भान होता है। इस प्रकृति अर्थात् छाया के विषय में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि यह तीन गुणों का समूह है, और इन तीन गुणों में रजोगुण शुद्ध गति-रूप है, अतः हिलना इसका स्वाभाविक गुण है, और इसका हिलना आत्मा की एक महिमा है। और हिलने का प्रत्यावर्तन, जो वह भी एक प्रकार की गति है जिसको प्रलय कहते हैं, आत्मा की दूसरी महिमा है। ये दोनों महिमाएं अपने अस्तित्व और विकाश के लिये आत्मा की अपेक्षा रखती हैं, आत्मा इनकी अपेक्षा नहीं रखता। समस्त प्रकृति का एक अंश गति-रूप है, इस लिये प्रत्येक वस्तु में गति का आविर्भाव पाया जाता है, और गति सदैव चेतन से भिन्न पदार्थ में होती है। चेतन साक्षी सदैव एक रस रहता है। अंतःकरण जो

कि अब यह प्रश्न उत्पन्न हो कि इस संसार के उत्पन्न करने का प्रेरक कौन है? और अंतःकरण और अन्य वस्तुओं में गति किस प्रकार होती है, और कौन इसका हेतु है? हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि सांसारिक प्रकृति एक गुणवती प्रकृति है। जिस तरह मनुष्य की परछाई मनुष्य के साथ रहती है, इसी तरह से यह तत्त्व जिसको माया या अविद्या या प्रकृति बोलते हैं, आत्मा के साथ छाया रूप से स्थित रहता है। जिस तरह से लाठी के गुण लाठी में छाया-रूप से स्थिर रहते हैं, लाठी से अलग नहीं रह सकते, जिस तरह तारों का डगमगाना तारों से भिन्न नहीं है, इसी तरह यह छाया आत्मा से अलग नहीं है। इसका खुलना जगत् की उत्पत्ति है, इसका सकुचना जगत् की प्रलय है। यह छाया आत्मा के एक देश अर्थात् भाग में रहती है, जैसे मनुष्य की छाया मनुष्य में। इस लिये इस छाया में चूँकि यह सर्व-व्यापक नहीं, कल्पित गति का भान होता है। इस प्रकृति अर्थात् छाया के विषय में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि यह तीन गुणों का समूह है, और इन तीन गुणों में रजोगुण शुद्ध गति-रूप है, अतः हिलना इसका स्वाभाविक गुण है, और इसका हिलना आत्मा की एक महिमा है। और हिलने का प्रत्यावर्तन, जो वह भी एक प्रकार की गति है जिसको प्रलय कहते हैं, आत्मा की दूसरी महिमा है। ये दोनों महिमाएं अपने अस्तित्व और विकाश के लिये आत्मा की अपेक्षा रखती हैं, आत्मा इनकी अपेक्षा नहीं रखता। समस्त प्रकृति का एक अंश गति-रूप है, इस लिये प्रत्येक वस्तु में गति का आविर्भाव पाया जाता है, और गति सदैव चेतन से भिन्न पदार्थ में होती है। चेतन साक्षी सदैव एक रस रहता है। अंतःकरण जो

मुक्ति

मुक्ति शब्द के अर्थ हैं बंधन से स्वतंत्रता प्राप्त करना। अब प्रश्न यह है कि किसको स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, और वह बंध जिस से मुक्ति प्राप्त करनी है किस प्रकार का है? हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है और परिपूर्ण है। इस लिये वह किसी प्रकार से भी बंदी नहीं हो सकता। अब रहा जीव-आत्मा। जीवात्मा की खोज हम कर चुके हैं। आत्मा का अंतःकरण में जो भान या आविर्भाव हो रहा है, उस आविर्भाव को जीवात्मा कहते हैं। जब तक अंतःकरण का अस्तित्व स्थिर रहता है, उस में आत्मा के सत् चित आनंद स्वरूप का आविर्भाव बराबर बना रहता है, और अंतःकरण की विद्यमानता के कारण आत्मा से वह पृथक हो कर दिखाई देता है, और प्रत्येक व्यक्ति आत्मासे भिन्न अस्तित्व रखती प्रतीत होती है। इसका उदाहरण ब्रह्मविद्या का रहस्य जानने वाले गुरु अपने विशेष सुयोग्य और प्रियशिष्यों को रहस्य-विद् करने के लिये कह दिया करते है कि सूर्य की धूप दिन में एक मकान की दीवार पर पड़ कर उसको प्रकाशित करती है, पर एक कमरे में एक मोमबत्ती चारों दीवारों को प्रकाशित करती है। परन्तु यदि सूर्य या मोमबत्ती के सामने एक स्वच्छ कलईदार दर्पण रख दिया जाय, तो दर्पणों के परिमाण के अनुसार एक दूसरा प्रकाशमय टुकड़ा सूर्य या मोमबत्ती के प्रकाश से प्रकाशित दीवार पर प्रकट होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यदि दर्पण को हिलाओ, तो यह प्रकाशित टुकड़ा हिलता दृष्टिगोचर होता है और तोड़ फोड़ डालो तो टूटा फूटा हुआ मालूम होता है। यह प्रकाश दुगना प्रकाश है अर्थात् एक तो प्रकाश दीवार पर पहले ही सूर्य का था, परंतु उस के ऊपर

मुक्ति

मुक्ति शब्द के अर्थ हैं बंधन से स्वतंत्रता प्राप्त करना। अब प्रश्न यह है कि किसको स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, और वह बंध जिस से मुक्ति प्राप्त करनी है किस प्रकार का है? हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है और परिपूर्ण है। इस लिये वह किसी प्रकार से भी बंदी नहीं हो सकता। अब रहा जीव-आत्मा। जीवात्मा की खोज हम कर चुके हैं। आत्मा का अंतःकरण में जो भान या आविर्भाव हो रहा है, उस आविर्भाव को जीवात्मा कहते है। जब तक अंतःकरण का अस्तित्व स्थिर रहता है, उस में आत्मा के सत् चित आनंद स्वरूप का आविर्भाव बराबर बना रहता है, और अंतःकरण की विद्यमानता के कारण आत्मा से वह पृथक हो कर दिखाई देता है, और प्रत्येक व्यक्ति आत्मासे भिन्न अस्तित्व रखती प्रतीत होती है। इसका उदाहरण ब्रह्मविद्या का रहस्य जानने वाले गुरु अपने विशेष सुयोग्य और प्रियशिष्यों को रहस्य-विद करने के लिये कह दिया करते है कि सूर्य की धूप दिन में एक मकान की दीवार पर पड़ कर उसको प्रकाशित करती है, पर एक कमरे में एक मोमबत्ती चारों दीवारों को प्रकाशित करती है। परन्तु यदि सूर्य या मोमबत्ती के सामने एक स्वच्छ कलईदार दर्पण रख दिया जाय, तो दर्पणों के परिमाण के अनुसार एक दूसरा प्रकाशमय टुकड़ा सूर्य या मोमबत्ती के प्रकाश से प्रकाशित दीवार पर प्रकट होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यदि दर्पण को हिलाओ, तो यह प्रकाशित टुकड़ा हिलता दृष्टिगोचर होता है और तोड़ फोड़ डालो तो टूटा फूटा हुआ मालूम होता है। यह प्रकाश दुगना प्रकाश है अर्थात् एक तो प्रकाश दीवार पर पहले ही सूर्य का था, परंतु उस के ऊपर

दृष्टिगोचर होगा, तो भी सब कोई जानता है कि सूर्य एक है। परन्तु दर्पणों और पानी से भरे हुए बर्तनों की उपाधि के कारण प्रत्येक दर्पण और बर्तन में अलग-अलग सूर्य दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह ज्ञानवान जानता है कि आत्मा एक ही व्यापक है, मगर जुदा-जुदा अन्तःकरणों की उपाधि से अलग-अलग हुआ दृष्टिगोचर होता है जिस तरह यदि दर्पण में लकीर पड़ जाय और दर्पण दो टुकड़े होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, तो प्रतिबिंब में वह दोष विद्यमान हो जाते हैं और दर्पण की लकीर प्रतिबिम्बित वस्तु में लकीर और उलट पलट होती दिखलाती है, यद्यपि प्रतिबिम्बित वस्तु ज्यों की त्यों स्थित होती है। इसी तरह अन्तःकरण की बनावट के दोष या उसका उलटा-पलटापन जीव-आत्मा को विकारी अर्थात् पुण्य या पाप वाला, उत्साह वाला या अनुत्साह वाला होने का भान वा प्रतीत कराता है। आत्मा का इन गुणों या दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं, वह ज्यों का त्यों अपने स्वरूप में स्थित रहता है। अब हम देखते हैं कि जब तक अन्तःकरण का दर्पण स्थिर रहता है, तब तक जीवात्मा बँधा हुआ और कर्त्ता-भोक्ता के समान मालूम होता है और जन्मता-मरता एक आवागवन-चक्र में भ्रमता मालूम होता है।

आवागवन का कारण कर्मों की गति के संस्कार हैं, जो मरने के समय आनंदमय कोश अर्थात् जीव-आत्मा में बीज के रूप में रहते हैं। जिस तरह बीज को उपजाऊ भूमि में डालने से उसकी उत्पत्ति होती है, उसी तरह जब ये संस्कार अन्तःकरण में प्रत्यावर्तित वा पुनरावर्तित होते हैं, तो भोग दिलाने योग्य देह को उत्पन्न करके इच्छाओं को पूरा करते हुए और नवीन कर्मों को कराते हुए भविष्य संस्कारों का समुच्चय बढ़ाते हुए संसार में जीवात्मा को भड़काते रहते हैं। जब

दृष्टिगोचर होगा, तो भी सब कोई जानता है कि सूर्य एक है। परन्तु दर्पणों और पानी से भरे हुए बर्तनों की उपाधि के कारण प्रत्येक दर्पण और बर्तन में अलग-अलग सूर्य दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह ज्ञानवान जानता है कि आत्मा एक ही व्यापक है, मगर जुदा-जुदा अन्तःकरणों की उपाधि से अलग-अलग हुआ दृष्टिगोचर होता है जिस तरह यदि दर्पण में लकीर पड़ जाय और दर्पण दो टुकड़े होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, तो प्रतिबिंब में वह दोष विद्यमान हो जाते हैं और दर्पण की लकीर प्रतिबिम्बित वस्तु में लकीर और उलट पलट होती दिखलाती है, यद्यपि प्रतिबिम्बित वस्तु ज्यों की त्यों स्थित होती है। इसी तरह अन्तःकरण की बनावट के दोष या उसका उलटा-पलटापन जीव-आत्मा को विकारी अर्थात् पुण्य या पाप वाला, उत्साह वाला या अनुत्साह वाला होने का भान वा प्रतीत कराता है। आत्मा का इन गुणों या दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं, वह ज्यों का त्यों अपने स्वरूप में स्थित रहता है। अब हम देखते हैं कि जब तक अन्तःकरण का दर्पण स्थिर रहता है, तब तक जीवात्मा बँधा हुआ और कर्त्ता-भोक्ता के समान मालूम होता है और जन्मता-मरता एवं आवागवन-चक्र में भ्रमता मालूम होता है।

आवागवन का कारण कर्मों की गति के संस्कार हैं, जो मरने के समय आनंदमय कोश अर्थात् जीव-आत्मा में बीज के रूप में रहते हैं। जिस तरह बीज को उपजाऊ भूमि में डालने से उसकी उत्पत्ति होती है, उसी तरह जब ये संस्कार अन्तःकरण में प्रत्यावर्तित वा पुनरावर्तित होते हैं, तो भोग दिलाने योग्य देह को उत्पन्न करके इच्छाओं को पूरा करते हुए और नवीन कर्मों को कराते हुए भविष्य संस्कारों का समुच्चय बढ़ाते हुए संसार में जीवात्मा को भड़काते रहते हैं। जब

प्रत्यावर्तित होता है, और विज्ञान रूपी शालक ऐसी गतियों को आनंदमय कोषमें जाने की कदापि आज्ञा नहीं देता। जिस प्रकार से प्रकाशित और शक्तिमान हुआ ज्ञानीपुरुष का विज्ञान बाह्य विचारों के भीतर आने को बाधक होता है, उसी तरह उन संस्कारों को जो आनंदमय कोष में अनेक जन्मों से संचित हैं, अंतःकरणमें जो संस्कारों के विकाश पाने की भूमी है, प्रत्यावर्तन के लिये बाधक होता है। क्योंकि अब उसको भविष्य की आवश्यकताओं के सोचने की आवश्यकता नहीं रहती, और नहीं कोई इच्छाओं को पूरा करने का संकल्प ही शेष रहता है। जो प्रारब्ध से प्राप्त हुए शुभ या अशुभ कर्मों के फल अर्थात् भोग उस को मिलते हैं बिना किसी द्वेष या प्रीति के उनको भोगता है, और सबसे अलग और उदासीन रहता है। अब उसको ...ोई दुखका कारण है और न सुख का। न उसको कोई ...र का भय है और न सांसारिक सुखों की प्राप्ति का ...ंद। न उसका कोई शत्रु है न मित्र। न उसका कोई संबंधी ...। वह किसी का बंधु है। माता और पिता, लाज-शरम से ...। ऐसा संपन्न (लापरवाह), जिसको कोई ज़रूरत शेष ...। ज्येष्ठ से ज्येष्ठ और लघु से लघु, पवित्र से पवित्र ...र मैले से मैला, ऊँचासे ऊँचा और अधम से अधम, बड़े से ...। और छोटेसे छोटा, तात्पर्य यह कि सब कुछ उसको प्राप्त ...जाता है, सब में सब कुछ वह अपने आप को देखता है, ...नंदरूप जीवनयापन (व्यतीत) करता है। यह अवस्था ...भवान् के जीवन में होती है, और इस अवस्था की दृष्टि ... वह जीवन-मुक्त कहलाता है। मरने पर उसकी कोई ...त नहीं होती। उस के प्राण वायु में, उसकी ऊष्णता ...ग्नि में, पानी पानी में और पृथ्वी पृथ्वी में समा जाते हैं।

प्रत्यावर्तित होता है, और विज्ञान रूपी शालक ऐसी गतियों को आनंदमय कोषमें आने की कदापि आज्ञा नहीं देता। जिस प्रकार से प्रकाशित और शक्तिमान हुआ ज्ञानीपुरुष का विज्ञान बाह्य विचारों के भीतर आने को बाधक होता है, उसी तरह उन संस्कारों को जो आनंदमय कोष में अनेक जन्मों से संचित हैं, अंतःकरणमें जो संस्कारों के विकाश पाने की भूमी है, प्रत्यावर्तन के लिये बाधक होता है। क्योंकि अब उसको भविष्य की आवश्यकताओं के सोचने की आवश्यकता नहीं रहती, और नहीं कोई इच्छाओं को पूरा करने का संकल्प ही शेष रहता है। जो प्रारब्ध से प्राप्त हुए शुभ या अशुभ कर्मों के फल अर्थात् भोग उस को मिलते हैं बिना किसी द्वेष या प्रीति के उनको भोगता है, और सबसे अलग और उदासीन रहता है। अब उसको न कोई दुखका कारण है और न सुख का। न उसको कोई पतन का भय है और न सांसारिक सुखों की प्राप्ति का आनंद। न उसका कोई शत्रु है न मित्र। न उसका कोई संबंधी है न वह किसी का बंधु है। माता और पिता, लाज-शरम से परे। ऐसा संपन्न (लापरवाह), जिसको कोई ज़रूरत शेष नहीं। ज्येष्ठ से ज्येष्ठ और लघु से लघु, पवित्र से पवित्र और मैले से मैला, ऊँचासे ऊँचा और अधम से अधम, बड़े से बड़ा और छोटेसे छोटा, तात्पर्य यह कि सब कुछ उसको प्राप्त हो जाता हैं, सब में सब कुछ वह अपने आप को देखता है, आनंदरूप जीवनयापन (व्यतीत) करता है। यह अवस्था ज्ञानवान् के जीवन में होती है, और इस अवस्था की दृष्टि से वह जीवन-मुक्त कहलाता है। मरने पर उसकी कोई गति नहीं होती। उस के प्राण वायु में, उसकी ऊष्णता अग्नि में, पानी पानी में और पृथ्वी पृथ्वी में समा जाते हैं।

और अब याद आ जाय तो कहता है कि "जिस वस्तु की मैं खोज में था, वह मुझ को मिलगई", इसको प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं। यही हाल मुक्ति का है। कोई नई वस्तु प्राप्त नहीं की गई। आत्मा सदैव मुक्त और असंग था और रहेगा। यही दशा उसके प्रतिबिंब की है। जो असल का तद्रूप है। परंतु अज्ञान के कारण अपने आपको पृथक मानकरे सुखी दुखी होता हुआ मालूम होता था, अब अज्ञान दूर हुआ, तो समझता है कि मुक्ति प्राप्त हुई। वास्तव में कोई नई वस्तु नहीं मिली। प्राप्त वस्तु तो पहले ही से मौजूद थी। इस लाभ को प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं।

ज्ञानवान के मरने पर कहा गया है कि उसके देह के तत्त्व विराट के तत्वों में और उसका अंतः करण विराट के अंतःकरणमें समा जाता है। जो आकार वा व्यक्तित्व सूक्ष्म शरीर का था, वह टूट जाता है, और जो अंतः करण की विद्यमानता के कारण जन्म-मरण होता था, वह नहीं होता, किंतु जो संचित कर्म संस्कार रूप से आनंदमय कोश में विद्यमान थे और जिनको विज्ञानमय कोश ने अंतः करण में वापिस लौटने से रोक रक्खा था, उनके विषय में वर्णन नहीं किया गया कि उनकी क्या दशा हुई। ये संस्कार शुभाशुभ कर्मों के फल होते हैं, आनंदमयकोष और अंतः करण जिनके साथ इनका संबन्ध था, इन दोनों के नाश होने पर ये निराश्रय (निराधार) हो जाते हैं। परंतु प्रकृति (nature) के भीतर हम देखते हैं कि एक ही प्रकार की वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे की ओर आकर्षित होती हैं और इस विषय को संक्षेप से इस रूप में वर्णन किया गया है कि "कुनद हमजिन्स वा हमजिन्स पर वाज़"–एक समान वृत्ति के सज्जन एकत्र उड़ा करते हैं. अतः जो लोग ज्ञानवान्

और अब याद आ जाय तो कहता है कि "जिस वस्तु की मैं खोज में था, वह मुझ को मिलगई", उसको प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं। यही हाल मुक्ति का है। कोई नई वस्तु प्राप्त नहीं की गई। आत्मा सदैव मुक्त और असंग था और रहेगा। यही दशा उसके प्रतिबिंब की है। जो असल का तद्रूप है। परंतु अज्ञान के कारण अपने आपको पृथक मानकर सुखी दुखी होता हुआ मालूम होता था, जब अज्ञान दूर हुआ, तो समझता है कि मुक्ति प्राप्त हुई। वास्तव में कोई नई वस्तु नहीं मिली। प्राप्त वस्तु तो पहले ही से मौजूद थी। इस लाभ को प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं।

ज्ञानवान के मरने पर कहा गया है कि उसके देह के तत्त्व विराट के तत्वों में और उसका अंतः करण विराट के अंतःकरणमें समा जाता है। जो आकार वा व्यक्तित्व सूक्ष्म शरीर का था, वह टूट जाता है, और जो अंतः करण की विद्यमानता के कारण जन्म-मरण होता था, वह नहीं होता, किंतु जो संचित कर्म संस्कार रूप से आनंदमय कोश में विद्यमान थे और जिनको विज्ञानमय कोश ने अंतः करण में वापिस लौटने से रोक रक्खा था, उनके विषय में वर्णन नहीं किया गया कि उनकी क्या दशा हुई। ये संस्कार शुभाशुभ कर्मों के फल होते हैं, आनंदमयकोष और अंतः करण जिनके साथ इनका संबन्ध था, इन दोनों के नाश होने पर ये निराश्रय (निराधार) हो जाते हैं। परंतु प्रकृति (nature) के भीतर हम देखते हैं कि एक ही प्रकार की वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे की ओर आकर्षित होती हैं और इस विषय को संक्षेप से इस रूप में वर्णन किया गया है कि "कुनद हमजिन्स बा हमजिन्स पर वाज़"=एक समान वृत्ति के सज्जन एकत्र उड़ा करते हैं, अतः जो लोग ज्ञानवान्

वेदानुवचन

श्री बावा नगीनासिंह कृत वेदी, आत्मदर्शी

वेदानुवचन

श्री बाबा नगीनासिंह कृत वेदी, आत्मदर्शी

भूमिका

(१) बाबा नगीनासिंह वेदी ऋषि मुनि का यह संग्रह केवल वेद भगवान् की शिक्षा के लिये अलग किया गया है और भाषा जाननेवाले महाशयों के मिलाप के लिये अच्छा वकील बनाया गया है। अतः जो कोई उसकी सुनता है, वह उन्हें समझ का एक पदक प्रदान करता है जिससे वह बिना रोक टोक द्यौलोक में, जो ब्रह्मलोक है, चला जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है।

(२ उसकी शिक्षा वास्तव में मानुषी नहीं वरन् वही दैवी है जो परमेष्ठी आदिक ऋषियों ने स्वयं ब्रह्मा से पाई है और दो वंश के ऋषियों के द्वारा—जो एक पुरुष-वंश है, दूसरा स्त्रीवंश—हम तक चली आई है।

(३) अब मैं घोषणा करता वरन् तुम्हें शुभ-संवाद सुनाता हूँ कि वेद भगवान् के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि तुम्हारे मिलाप के लिये देव ने एक अनादि नियम ठहराया है जिसके कारण तुम ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हो सकते हो और मुक्ति-भुक्ति पा सकते हो।

(४) वह उसी प्रकार का नियम है जैसा कि यहाँ गवर्नमेंट का वादा है कि जो संसार की विद्याओं का सर्टिफ़िकेट प्राप्त कर लेता है और अच्छे आचरण का होता है, वही सरकारी सेवा के योग्य समझा जाता है और शासकों के दरबार में स्थान पाता है।

(५) मैं सच कहता हूँ कि जिस प्रकार सांसारिक वा व्यावहारिक, विद्या की बदौलत तुम संसार की संपत्ति

भूमिका

(१) बाबा नगीनासिंह वेदी ऋषि मुनि का यह संग्रह केवल वेद भगवान् की शिक्षा के लिये अलग किया गया है और भाषा जाननेवाले महाशयों के मिलाप के लिये अच्छा वकील बनाया गया है। अतः जो कोई उसकी सुनता है, वह उन्हें समझ का एक पदक प्रदान करता है जिससे वह बिना रोक टोक द्यौलोक में, जो ब्रह्मलोक है, चला जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है।

(२ उसकी शिक्षा वास्तव में मानुषी नहीं वरन् वही दैवी है जो परमेष्ठी आदिक ऋषियों ने स्वयं ब्रह्मा से पाई है और दो वंश के ऋषियों के द्वारा—जो एक पुरुष-वंश है, दूसरा स्त्रीवंश—हम तक चली आई है।

(३) अब मैं घोषणा करता वरन् तुम्हें शुभ-संवाद सुनाता हूँ कि वेद भगवान् के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि तुम्हारे मिलाप के लिये दैव ने एक अनादि नियम ठहराया है जिसके कारण तुम ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हो सकते हो और मुक्ति-भुक्ति पा सकते हो।

(४) वह उसी प्रकार का नियम है जैसा कि यहाँ गवर्नमेंट का वादा है कि जो संसार की विद्याओं का सार्टि-फ़िकेट प्राप्त कर लेता है और अच्छे आचरण का होता है, वही सरकारी सेवा के योग्य समझा जाता है और शासकों के दरबार में स्थान पाता है।

(५) मैं सच कहता हूँ कि जिस प्रकार सांसारिक वा व्यावहारिक विद्या की बदौलत तुम संसार की संपत्ति

भवन, निदान जो कुछ चाहो बाग़-बग़ीचा, नहरें, सब संकल्प से प्राप्त हो जाते हैं और यही ब्रह्मलोक है।

(१०) अतः आओ, मेरी सुनो और मुझ पर भरोसा करो। मैं तुम्हारे मिलाप के लिये अच्छा वकील अथवा उत्तम द्वार बनकर आया हूँ। मैं तुम्हें उन पदार्थों को दिलाऊँगा जिन्हें आँखें नहीं देखतीं, और कान नहीं सुनते, तथा सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने जिन्हें तुम्हारे लिये ब्रह्मलोक में तैयार किया है। उसके मिलाप का आनन्द एक विशेष सुख है जिसे परमानंद कहते हैं और जिसे पाकर मनुष्य मुक्त होजाता है।

(११) कदाचित् कोई कहे कि यह क्योंकर हो सकता है! यह तो कठिन बल्कि अति कठिन है; क्योंकि ये बातें केवल प्रलाप हैं, सम्भव नहीं; काल्पनिक हैं, निश्चित नहीं; शाब्दिक हैं, प्रामाणिक नहीं; तो मैं समझाए देता हूँ कि ईश्वरीय नियम में कुछ भी कठिन नहीं, बल्कि सब संभव है। इसलिये मैं उन सिद्धान्तों का वेद भगवान् से संग्रह करके अनुवाद करता हूँ कि जिससे तुम्हें इसका विश्वास आ जाय।

(१२) क्योंकि जब तक सुनता नहीं तब तक जानता नहीं, जब तक जानता नहीं तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक विश्वास नहीं करता तब तक चलता नहीं। अतएव पहले सुनता है, फिर जानता है, फिर विश्वास करता है, और फिर आचरण करता है।

(१३) वेदों का सार-तत्व यह है कि मनुष्य अन्त में देवता हो जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है। और इस मिलाप के लिये केवल दो साधन हैं—एक तो कर्म-कांड है, दूसरा ज्ञान-कांड। समस्त वेद इन्हीं दो साधनों की विशद शिक्षा देते हैं।

भवन, निदान जो कुछ चाहो बाग़-बग़ीचा, नहरें, सब संकल्प से प्राप्त हो जाते हैं और यही ब्रह्मलोक है।

(१०) अतः आओ, मेरी सुनो और मुझ पर भरोसा करो। मैं तुम्हारे मिलाप के लिये अच्छा वकील अथवा उत्तम द्वार बनकर आया हूँ। मैं तुम्हें उन पदार्थों को दिखाऊँगा जिन्हें आँखें नहीं देखतीं, और कान नहीं सुनते, तथा सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने जिन्हें तुम्हारे लिये ब्रह्मलोक में तैयार किया है। उसके मिलाप का आनन्द एक विशेष सुख है जिसे परमानंद कहते हैं और जिसे पाकर मनुष्य मुक्त होजाता है।

(११) कदाचित् कोई कहे कि यह क्योंकर हो सकता है? यह तो कठिन बल्कि अति कठिन है; क्योंकि ये बातें केवल प्रलाप हैं, सम्भव नहीं; काल्पनिक हैं, निश्चित नहीं; शाब्दिक हैं, प्रामाणिक नहीं; तो मैं समझाए देता हूँ कि ईश्वरीय नियम में कुछ भी कठिन नहीं, बल्कि सब संभव है। इसलिये मैं उन सिद्धान्तों का वेद भगवान् से संग्रह करके अनुवाद करता हूँ कि जिससे तुम्हें इसका विश्वास आ जाय।

(१२) क्योंकि जब तक सुनता नहीं तब तक जानता नहीं, जब तक जानता नहीं तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक विश्वास नहीं करता तब तक चलता नहीं। अतएव पहले सुनता है, फिर जानता है, फिर विश्वास करता है, और फिर आचरण करता है।

(१३) वेदों का सार-तत्त्व यह है कि मनुष्य अन्त में देवता हो जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है। और इस मिलाप के लिये केवल दो साधन हैं—एक तो कर्म-कांड है, दूसरा ज्ञान-कांड। समस्त वेद इन्हीं दो साधनों की विशद शिक्षा देते हैं।

है कि जो विमल बुद्धि और पवित्र हृदय रखता है। और यह भी स्पष्ट है कि अन्तःकरण और बुद्धि की शुद्धि कर्म के बिना नहीं हो सकती, इस लिये प्रसाद के अभिलाषियों का पहला पग कर्म है, फिर ज्ञान।

(१६) इसी कारण वेदों में कर्म-कांड का वर्णन पहले किया जाता है और ज्ञान को अन्त में सिखाया जाता है। हम भी इस शिक्षा में पहले कर्मकांड के सिद्धांत और फिर ज्ञान-कांड के सिद्धांतों का अनुवाद करेंगे। किन्तु उतना ही जितना कि भाषा जानने वाले महाशयों के लिये उपयुक्त समझा गया है। जिन्हें सब की चाह हो, वे स्वयं वेद भगवान् से जानें।

(२०) अब हम अपने ईश्वर-परमात्मा का मंगलाचरण करते हैं कि हम ने जो कुछ प्रतिज्ञा की है, उसे हम पूरा करें और जो कुछ हम लिखें, वेद के अनुकूल हो और हमारे शिष्य जो श्रद्धा और भक्ति से उसे पढ़ें, प्रसाद का साक्षात्कार पावें, जिस के कि हम सब अभिलाषी हैं।

(२१) इस लिये कि यह शिक्षा हमारी काल्पनिक नहीं वरन् वेदों से ली गई है, जो ईश्वरीय है, अतः इस का नाम भी "ईश्वरीय-शिक्षा" कहा जाता है। यद्यपि यह भाषा में अनुवादित कर दी गई हैं, तो भी अर्थ की दृष्टि से यह सम्पूर्ण वेदों का अनुवचन अर्थात् ईश्वरीय वाणी है।

है कि जो विमल बुद्धि और पवित्र हृदय रखता है। और यह भी स्पष्ट है कि अन्तःकरण और बुद्धि की शुद्धि कर्म के बिना नहीं हो सकती, इस लिये प्रसाद के अभिलाषियों का पहला पग कर्म है, फिर ज्ञान।

(१६) इसी कारण वेदों में कर्म-कांड का वर्णन पहले किया जाता है और ज्ञान को अन्त में सिखाया जाता है। हम भी इस शिक्षा में पहले कर्मकांड के सिद्धांत और फिर ज्ञान-कांड के सिद्धांतों का अनुवाद करेंगे। किन्तु उतना ही जितना कि भाषा जानने वाले महाशयोंके लिये उपयुक्त समझा गया है। जिन्हें सब की चाह हो, वे स्वयं वेद भगवान् से जानें।

(२०) अब हम अपने ईश्वर-परमात्मा का मंगलाचरण करते हैं कि हम ने जो कुछ प्रतिज्ञा की है, उसे हम पूरा करें और जो कुछ हम लिखें, वेद के अनुकूल हो और हमारे शिष्य जो श्रद्धा और भक्ति से उसे पढ़ें,प्रसाद का साक्षात्कार पावें, जिस के कि हम सब अभिलाषी हैं।

(२१) इस लिये कि यह शिक्षा हमारी काल्पनिक नहीं बरन् वेदों से ली गई है, जो ईश्वरीय है, अतः इस का नाम भी "ईश्वरीय-शिक्षा" कहा जाता है। यद्यपि यह भाषा में अनुवादित कर दी गई हैं, तो भी अर्थ की दृष्टि से यह सम्पूर्ण वेदों का अनुवचन अर्थात् ईश्वरीय वाणी है।

अपवित्र जलबिंदु था, जो पिता के वीर्य-स्रोत में रक्खा हुआ था। लेकिन जब समय आया, तो प्रकृति ने उसे माता के गर्भ में, जो गर्भाशय है, सींचा। फिर वहाँ से वह प्राकृतिक रिपाक के द्वारा लोथड़ा, बुदबुद, कलकल, निकट प्रसव ालक (जनयन) होगया और नियत समय पर मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ और जीवित प्राणी हो गया। इस कारण ाह निश्चय पूर्वक जान सकता है कि वह पानी से बनाया ाया है।

(३) अभी और अधिक विचार करना चाहिए कि जब ाह पिता के वीर्य-स्रोत में वीर्य नहीं बना था, तो कहाँ था ौर क्या था? मैं विश्वास करता हूँ कि वह अल्प विचार र ही तत्काल जान लेगा कि इससे पहले वह केवल अन्न था, जेसे उसके पिता ने खाया। फिर वह पिता के पक्वाशय में ाचा और उसका रस यकृत में गया और रक्त हुआ। फिर क्त होकर प्रत्येक अंग में आहार हुआ और उनसे निचोड़ की तरह उसका खुलासा (सार) वीर्य के स्रोत में आया और वीर्य के रूप में प्रकट हुआ।

(४) अन्न का वास्तविक रूप एक घास-पात है, जो धरती से निकलती है। इससे मालूम हुआ कि वह किसी समय धरती के गर्भ में था और उसने उसको वनस्पति के रूप में जना, और फिर वह मनुष्य के पिता का आहार हुआ। इस तरह की सोच-विचार से वह निश्चय कर सकता है कि वह आरंभ में मिट्टी था और मिट्टी से निकल कर, दैवी-प्रकृति के द्वारा रूप बदलता हुआ, मनुष्य हो गया।

(५) अभी इसको यहीं पर विश्राम नहीं देना चाहिए, वरन् देखना चाहिए कि वह अब सदैव इसी मनुष्य-चोले

अपवित्र जलबिंदु था, जो पिता के वीर्य-स्रोत में रक्खा हुआ था। लेकिन जब समय आया, तो प्रकृति ने उसे माता के गर्भ में, जो गर्भाशय है, सींचा। फिर वहाँ से वह प्राकृतिक परिपाक के द्वारा लोथड़ा, बुदबुद, कलकल, निकट प्रसैव बालक (जनयन) होगया और नियत समय पर मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ और जीवित प्राणी हो गया। इस कारण वह निश्चय पूर्वक जान सकता है कि यह पानी से बनाया गया है।

(३) अभी और अधिक विचार करना चाहिए कि जब वह पिता के वीर्य-स्रोत में वीर्य नहीं बना था, तो कहाँ था और क्या था ? मैं विश्वास करता हूँ कि वह अल्प विचार से ही तत्काल जान लेगा कि इससे पहले वह केवल अन्न था, जिसे उसके पिता ने खाया। फिर वह पिता के पक्वाशय में पचा और उसका रस यकृत में गया और रक्त हुआ। फिर रक्त होकर प्रत्येक अंग में आहार हुआ और उनसे निचोड़ की तरह उसका खुलासा (सार) वीर्य के स्रोत में आया और वीर्य के रूप में प्रकट हुआ।

(४) अन्न का वास्तविक रूप एक घास-पात है, जो धरती से निकलती है। इससे मालूम हुआ कि वह किसी समय धरती के गर्भ में था और उसने उसको वनस्पति के रूप में जना, और फिर वह मनुष्य के पिता का आहार हुआ। इस तरह की सोच-विचार से वह निश्चय कर सकता है कि वह आरंभ में मिट्टी था और मिट्टी से निकल कर, दैवी-प्रकृति के द्वारा रूप बदलता हुआ, मनुष्य हो गया।

(५) अभी इसको यहीं पर विश्राम नहीं देना चाहिए, वरन् देखना चाहिए कि वह अब सदैव इसी मनुष्य-चोले

वास्तविक रस (द्रव वा सत्य) जो विविध मूर्तियों का कारण है, सूर्य के प्रभाव से वाष्प के रूप में आकाश को उड़े और बादल बन जाय। फिर बादल (मेघ) से बिजुली और बिजुली से तेज बनकर किरणों में जा मिले और किरणों द्वारा सूर्य-गर्भ में चला जाय। सूर्य में इसी तरह घास-पात के रूप में पैदा होता हुआ द्यौलोक निवासियों का आहार बनता है, जिस को देवता कहते हैं। और वहाँ, उसी नियम से, नर-नारी देवताओं में भ्रमण करता हुआ देवता ही हो जाता है। इसी तरह हम विश्वास करते हैं कि भूलोक का प्राणी द्यौलोक का प्राणी अथवा मनुष्य देवता हो सकता है। दैवी-विधान में यह कुछ भी कठिन नहीं है।

——:o:——

दूसरा अध्याय

(१) अब वेद भगवान् के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि पृथिवी, सूर्य, चंद्रमा, बरन् समस्त नक्षत्र वसुदेवता है, अर्थात् देवताओं की बस्तियाँ हैं। अतः जिस प्रकार पृथ्वी पर सृष्टि बसी हुई है, उसी तरह सूर्य, चंद्रमा और समस्त नक्षत्रों में भी सृष्टि का निवास है। इसी कारण कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण पृथ्वी को "भूलोक", सूर्य को "सुरलोक", और चंद्रमा को "सोमलोक" कहते हैं।

(२) जिस तरह पृथिवी पर की सृष्टि पृथ्वी से निकली हुई खाकी (मृतिकामयी) और अंधकारमयी होती है, उसी तरह चंद्रमाकी सृष्टि चंद्रमा से निकली हुई चंद्रवदन तथा सूर्य की सृष्टि सूर्य से निकली हुई सूर्यवदन अर्थात् ज्योतिर्मयी

वास्तविक रस (द्रव वा सत्य) जो विविध मूर्तियों का कारण है, सूर्य के प्रभाव से बाष्प के रूप में आकाश को उड़े और बादल बन जाय। फिर बादल (मेघ) से बिजुली और बिजुली से तेज बनकर किरणों में जा मिले और किरणों द्वारा सूर्य-गर्भ में चला जाय। सूर्य में इसी तरह घास-पात के रूप में पैदा होता हुआ द्यौलोक निवासियों का आहार बनता है, जिस को देवता कहते हैं। और वहाँ, उसी नियम से, नर-नारी देवताओं में भ्रमण करता हुआ देवता ही हो जाता है। इसी तरह हम विश्वास करते हैं कि भूलोक का प्राणी द्यौलोक का प्राणी अथवा मनुष्य देवता हो सकता है। दैवी-विधान में यह कुछ भी कठिन नहीं है।

——:o:——

दूसरा अध्याय

(१) अब वेद भगवान् के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि पृथिवी, सूर्य, चंद्रमा, बरन् समस्त नक्षत्र वसुदेवता है, अर्थात् देवताओं की बस्तियाँ हैं। अतः जिस प्रकार पृथ्वी पर सृष्टि बसी हुई है, उसी तरह सूर्य, चंद्रमा और समस्त नक्षत्रों में भी सृष्टि का निवास है। इसी कारण कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण पृथ्वी को "भूलोक", सूर्य को "सुरलोक", और चंद्रमा को "सोमलोक" कहते हैं।

(२) जिस तरह पृथिवी पर की सृष्टि पृथ्वी से निकली हुई खाकी (मृतिकामयी) और अंधकारमयी होती है, उसी तरह चंद्रमाकी सृष्टि चंद्रमा से निकली हुई चंद्रवदन तथा सूर्य की सृष्टि सूर्य से निकली हुई सूर्यवदन अर्थात् ज्योतिर्मयी

भाव की वहाँ गति नहीं, और यह सब से सुन्दर शोभायमान है, यहाँ के भोग और सुख सब से बढ़कर है। क्योंकि उन के शरीर-तन जितने ही शुद्ध हैं, आत्मिक प्रभाव उतने ही अधिक पूर्ण और प्रबल है। इसी कारण यहाँ की सृष्टि सत्य काम और सत्य संकल्प होती है और यही लोक सुरलोक और यहां की सृष्टि (जनता) सुर देवता कहलाती है।

(७) वेद की श्रुतियां सूर्य को अमृत का यूप समझती हैं और देवताओं को मधु-मक्षिका की भांति ख्याल करती हैं, जो इस अमृत को खाते हैं। और सर्वोपरि इस में परमेश्वर-दर्शन का आनन्द है कि यहां वह प्रजापति का दर्शन भी पा सकते हैं।

तीसरा अध्याय

(१) कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण कहते है समस्त संसार, क्या लोक, क्या परलोक, समष्टि-रूप से, अग्नि का एक दैवी कारखाना है, जिस में ५ बड़े-बड़े एंजिन अर्थात् अग्निकुण्ड जल रहे हैं। मनुष्य इसी कारखानेमें रूप पर रूप बदलता हुआ कभी पार्थिव, कभी चांद्र, और कभी सौर मूर्तियां धारण करता रहता है। पहला एंजिन सूर्य है, दूसरा एंजिन बादल (मेघ) है, तीसरा एंजिन पृथिवी है, चौथा एंजिन नर है, पाँचवाँ एंजिन नारी है।

(२) जब यह परलोक में मरता है, तो उसे सौर-एंजिन में झोंकते हैं और वहां से वह मेघ-एंजिन में आता है, फिर बादलों से बरसता हुआ पृथिवी-एंजिन में गर्भित होता

भाव की वहाँ गति नहीं, और यह सब से सुन्दर शोभायमान है, यहाँ के भोग और सुख सब से बढ़कर हैं। क्योंकि उन के सौर-तन जितने ही शुद्ध हैं, आत्मिक प्रभाव उतने ही अधिक पूर्ण और प्रबल हैं। इसी कारण यहाँ की सृष्टि सत्य काम और सत्य संकल्प होती है और यही लोक सुरलोक और यहां की सृष्टि (जनता) सुर देवता कहलाती है।

(७) वेद की श्रुतियां सूर्य को अमृत का यूप समझती हैं और देवताओं को मधु-मक्षिका की भांति ख्याल करती हैं, जो इस अमृत को खाते हैं। और सर्वोपरि इस में परमेश्वर-दर्शन का आनन्द है कि यहां वह प्रजापति का दर्शन भी पा सकते हैं।

तीसरा अध्याय

(१) कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण कहते हैं समस्त संसार, क्या लोक, क्या परलोक, समष्टि-रूप से, अग्नि का एक दैवी कारखाना है, जिस में ५ बड़े-बड़े एंजिन अर्थात् अग्निकुण्ड जल रहे हैं। मनुष्य इसी कारखानेमें रूप पर रूप बदलता हुआ कभी पार्थिव, कभी चांद्र, और कभी सौर मूर्तियां धारण करता रहता है। पहला एंजिन सूर्य है, दूसरा एंजिन बादल (मेघ) है, तीसरा एंजिन पृथिवी है, चौथा एंजिन नर है, पाँचवाँ एंजिन नारी है।

(२) जब यह परलोक में भरता है, तो उसे सौर-एंजिन में झोंकते हैं और वहां से वह मेघ-एंजिन में आता है, फिर बादलों से बरसता हुआ पृथिवी-एंजिन में गर्भित होता

को होम करते हैं, तो यह (जीव) सोमराज अर्थात् चन्द्र-लोक-वासी होजाता है।

(६) दूसरी अग्नि होम की मेघ अर्थात् बादल है। वायु उसमें जलती-सी लकड़ियाँ है, धुंध उसमें धुवाँ-सा निकलता है, बिजली उसमें ज्वाला-सी है, बिजली का गिरना या ओलों का बरसना मानों उसके अंगार हैं, बिजली की कड़क चिनगारियाँ-सी हैं। जब देवता (दिव्य शक्तियाँ) चन्द्रलोक-वासी सोमराज को उसमें होम करते हैं, तो वह वर्षा होकर बरसता है।

(७) होम की तीसरी अग्नि पृथिवी अर्थात् भूलोक है। संवत्सर उसकी जलती हुई लकड़ियाँ हैं, आकाश मानों उसमें धुआँ-सा उठता है, अँधेरी रात उसकी ज्वाला है, दिशाएँ मानों अंगार हैं और अवान्तर दिशाएँ मानों उसकी चिनगारियाँ हैं। जब देवता वर्षा को उसमें होम करते हैं, तो वह अन्न बन जाता है।

(८) फिर नर मानों होम की चौथी आग है। उसकी वाणी या खुला हुआ मुँह मानों जलती-सी लकड़ियाँ हैं, साँस का निकलना मानों धुआँ का निकलना है, जिह्वा मानों ज्वाला है, आँखें मानों अंगारा हैं, इंद्रियां मानों चिनगारियाँ हैं। जब देवता अन्न को उसमें होम करते हैं, तो वह वीर्य होता है।

(९) फिर इसी तरह नारी मानों होम की पाँचवीं अग्नि है। उसका उपस्थ (काम-मंदिर) मानों जलती-सी लकड़ियाँ हैं, उसके समिक्षोम (मिलाप-प्रेरणा) मानों धुआँ-सा निकलता है, उसकी योनि मानों ज्वाला है, और उसमें भीतर-प्रवेश मानों अंगारा हैं, और जो उसमें विष-

को होम करते हैं, तो यह (जीव) सोमराज अर्थात् चन्द्र-लोक-वासी होजाता है।

(६) दूसरी अग्नि होम की मेघ अर्थात् बादल है। वायु उसमें जलती-सी लकड़ियाँ है, धुंध उसमें धुवाँ-सा निकलता है, बिजली उसमें ज्वाला-सी है, बिजली का गिरना या ओलों का बरसना मानों उसके अंगार हैं, बिजली की कड़क चिनगारियाँ-सी हैं। जब देवता (दिव्य शक्तियाँ) चन्द्रलोक-वासी सोमराज को उसमें होम करते हैं, तो वह वर्षा होकर बरसता है।

(७) होम की तीसरी अग्नि पृथिवी अर्थात् भूलोक है। संवत्सर उसकी जलती हुई लकड़ियाँ हैं, आकाश मानों उसमें धुआँ-सा उठता है, अँधेरी रात उसकी ज्वाला है, दिशाएँ मानों अंगार हैं और अवान्तर दिशाएँ मानों उसकी चिनगारियाँ हैं। जब देवता वर्षा को उसमें होम करते हैं, तो वह अन्न बन जाता है।

(८) फिर नर मानों होम की चौथी आग है। उसकी वाणी या खुला हुआ मुँह मानों जलती-सी लकड़ियाँ हैं, साँस का निकलना मानों धुआँ का निकलना है, जिह्वा मानों ज्वाला है, आँखें मानों अंगारा हैं, इंद्रियां मानों चिनगारियाँ हैं। जब देवता अन्न को उसमें होम करते हैं, तो वह वीर्य होता है।

(९) फिर इसी तरह नारी मानों होम की पाँचवीं अग्नि है। उसका उपस्थ (काम-मंदिर) मानों जलती-सी लकड़ियाँ हैं, उसके समिल्लोभ (मिलाप-प्रेरणा) मानों धुआँ-सा निकलता है, उसकी योनि मानों ज्वाला है, और उसमें भीतर-प्रवेश मानों अंगारा हैं, और जो उसमें विष-

वही है जो पृथिवीको आती है। ये तीनों सड़कें या अन्धकार-मयी हैं या प्रकाशमयी। क्योंकि जिन सड़कों में उसको तमोमय रूप प्राप्त होते हैं और जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में अचेत-सा रहता है, वे तो तमोमयी सड़कें कहलाती हैं; परन्तु जिन सड़कों में उसको ज्योतिर्मय रूप मिलते हैं और जीवात्मा स्वप्न की दशा में सचेत-सा यात्रा करता है, वे प्रकाशमयी सड़कें कहलाती हैं।

(१३) जो सड़क सूर्य को जाती है, जो प्रजापति की मुख्य राजधानी है, वह प्रकाशमयी सड़क है। यहाँ ब्रह्मलोक-वासी देवता जो सुर देवता कहलाते हैं, उन का बसेरा है, इसलिये इस सड़क को (जो देवलोक को जाती है) 'देव-यान' मार्ग बोलते हैं। परन्तु शेष दो सड़कें, जो चन्द्रमा और पृथिवी को जाती हैं, तमोमयी हैं। किन्तु उस सड़क को, जो चन्द्र-लोक को जाती है, पितृयान-मार्ग कहा करते हैं, क्योंकि प्राणी जब चन्द्रमा को जाता है, तो पहले पितृलोक में जाता है, जो सोमलोक के निकट का मार्ग-निवास अर्थात् सोमलोक के पास की मंज़िल है।

(१४) देवयान की सड़क बाईं ओर से और पितृयान की सड़क दाहिनी ओर से जाती है, जैसा कि अभी ही मालूम होगा। और फिर उस का आरम्भ अग्नि की ज्वाला से और इस का आरम्भ धूम्र से होता है, इस लिये उस को उत्तरायण या अर्चि-मार्ग और इस को दक्षिणायन या धूम्र-मार्ग कहा करते हैं।

(१५) ये दोनों सड़कें, जो देवयान और पितृयान हैं, वास्तव में ऊर्ध्व-मार्ग हैं, और वह अकेली सड़क जो पृथिवी को जाती है, अधो-मार्ग है। और वह वही है, जिस का

वही है जो पृथिवीको आती है। ये तीनों सड़कें या अन्धकार-मयी हैं या प्रकाशमयी। क्योंकि जिन सड़कों में उसको तमोमय रूप प्राप्त होते हैं और जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में अचेत-सा रहता है, वे तो तमोमयी सड़कें कहलाती हैं; परन्तु जिन सड़कों में उसको ज्योतिर्मय रूप मिलते हैं और जीवात्मा स्वप्न की दशा में सचेत-सा यात्रा करता है, वे प्रकाशमयी सड़कें कहलाती हैं।

(१३) जो सड़क सूर्य को जाती है, जो प्रजापति की मुख्य राजधानी है, वह प्रकाशमयी सड़क है। यहाँ ब्रह्मलोक-वासी देवता जो सुर देवता कहलाते हैं, उन का बसेरा है, इसलिये इस सड़क को (जो देवलोक को जाती है) 'देव-यान' मार्ग बोलते हैं। परन्तु शेष दो सड़कें, जो चन्द्रमा और पृथिवी को जाती हैं, तमोमयी हैं। किन्तु उस सड़क को, जो चन्द्र-लोक को जाती है, पितृयान-मार्ग कहा करते हैं, क्योंकि प्राणी जब चन्द्रमा को जाता है, तो पहले पितृलोक में जाता है, जो सोमलोक के निकट का मार्ग-निवास अर्थात् सोमलोक के पास की मंज़िल है।

(१४) देवयान की सड़क बाईं ओर से और पितृयान की सड़क दाहिनी ओर से जाती है, जैसा कि अभी ही मालूम होगा। और फिर उस का आरम्भ अग्नि की ज्वाला से और इस का आरम्भ धूम्र से होता है, इस लिये उस को उत्तरायण या अर्चि-मार्ग और इस को दक्षिणायन या धूम्र-मार्ग कहा करते हैं।

(१५) ये दोनों सड़कें, जो देवयान और पितृयान हैं, वास्तव में ऊर्ध्व-मार्ग हैं, और वह अकेली सड़क जो पृथिवी को जाती है, अधो-मार्ग है। और वह वही है, जिस का

(१६) जब उपर्युक्त नियमानुसार वह ज्वाला हो जाता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से शुक्ल-पक्ष और शुक्ल-पक्ष से बाईं ओर की छमाही, जो उत्तरायण में सूर्य के रहने से तय होती है, हो जाता है। और इस छमाही से फिर वह संवत्सर हो जाता है और संवत्सर से सूर्य में मेल पा जाता है जो देवलोक का मुख्य द्वार है,

(२०) परन्तु जब वह धुआँ होकर उड़ता है, तो धुआँ से अन्धेरी रात और अंधेरी रात से कृष्ण-पक्ष और कृष्ण-पक्ष से दाहिनी ओर की छमाही जिस में सूर्य दक्षिणायन में रहता है, हो जाता है। वहां से यमलोक में जाता है जो पितृलोक भी कहलाता है। यमलोक से चंद्रमा में जाकर सोमराज हो जाता है, और स्वर्गवासी कहलाता है।

(२१) फिर इस ऊर्ध्व-मार्ग के भी तमोमय होने के कारण जीवात्मा इस में भी निद्रा में निमग्न रहता अचेत-सा चला जाता है, जैसा कि वनस्पति से लेकर निकट-जन्म भ्रूण तक यात्रा होती है। तो भी जब वह यमलोक में जाता है, जो सोमराज की उत्पत्ति के निकट स्थान है, तो स्वप्न के समान खुलता है और वहां एक साम्राज्य देखता है जिस में मृतकों का न्याय होता है। यहां एक मैजिस्ट्रेट होता है, जो यमराज कहलाता है।

(२२) पाप और पुण्य के हिसाब-किताब भी सब यहीं पर देखे जाते हैं। हर एक के लिये उसके पापों के अनुसार नरक की कोठरियां नियत हैं। नियत समय तक जीव वहां दुःख पाता है। तौक़ और ज़ंजीर, जो कुछ शास्त्र में विस्तृत रूप से वर्णित हैं, यहां सब सच हैं। दुख भोग चुकने पर वह फिर चंद्रलोक को जाता है। और सोमराज

(१६) जब उपर्युक्त नियमानुसार वह ज्वाला हो जाता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से शुक्ल-पक्ष और शुक्ल-पक्ष से बांई ओर की छमाही, जो उत्तरायण में सूर्य के रहने से तय होती है, हो जाता है। और इस छमाही से फिर वह संवत्सर हो जाता है और संवत्सर से सूर्य में मेल पा जाता है जो देवलोक का मुख्य द्वार है,

(२०) परन्तु जब वह धुआँ होकर उड़ता है, तो धुआँ से अन्धेरी रात और अंधेरी रात से कृष्ण-पक्ष और कृष्ण-पक्ष से दाहिनी ओर की छमाही जिस में सूर्य दक्षिणायन में रहता है, हो जाता है। वहां से यमलोक में जाता है जो पितृलोक भी कहलाता है। यमलोक से चंद्रमा में जाकर सोमराज हो जाता है, और स्वर्गवासी कहलाता है।

(२१) फिर इस ऊर्ध्व-मार्ग के भी तमोमय होने के कारण जीवात्मा इस में भी निद्रा में निमग्न रहता अचेत-सा चला जाता है, जैसा कि वनस्पति से लेकर निकट-जन्म भ्रूण तक यात्रा होती है। तो भी जब वह यमलोक में जाता है, जो सोमराज की उत्पत्ति के निकट स्थान है, तो स्वप्न के समान खुलता है और वहां एक साम्राज्य देखता है जिस में मृतकों का न्याय होता है। यहां एक मैजिस्ट्रेट होता है, जो यमराज कहलाता है।

(२२) पाप और पुण्य के हिसाब-किताब भी सब यहीं पर देखे जाते हैं। हर एक के लिये उसके पापों के अनुसार नरक की कोठरियां नियत हैं। नियत समय तक जीव वहां दुःख पाता है। तौक़ और ज़ंजीर, जो कुछ शास्त्र में विस्तृत रूप से वर्णित हैं, यहां सब सच हैं। दुख भोग चुकने पर वह फिर चंद्रलोक को जाता है। और सोमराज

(२७) अंतिम उन्नति में उसका सूर्य में निवास नहीं होता; वरन् वहाँ से वह चन्द्रलोक को जाता है, जो स्वयं सूर्य का चन्द्र है। वहाँ से भी वह उसके मेघलोक और विद्यु- लोक में चढ़ जाता है और यहाँ ब्रह्मलोक से एक मुख्य देवदूत आता है और उसे ब्रह्मलोक में ले जाता है, जहाँ वह प्रजा- पति से आत्मिक मिलाप पाता है।

(२८) ऐ गौतम, जो इस प्रकार इस पंचाग्नि-विद्या को तत्वतः जानते हैं और संसार-त्यागी होकर वनों में सत्य का पालन करते हैं, वे देवयान सड़क पर चलते हैं और उनका इस संसार में फिर २ आगमन नहीं होता। परन्तु जो यज्ञ-दान से केवल जप-तप का पालन करते हैं और इस प्रकार नहीं जानते हैं, वे पितृयान-सड़क पर चलते हैं और सोमराज होजाते हैं और फिर फिर आते हैं। और, जो इन सड़कों को नहीं जानते और न सत्य का पालन करते हैं और न यज्ञ-दान तप आदिक करते हैं, वे इसी अधोमार्ग पर अग्रसर होते, कीट-पतंग-योनियों को पाते, बार-बार मरते और पैदा होते हैं। उन्हीं के लिये श्रुति कहती है—"जम जम मर और मर मर जम।" यही वेद-आज्ञा है। ऐसी प्रवाहन ने उद्दालक-मुनि को शिक्षा दी।

———:०:———

चौथा अध्याय

(१) नवीन जिज्ञासु को यहाँ आश्चर्य न करना चाहिए कि हम किस प्रकार मरने के पश्चात् ज्वाला, फिर दिन और फिर शुक्ल पक्ष हो जाते हैं? क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष विचार करके जान सकता है कि जो लकड़ी अग्नि में जलाई जाती है,

(२७) अंतिम उन्नति में उसका सूर्य में निवास नहीं होता; वरन् वहाँ से वह चन्द्रलोक को जाता है, जो स्वयं सूर्य का चन्द्र है। वहाँ से भी वह उसके मेघलोक और विद्युलोक में चढ़ जाता है और यहाँ ब्रह्मलोक से एक मुख्य देवदूत आता है और उसे ब्रह्मलोक में ले जाता है, जहाँ वह प्रजापति से आत्मिक मिलाप पाता है।

(२८) ऐ गौतम, जो इस प्रकार इस पंचाग्नि-विद्या को तत्वतः जानते हैं और संसार-त्यागी होकर वनों में सत्य का पालन करते हैं, वे देवयान सड़क पर चलते हैं और उनका इस संसार में फिर २ आगमन नहीं होता। परन्तु जो यज्ञ-दान से केवल जप-तप का पालन करते हैं और इस प्रकार नहीं जानते हैं, वे पितृयान-सड़क पर चलते हैं और सोमराज होजाते हैं और फिर फिर आते हैं। और, जो इन सड़कों को नहीं जानते और न सत्य का पालन करते हैं और न यज्ञ-दान तप आदिक करते हैं, वे इसी अधोमार्ग पर अग्रसर होते, कीट-पतंग-योनियों को पाते, बार-बार मरते और पैदा होते हैं। उन्हीं के लिये श्रुति कहती है—"जम जम मर और मर मर जम।" यही दैव-आज्ञा है। ऐसी प्रवाहन ने उद्दालक-मुनि को शिक्षा दी।

चौथा अध्याय

(१) नवीन जिज्ञासु को यहाँ आश्चर्य न करना चाहिए कि हम किस प्रकार मरने के पश्चात् ज्वाला, फिर दिन और फिर शुक्ल पक्ष हो जाते हैं? क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष विचार करके जान सकता है कि जो लकड़ी अग्नि में जलाई जाती है,

संवत्सर है। यह संवत्सर चन्द्रमा की एक नियत परिक्रमा है, जो उससे पृथक् नहीं। देवतागण (दिव्य शक्तियां) जब हमको उस समय चिकनाई भाग में सम्बन्ध देते हैं, तो पितृयान-सड़क पर एक रूप के पश्चात् दूसरे रूप में गति होती है। और यह सम्बन्ध हमारे कर्मों के कारण होता है, इसलिये कर्म वास्तव में परलोकगति का मुख्य साधन है।

(६) वह कर्म, जो इस प्रकार की परलोकगति का मुख्य कारण है, वास्तव में ईश्वरीय रसायन है, जो संस्कृत में होम कहलाता है। यह ईश्वरीय रसायन अग्नि द्वारा होती है, इस लिये अग्नि में होम करना वस्तुतः ईश्वरीय रसायन का अनुष्ठान करना है। इस का विशेष विधान ब्राह्मणों को ज्ञात है। ब्राह्मण रासायनिक हैं जो अग्नि द्वारा आप रसायन क्रिया करते, हम से भी रसायन-क्रिया कराते हैं, और आप आकाश पर चढ़ते अर्थात् परलोक-गमन करते, हमको भी आकाश पर ले जाते हैं, अर्थात् परलोक गति कराते हैं। इस लिये परलोक गति के लिये अग्नि और ब्राह्मण हमारे द्वार और ईश्वरीय सहायक हैं। अतः जो व्यक्ति अग्नि और ब्राह्मण इन दो द्वारों के बिना परलोक गति की इच्छा करता है, वह भ्रांति और घमंड में है।

(७) यह रासायनिक कर्म भी समष्टि-रूप से दो प्रकार का है, या तो देव-कर्म है या पितृ-कर्म। देव-कर्म में तो अग्नि श्रेष्ठ होती है और पितृ-कर्म में ब्राह्मण। देव-कर्म में अग्नि को श्रेष्ठ समझकर उस में आहुति दी जाती है। और पितृ-कर्म में ब्राह्मण को श्रेष्ठ समझ कर उस के मुख में आहुति दी जाती है।

(८) जब तक हम प्रसाद (फज़ल) की ओर नहीं बुलाए जाते, तब तक उक्त दो प्रकार का कर्म करते रहना

संवत्सर है। यह संवत्सर चन्द्रमा की एक नियत परिक्रमा है, जो उससे पृथक् नहीं। देवतागण (दिव्य शक्तियां) जब हमको उस समय चिकनाई भाग में सम्बन्ध देते हैं, तो पितृयान-सड़क पर एक रूप के पश्चात् दूसरे रूप में गति होती है। और यह सम्बन्ध हमारे कर्मों के कारण होता है, इसलिये कर्म वास्तव में परलोकगति का मुख्य साधन है।

(६) वह कर्म, जो इस प्रकार की परलोकगति का मुख्य कारण है, वास्तव में ईश्वरीय रसायन है, जो संस्कृत में होम कहलाता है। यह ईश्वरीय रसायन अग्नि द्वारा होती है, इस लिये अग्नि में होम करना, वस्तुतः ईश्वरीय रसायन का अनुष्ठान करना है। इस का विशेष विधान ब्राह्मणों को ज्ञात है। ब्राह्मण रासायनिक हैं जो अग्नि द्वारा आप रसायन क्रिया करते, हम से भी रसायन-क्रिया कराते हैं, और आप आकाश पर चढ़ते अर्थात् परलोक-गमन करते, हमको भी आकाश पर ले जाते हैं, अर्थात् परलोक गति कराते हैं। इस लिये परलोक गति के लिये अग्नि और ब्राह्मण हमारे द्वार और ईश्वरीय सहायक हैं। अतः जो व्यक्ति अग्नि और ब्राह्मण इन दो द्वारों के बिना परलोक गति की इच्छा करता है, वह भ्रांति और घमंड में है।

(७) यह रासायनिक कर्म भी समष्टि-रूप से दो प्रकार का है, या तो देव-कर्म है या पितृ-कर्म। देव-कर्म में तो अग्नि श्रेष्ठ होती है और पितृ-कर्म में ब्राह्मण। देव-कर्म में अग्नि को श्रेष्ठ समझकर उस में आहुति दी जाती है। और पितृ-कर्म में ब्राह्मण को श्रेष्ठ समझ कर उस के मुख में आहुति दी जाती है।

(८) जब तक हम प्रसाद (फजल) की ओर नहीं बुलाए जाते, तब तक वह दो प्रकार का कर्म करते रहना

(१२) पहला पितर सूर्य और चंद्रमा का जोड़ा है जो उष्णता और तरलता से मिलाप पा रहा है; दूसरा पितर संवत्सर है जो उत्तरायण और दक्षिणायन से मिलाप पा रहा है; तीसरा पितर मास है जो शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष दोनों से मिलाप पा रहा है; चौथा पितर दिन-रात है जो प्रकाश और अंधकार से मिलाप पाता है; पाँचवाँ पितर अन्न है जो वीर्य और रज से दंपति हुआ है।

(१३) पहले पितर में सूर्य पिता और चन्द्रमा माता है; दूसरे पितर में उत्तरायण पिता और दक्षिणायन माता है, तीसरे पितर में शुक्ल-पक्ष पिता और कृष्ण-पक्ष माता है; और चौथे पितर में दिन पिता और रात माता है; पाँचवें पितर में वीर्य पिता और रज माता है। उत्तरायण में सूर्य से लेकर दिन तक पिताओं की पाँति है, और दक्षिणायन में चन्द्रमा से लेकर रात तक माताओं की पाँति है।

(१४) जो पाँति पिताओं की है, वह वास्तव में ठीक प्राण अर्थात् प्रजापति का आध्यात्मिक तत्व है; और जो पाँति माताओं की है, वह वास्तव में ठीक रयि. अर्थात् प्रजापति का शारीरिक तत्व है, जो बदलता रहता है। अतः जो व्यक्ति पितृयान-सड़क पर चलता है, वास्तव में सोम-राज होता शारीरिक ऊर्ध्व-गति पाता है और जो व्यक्ति देवयान सड़कपर चलता है,वह आध्यात्मिक (मानसिक) ऊर्ध्व-गति पाता है, जो नित्य (शाश्वत) है।

(१५) ये पिता और माताएँ हमारी उत्पत्ति में कारण वा हेतु हैं, जैसे माता-पिता बच्चे को गोद में लेकर पालते-पोसते हैं, इसी तरह हमको मृत्यु के बाद उन की गोद में जाना होता है, और उन्हीं में गर्भित होकर ऊर्ध्व-गति होती

(१२) पहला पितर सूर्य और चंद्रमा का जोड़ा है जो उष्णता और तरलता से मिलाप पा रहा है; दूसरा पितर संवत्सर है जो उत्तरायण और दक्षिणायन से मिलाप पा रहा है; तीसरा पितर मास है जो शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष दोनों से मिलाप पा रहा है; चौथा पितर दिन-रात है जो प्रकाश और अंधकार से मिलाप पाता है; पाँचवाँ पितर अन्न है जो वीर्य और रज से दंपति हुआ है।

(१३) पहले पितर में सूर्य पिता और चन्द्रमा माता है; दूसरे पितर में उत्तरायण पिता और दक्षिणायन माता है, तीसरे पितर में शुक्ल-पक्ष पिता और कृष्ण-पक्ष माता है; और चौथे पितर में दिन पिता और रात माता है; पाँचवें पितर में वीर्य पिता और रज माता है। उत्तरायण में सूर्य से लेकर दिन तक पिताओं की पाँति है, और दक्षिणायन में चन्द्रमा से लेकर रात तक माताओं की पाँति है।

(१४) जो पाँति पिताओं की है, वह वास्तव में ठीक प्राण अर्थात् प्रजापति का आध्यात्मिक तत्त्व है; और जो पाँति माताओं की है, वह वास्तव में ठीक रयि, अर्थात् प्रजापति का शारीरिक तत्त्व है, जो बदलता रहता है। अतः जो व्यक्ति पितृयान-सड़क पर चलता है, वास्तव में सोम-राज होता शारीरिक ऊर्ध्व-गति पाता है और जो व्यक्ति देवयान सड़क पर चलता है, वह आध्यात्मिक (मानसिक) ऊर्ध्व-गति पाता है, जो नित्य (शाश्वत) है।

(१५) ये पिता और माताएँ हमारी उत्पत्ति में कारण वा हेतु हैं, जैसे माता-पिता बच्चे को गोद में लेकर पालते-पोसते हैं, इसी तरह हमको मृत्यु के बाद उन की गोद में आना होता है, और उन्हीं में गर्भित होकर ऊर्ध्व-गति होती

को बख्शती हैं।

(१६) अतः यह सूर्य, वैश्वानर-विश्वरूप-अग्नि, सब का प्राण रूप उदय होता है। वेद-मंत्र इस पर अपनी पर्याप्त साक्षी देता है। क्योंकि वेद का कथन है कि यही स्वर्णमयी किरणों वाला विश्वरूप सूर्य, जो सब का नेत्र और सब का प्राण है, अपनी सहस्रों किरणों से अनेक प्रकार फैलता हुआ मानों हमारा प्राण उदय होता है।

(२०) चन्द्रमा भी इसी प्रकार चढ़ता हुआ प्रत्येक में रयि (माद्दा मूर्तियों का) प्रदान करता है। सूर्य तो जीवन-दायिनी उष्णता (प्राण-स्रोत) प्रदान करता है और चन्द्रमा रयि (मूर्तियों का माद्दा) बख्शता है। प्राण कर्त्ता है और रयि करण वा क्रिया है, और ये दोनों शक्तियाँ, जो प्रजापति की संतति हैं, मिलकर संसार में काम कर रही हैं। प्राण (शक्ति) प्रभाव उत्पन्न करता है, और रयि (माद्दा) बदलती है। इसी तरह हर एक वस्तु की उत्पत्ति और मृत्यु होती है।

(२१) यदि प्राण और रयि—जो सूर्य और चन्द्रमा का सच्चा स्वरूप है—न होते तो कुछ भी न होता। इसलिये यह चन्द्र-सूर्य का जोड़ा प्रजापति की संतान प्रजापतिरूप हमारा प्रथम पितर है। दूसरा पितर संवत्सर है, क्योंकि संवत्सर वास्तव में सूर्य और चन्द्र की परिक्रमा से उत्पन्न होता है। सूर्य की वार्षिक गति से संक्रांतिरूप संवत्सर उत्पन्न होता है और चन्द्रमा की गति से तिथि-रूप वर्ष उत्पन्न होता है।

(२२) संवत्सर चूंकि वस्तुतः पहले पितर की नियत परिक्रमा है, अतएव उससे भिन्न न होने के कारण, यह

को बखशती हैं।

(१९) अतः यह सूर्य, वैश्वानर-विश्वरूप-अग्नि, सब का प्राण रूप उदय होता है। वेद-मंत्र इस पर अपनी पर्याप्त साक्षी देता है। क्योंकि वेद का कथन है कि यही स्वर्णमयी किरणों वाला विश्वरूप सूर्य, जो सब का नेत्र और सब का प्राण है, अपनी सहस्रों किरणों से अनेक प्रकार फैलता हुआ मानों हमारा प्राण उदय होता है।

(२०) चन्द्रमा भी इसी प्रकार चढ़ता हुआ प्रत्येक में रयि (मादा मूर्तियों का) प्रदान करता है। सूर्य तो जीवन-दायिनी उष्णता (प्राण-स्रोत) प्रदान करता है और चन्द्रमा रयि (मूर्तियों का मादा) बख्शता है। प्राण कर्त्ता है और रयि करण वा क्रिया है, और ये दोनों शक्तियाँ, जो प्रजापति की संतति हैं, मिलकर संसार में काम कर रही हैं। प्राण (शक्ति) प्रभाव उत्पन्न करता है, और रयि (मादा) बदलती है। इसी तरह हर एक वस्तु की उत्पत्ति और मृत्यु होती है।

(२१) यदि प्राण और रयि—जो सूर्य और चन्द्रमा का सच्चा स्वरूप है—न होते तो कुछ भी न होता। इसलिये यह चन्द्र-सूर्य का जोड़ा प्रजापति की संतान प्रजापतिरूप हमारा प्रथम पितर है। दूसरा पितर संवत्सर है, क्योंकि संवत्सर वास्तव में सूर्य और चन्द्र की परिक्रमा से उत्पन्न होता है। सूर्य की वार्षिक गति से संक्रांतिरूप संवत्सर उत्पन्न होता है और चन्द्रमा की गति से तिथि-रूप वर्ष उत्पन्न होता है।

(२२) संवत्सर चूंकि वस्तुतः पहले पितर की नियत परिक्रमा है, अतएव उससे भिन्न न होने के कारण, यह

गए हैं और अंत में समाप्त हो जाते हैं और यहाँ से वह प्राणी फिर लौट आता है।

(२५) परन्तु वह जो तप जप और ब्रह्मचर्य करते हैं और "मैं ईश्वर का पुत्र हूँ, शरीर नहीं हूं," "प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप हूँ" ऐसा अटल विश्वास करते हैं, इस निश्चय और विवेक के कारण पिता का पित्रत्व (विरसा) पाते हैं, और प्रजापति की गोद में जा बैठते हैं। और उसी से मेल पाकर द्यौलोक के सिंहासन पर विराजमान होते हैं। यही अमृत है। यहाँ से उनकी तरह जो माता की गोद में जाते हैं, फिर नहीं लौटते।

(२६) संवत्सर का टुकड़ा महीना है जो उसी का पुत्र तीसरा पितर है। उसमें शुक्ल-पक्ष तो पिता है और कृष्ण-पक्ष माता। इन दोनों के मिलाप से मास का अंत होता है, जो प्रजापति का पुत्र प्रजापति रूप है। जो ब्राह्मण अपने आप को आत्मा और प्राण समझता है, शरीर या देह नहीं जानता, वह कृष्ण-पक्ष में भी यज्ञ करता मानों शुक्ल-पक्ष में ही यज्ञ करता है। जो ब्राह्मण अपने आप को आत्मा और प्राण निश्चय नहीं करता वरन् केवल शरीर और सेवक जानता है, वह शुक्ल-पक्ष में भी यज्ञ करता वास्तव में कृष्ण-पक्ष में करता है।

(२७) दिन-रात भी मास का अंश, उसी का आत्मज, चौथा पितर है। उसमें दिन तो पिता है और रात माता। इन दोनों के विवाह से यह चौथा पितर भी समाप्त होता है, और प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप है। जो व्यक्ति दिन को अपनी स्त्री से मैथुन करता है, वास्तव में प्राण की हानि करता है; किंतु वह जो रात को मैथुन करते हैं, भोग करते

गए हैं और अंत में समाप्त हो जाते हैं और यहाँ से वह प्राणी फिर लौट आता है।

(२५) परन्तु वह जो तप जप और ब्रह्मचर्य करते हैं और "मैं ईश्वर का पुत्र हूँ, शरीर नहीं हूं," "प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप हूँ" ऐसा अटल विश्वास करते हैं, इस निश्चय और विवेक के कारण पिता का पित्रस्व (विरसा) पाते हैं, और प्रजापति की गोद में जा बैठते हैं। और उसी से मेल पाकर द्यौलोक के सिंहासन पर विराजमान होते हैं। यही अमृत है। यहाँ से उनकी तरह जो माता की गोद में जाते हैं, फिर नहीं लौटते।

(२६) संवत्सर का टुकड़ा महीना है जो उसी का पुत्र तीसरा पितर है। उसमें शुक्ल-पक्ष तो पिता है और कृष्ण-पक्ष माता। इन दोनों के मिलाप से मास का अंत होता है, जो प्रजापति का पुत्र प्रजापति रूप है। जो ब्राह्मण अपने आप को आत्मा और प्राण समझता है, शरीर या देह नहीं जानता, वह कृष्ण-पक्ष में भी यज्ञ करता मानों शुक्ल-पक्ष में ही यज्ञ करता है। जो ब्राह्मण अपने आप को आत्मा और प्राण निश्चय नहीं करता वरन् केवल शरीर और सेवक जानता है, वह शुक्ल-पक्ष में भी यज्ञ करता वास्तव में कृष्ण-पक्ष में करता है।

(२७) दिन-रात भी मास का अंश, उसी का आत्मज, चौथा पितर है। उसमें दिन तो पिता है और रात माता। इन दोनों के विवाह से यह चौथा पितर भी समाप्त होता है, और प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप है। जो व्यक्ति दिन को अपनी स्त्री से मैथुन करता है, वास्तव में प्राण की हानि करता है, किंतु वह जो रात को मैथुन करते हैं, भोग करते

पितामह है, पालनकर्त्ताओं का स्वामी अर्थात् विश्वम्भर कहलाता है और उसका अनुकरण वास्तव में कर्मकाण्ड है जो होमकर्म कहलाता है, और उसकी विधि विस्तार पूर्वक वेद भगवान् में दर्ज है। इस लिये जो भगवान् के विरुद्ध आचरण करता है, कदापि पारलौकिक उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

(३१) दिन-रात पितर, जो वास्तव में चौथा पितर है, उसमें दिन तो सूर्य की एक छाया वा प्रकाश है और रात धरती की छाया। इस लिये सूर्य और धरती का विवाह मानों साक्षात् पितर दिखाई देता है। इसमें धरती माता और सूर्य पिता है, क्योंकि सूर्य के अत्यन्त ताप से जल बरसता है और उसके प्रभाव और ताप से धरती फलती फूलती है। और यह धरती और सूर्य मिलकर प्रजापति का एक विराट् शरीर है, और शेष पितर उसी के अंग और नाड़ी आदि हैं। और यह सब समष्टि-रूप से एक जीवित पुरुष है जिसको हम विराट् बोलते हैं और पश्चिमीय भाषा (अरबी, फ़ारसी) में यही 'रहमान' कहलाता है।

(३२) देवलोक उस विराट् पुरुष का शिर है, सूर्य नेत्र हैं, और दिशाएँ हाथ हैं, धरती पैर हैं, समुद्र मूत्राशय है, अन्तरिक्ष उसका तन है, वायु उसकी श्वास है, अग्नि उसका मुख है, मनुष्य उसका पुत्र उसी की आकृति में उत्पन्न हुआ है। जिस तरह हमारे अंग और नस-नाड़ी में प्राण और इन्द्रियां हैं, उसी तरह इन पितरों में भी, जो विराट् के अंग और नस-नाड़ीवत् हैं, प्राण और इन्द्रियां हैं, और यही देवता कहलाते हैं।

(३३) जिस तरह हमारे अंगों और इन्द्रियों को हमारे हृदय

पितामह है, पालनकर्त्ताओं का स्वामी अर्थात् विश्वम्भर कहलाता है और उसका अनुकरण वास्तव में कर्मकाण्ड है जो होमकर्म कहलाता है, और उसकी विधि विस्तार पूर्वक वेद भगवान् में दर्ज है। इस लिये जो भगवान् के विरुद्ध आचरण करता है, कदापि पारलौकिक उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

(३१) दिन-रात पितर, जो वास्तव में चौथा पितर है; उसमें दिन तो सूर्य की एक छाया वा प्रकाश है और रात धरती की छाया। इस लिये सूर्य और धरती का विवाह मानों साक्षात् पितर दिखाई देता है। इसमें धरती माता और सूर्य पिता है, क्योंकि सूर्य के अत्यन्त ताप से जल बरसता है और उसके प्रभाव और ताप से धरती फलती फूलती है। और यह धरती और सूर्य मिलकर प्रजापति का एक विराट् शरीर है, और शेष पितर उसी के अंग और नाड़ी आदि हैं। और यह सब समष्टि-रूप से एक जीवित पुरुष है जिसको हम विराट् बोलते हैं और पश्चिमीय भाषा (अरबी, फ़ारसी) में यही 'रहमान' कहलाता है।

(३२) देवलोक उस विराट् पुरुष का शिर है, सूर्य नेत्र हैं, और दिशाएँ हाथ हैं, धरती पैर हैं, समुद्र मूत्राशय है, अन्तरिक्ष उसका तन है, वायु उसकी श्वास है, अग्नि उसका मुख है, मनुष्य उसका पुत्र उसी की आकृति में उत्पन्न हुआ है। जिस तरह हमारे अंग और नस-नाड़ी में प्राण और इन्द्रियां हैं, उसी तरह इन पितरों में भी, जो विराट् के अंग और नस-नाड़ीवत् हैं, प्राण और इन्द्रियां हैं, और यही देवता कहलाते हैं।

(३३) जिस तरह हमारे अंगों और इन्द्रियों को हमारे हृदय

देव-लोक में देवता और सोम-लोक में सोमराज हो जाते हैं और प्रजापति से मेल पा जाते हैं। यह कुछ भी कठिन नहीं है। वरन् जिस प्रकार (व्यक्तिगत) उदान प्राण अन्न को हमारे प्रत्येक अंग में पचाता, उसी का रूप बनाता, और उससे मेल दिलाता है, इसी तरह (समष्टि गत) उदान प्राण हर पितर में हम अन्न रूप को पचाता, उसी का रूप बनाता, और उसी में मेल दिलाता है। और, फिर उनसे निचोड़ का रूप पृथक् करता, उसी तरह देवलोक और सोमलोक में ले जाता है जिस तरह हमारे अंगों से भी निचोड़ करके पिता के वीर्य स्रोत में और माता के गर्भ में ले जाता है।

——: :——

पाँचवाँ अध्याय।

(१) हम ऊपर के अध्याय में पितरों का तत्व स्पष्ट रूपसे लिख आए हैं, और फिर यह भी संकेत कर आए हैं कि वे सब जीवित हैं, उनमें जो जीवन शक्ति वा प्राण है, वह देवता कहलाती है। जिस प्रकार मनुष्य में जो जीवन शक्ति है, उनके शरीर और आकृति पर दृष्टि दिए विना ही प्राण कहलाती है, इसी तरह पितरों में भी जो जीवन शक्ति है, उनके शरीर और आकृति पर दृष्टि दिए बिना ही देवता कहलाती है। जैसे अग्नि में जो जीवन शक्ति है, वह अग्नि देवता; दिन में जो जीवन शक्ति है वह दिन का देवता; शुक्लपक्ष में जो जीवन शक्ति है, वह शुक्ल-पक्ष का देवता; उत्तरायण छमाहीं में जो जान है, वह षटमास का देवता; और सौर संवत्सर में जो जान है, वह वर्ष का देवता; और सूर्य में जो जान है, वह सूर्य का देवता

देव-लोक में देवता और सोम-लोक में सोमराज हो जाते हैं और प्रजापति से मेल पा जाते है। यह कुछ भी कठिन नहीं है। वरन् जिस प्रकार (व्यक्तिगत) उदान प्राण अन्न को हमारे प्रत्येक अंग में पचाता, उसी का रूप बनाता, और उससे मेल दिलाता है, इसी तरह (समष्टि गत) उदान प्राण हर पितर में हम अन्न रूप को पचाता, उसी का रूप बनाता, और उसी में मेल दिलाता है। और, फिर उनसे निचोड़ का रूप पृथक् करता, उसी तरह देवलोक और सोमलोक में ले जाता है जिस तरह हमारे अंगों से भी निचोड़ करके पिता के वीर्य स्रोत में और माता के गर्भ में ले जाता है।

——: :——

पाँचवां अध्याय।

(१) हम ऊपर के अध्याय में पितरों का तत्व स्पष्ट रूपसे लिख आए हैं, और फिर यह भी संकेत कर आए है कि वे सब जीवित हैं, उनमें जो जीवन शक्ति वा प्राण है, वह देवता कहलाती है। जिस प्रकार मनुष्य में जो जीवन शक्ति है, उनके शरीर और आकृति पर दृष्टि दिए बिना ही प्राण कहलाती है, इसी तरह पितरों में भी जो जीवन शक्ति है, उनके शरीर और आकृति पर दृष्टि दिए बिना ही देवता कहलाती है। जैसे अग्नि में जो जीवन शक्ति है, वह अग्नि देवता; दिन में जो जीवन शक्ति है वह दिन का देवता; शुक्लपक्ष में जो जीवन शक्ति है, वह शुक्लपक्ष का देवता; उत्तरायण छमाहीं में जो जान है, वह षटमास का देवता; और सौर संवत्सर में जो जान है, वह वर्ष का देवता; और सूर्य में जो जान है, वह सूर्य का देवता

गिन्ती में होते हैं, जिन में ८ वसु देवता हैं, ११ रुद्र देवता हैं, १२ आदित्य देवता हैं, एक इन्द्र है और एक प्रजापति है।

(६) समस्त वसु देवता पृथिवी, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, देवलोक, सोमलोक और नक्षत्र हैं। संस्कृत में वसु का अर्थ बस्तियां है। उन में जीवों का निवास होने के कारण वेदविद् ब्राह्मण इन्हें वसु देवता कहते हैं। पंच-भूतों के संयोग से प्रत्येक देह का आकार नियत हुआ है, और हम इन आकारों वा शरीरों में तब तक बसे हुए हैं, जब तक हमारे कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो लेता।

(७) वसु देवता हमारे कर्मोंके भोग देनेके लिये परिवर्त्तित और मिश्रित होकर एक शारीरिक घर उसी प्रकार बनाते हैं जिस तरह लकड़ी, लोहा, ईंट, गारा मिल कर लोग एक महल तैयार करते हैं और हमको उसी तरह अपने में बसाते हैं जैसे प्रासाद (महल) हमको बसाते हैं। जिस तरह वह महल हमारा वासस्थान या घर कहलाता है, उसी तरह ये देवता भी हमारे वसु देवता कहलाते हैं।

(८) अतिरिक्त इस के पृथिवी तो पार्थिवों के लिये, वायु वायवीयों के लिये, अग्नि आग्नेयों के लिये, जल जलीयों के लिये, आकाश गंधर्वों के लिये, सूर्य सौरों के लिये, चन्द्र चांद्रों के लिये, एवं समस्त नक्षत्र अपनी-अपनी सृष्टि के लिये उन का शरीर बनाते और फिर उसी का बिछौना होते आराम और सुख देते हैं। इस कारण इन सब देवताओं के हम आभारी हैं।

(९) जब हम बालक होते हैं, तो जैसे माता की गोद में मल त्यागते, उस की छातियां चूसते और उसी के पार्श्व में निवास करते हैं, उसी तरह हम पृथिवी के बालक पृथिवी

गिन्ती में होते हैं, जिन में ८ वसु देवता हैं, ११ रुद्र देवता हैं, १२ आदित्य देवता हैं, एक इन्द्र है और एक प्रजापति है।

(६) समस्त वसु देवता पृथिवी, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, देवलोक, सोमलोक और नक्षत्र हैं। संस्कृत में वसु का अर्थ बस्तियां है। उन में जीवों का निवास होने के कारण वेदविद् ब्राह्मण इन्हें वसु देवता कहते हैं। पंच-भूतों के संयोग से प्रत्येक देह का आकार नियत हुआ है, और हम इन आकारों वा शरीरों में तब तक बसे हुए हैं, जब तक हमारे कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो लेता।

(७) वसु देवता हमारे कर्मोंके भोग देनेके लिये परिवर्त्तित और मिश्रित होकर एक शारीरिक घर उसी प्रकार बनाते हैं जिस तरह लकड़ी, लोहा, ईंट, गारा मिल कर लोग एक महल तैयार करते हैं और हमको उसी तरह अपने में बसाते हैं जैसे प्रासाद (महल) हमको बसाते हैं। जिस तरह वह महल हमारा वासस्थान या घर कहलाता है, उसी तरह ये देवता भी हमारे वसु देवता कहलाते हैं।

(८) अतिरिक्त इस के पृथिवी तो पार्थिवों के लिये, वायु वायवीयों के लिये, अग्नि आग्नेयों के लिये, जल जलीयों के लिये, आकाश गंधर्वों के लिये, सूर्य सौरों के लिये, चन्द्र चांद्रों के लिये, एवं समस्त नक्षत्र अपनी-अपनी सृष्टि के लिये उन का शरीर बनाते और फिर उसी का बिछौना होते आराम और सुख देते हैं। इस कारण इन सब देवताओं के हम आभारी हैं।

(९) जब हम बालक होते हैं, तो जैसे माता की गोद में मल त्यागते, उस की छातियां चूसते और उसी के पार्श्व में निवास करते हैं, उसी तरह हम पृथिवी के बालक पृथिवी

(१३) देखो बुद्धि हमारा दूरदर्शी (विचारवान्) मन्त्री है, मन दीवाने-ख़ास अर्थात् मुख्य अधिकारी है, ज्ञानेंद्रियां दूत हैं, क्योंकि नेत्र दृश्य-जगत् में दौड़ता है, कान शब्द-संसार में सिधारता है, नाक सुगंध और दुर्गंध की ख़बर लाती है, जिह्वा मिठाई और खटाई की लहरें दिखाती है, त्वचा शीत और उष्ण के प्रमाण पेश करती है, मन दीवाने-ख़ास होकर इन सब के संदेशे मालूम करता स्मरण रखता है और समय-समय पर हमारी सामान्य सभा में उपस्थित करता है, और बुद्धि उसमें से भले-बुरे की छाँट करती है और स्वीकृत अस्वीकृत की सम्मति देती है।

(१४) काम तहसीलदार है, क्रोध कोतवाल है, शक्ति जरनेल है, मन की वृत्तियां असंख्य सेना हैं। इसी तरह यदि ध्यान किया जाय और एक-एक देवता की गणना की जाय तो असंख्य सेना, असंख्य कर्मचारी और असंख्य पदधिकारी हैं, और सब मनुष्य (राजकुमार) के लिये प्रजापति की आज्ञा से न्याय और धर्म पूर्वक हमारे भोग के लिये एकत्रित हो रहे हैं और अपने-अपने कार्य-विशेष में निमग्न हैं। हमको चाहिए कि प्रजापति पिता का अनुसरण करके हम भी अपने सिंहासन पर आसीन होकर प्रत्येक काम की देख भाल करें और न्याय तथा धर्म पूर्वक उन से वर्ताव करें। क्योंकि काम-रूपी तहसीलदार यदि प्रजापति के नियम के विरुद्ध कुछ भोग चाहे, तो चाहिये कि बुद्धि-रूपी मंत्री की मंत्रणा के अनुसार क्रोध-रूपी कोतवाल को उस पर चढ़ावे, जिस में वह उसे दण्ड देकर वा बुरा-भला कह कर संयम के नियम की ओर बुलावे। और यदि क्रोध-रूपी कोतवाल भी इसी भांति नियमोल्लंघन करे, तो काम रूपी तहसीलदार को उस पर उठावें, जिस से उस घमंडी को

(१३) देखो बुद्धि हमारा दूरदर्शी (विचारवान्) मन्त्री है, मन दीवाने-खास अर्थात् मुख्य अधिकारी है, ज्ञानेंद्रियां दूत हैं, क्योंकि नेत्र दृश्य-जगत् में दौड़ता है, कान शब्द-संसार में सिधारता है, नाक सुगंध और दुर्गंध की खबर लाती है, जिह्वा मिठाई और खटाई की लहरें दिखाती है, त्वचा शील और उष्ण के प्रमाण पेश करती है, मन दीवाने-खास होकर इन सब के संदेशे मालूम करता स्मरण रखता है और समय-समय पर हमारी सामान्य सभा में उपस्थित करता है, और बुद्धि उसमें से भले-बुरे की छाँट करती है और स्वीकृत अस्वीकृत की सम्मति देती है।

(१४) काम तहसीलदार है, क्रोध कोतवाल है, शक्ति जरनेल है, मन की वृत्तियां असंख्य सेना हैं। इसी तरह यदि ध्यान किया जाय और एक-एक देवता की गणना की जाय तो असंख्य सेना, असंख्य कर्मचारी और असंख्य पदधिकारी हैं, और सब मनुष्य (राजकुमार) के लिये प्रजापति की आज्ञा से न्याय और धर्म पूर्वक हमारे भोग के लिये एकत्रित हो रहे हैं और अपने-अपने कार्य-विशेष में निमग्न हैं। हमको चाहिए कि प्रजापति पिता का अनुसरण करके हम भी अपने सिंहासन पर आसीन होकर प्रत्येक काम की देख भाल करें और न्याय तथा धर्म पूर्वक उन से बर्ताव करें। क्योंकि काम-रूपी तहसीलदार यदि प्रजापति के नियम के विरुद्ध कुछ भोग चाहे, तो चाहिये कि बुद्धि-रूपी मंत्री की मंत्रणा के अनुसार क्रोध-रूपी कोतवाल को उस पर चढ़ावे, जिस में वह उसे दण्ड देकर वा बुरा-भला कह कर संयम के नियम की ओर बुलावे। और यदि क्रोध-रूपी कोतवाल भी इसी भांति नियमोल्लंघन करे, तो काम रूपी तहसीलदार को उस पर उठावें, जिस से उस घमंडी को

लिये इन को आदित्य देवता कहते हैं, क्योंकि जिस प्रकार तराजू एक एक वस्तु को न्यायतः लेता-देता है, उसी तरह ये १२ देवता भी न्याय और धर्म से हमारे भोग लेते-देते हैं। संस्कृत-कोष में जो इस प्रकार लेता-देता है, उसको आदित्य बोलते हैं। और यही आदित्य न्याय की तुला है।

(१७) बत्तीसवाँ देवता प्रत्यक्ष रूप से आकाश में बिजली देवता है, जो शक्ति और बल रूप से हमारे संक्षिप्त शरीर में प्रकट हुआ है, और यही इंद्र है। इसी के कारण हम कुश्ती करते और युद्ध विग्रह करते हैं और शत्रुओं पर विजय लाभ करते हैं। और यही देवता द्यावापृथिवी अर्थात् द्यौ और पृथिवी पर प्रजापति का पुत्र, देवताओं का सेनानायक, और हमारी सेना का भी प्रधान सेनापति है। और इसी से हम हर काम में सहायता माँगते हैं। और यही हमारा पूज्य और आराधना करने योग्य है। और यही देवलोक में देवराज कहलाता है।

(१८) तैंतीसवाँ देवता प्रत्यक्ष प्राण देवता है जो महा प्राण वा महा देव है और यही प्रजापति है और यही समस्त देवताओं की माता है, इसी कारण इसको अदिति कहते हैं। और यही इन सबका पिता है, इसी कारण इसको प्रजापति बोलते हैं। और यही सब का मूल है। क्या देवता, क्या पितर क्या पुत्र, उसी की शाखाएँ, और उसी की डालियाँ हैं। यह एक ही अनेक प्रकार का होकर समस्त संसार में फैला हुआ सब में सब कुछ करता है। यही वसुदेवता रूप होकर सब के भोगों का घर अर्थात् पिंड और ब्रह्मांड रूप होरहा है। और यही ११ रुद्ररूप (देवता) होकर सब के भोग का साधन और यंत्र (करण) है। यही बारह

लिये इन को आदित्य देवता कहते हैं, क्योंकि जिस प्रकार तराजू एक एक वस्तु को न्यायतः लेता-देता है, इसी तरह ये १२ देवता भी न्याय और धर्म से हमारे भोग लेते-देते हैं। संस्कृत-कोष में जो इस प्रकार लेता-देता है, उसको आदित्य बोलते हैं। और यही आदित्य न्याय की तुला है।

(१७) बत्तीसवाँ देवता प्रत्यक्ष रूप से आकाश में बिजली देवता है, जो शक्ति और बल रूप से हमारे संक्षिप्त शरीर में प्रकट हुआ है, और यही इंद्र है। इसी के कारण हम कुश्ती करते और युद्ध विग्रह करते हैं और शत्रुओं पर विजय लाभ करते हैं। और यही देवता द्यावापृथिवी अर्थात् द्यौ और पृथिवी पर प्रजापति का पुत्र, देवताओं का सेनानायक, और हमारी सेना का भी प्रधान सेनापति है। और इसी से हम हर काम में सहायता माँगते हैं। और यही हमारा पूज्य और आराधना करने योग्य है। और यही देवलोक में देवराज कहलाता है।

(१८) तैंतीसवाँ देवता प्रत्यक्ष प्राण देवता है जो महा प्राण वा महा देव है और यही प्रजापति है और यही समस्त देवताओं की माता है, इसी कारण इसको अदिति कहते हैं। और यही इन सबका पिता है, इसी कारण इसको प्रजापति बोलते हैं। और यही सब का मूल है। क्या देवता, क्या पितर क्या पुत्र, उसी की शाखाएँ, और उसी की डालियाँ हैं। यह एक ही अनेक प्रकार का होकर समस्त संसार में फैला हुआ सब में सब कुछ करता है। यही वसुदेवता रूप होकर सब के भोगों का घर अर्थात् पिंड और ब्रह्मांड रूप होरहा है। और यही ११ रुद्ररूप (देवता) होकर सब के भोग का साधन और यंत्र (करण) है। यही बारह

कहा, त्रिविद्या-गणना में कौन-कौन हैं ? कहा, वह सब इन्हीं ३३ का प्रकाशमात्र हैं। कहा ३३ कौन से हैं ? कहा, (आठ वसुदेवता हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं एक इंद्र है, और एक प्रजापति है।

(२२) कहा, आठ वसु कौन से हैं ? कहा, (अग्नि, पृथिवी वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, चंद्र, देवलोक और नक्षत्र हैं। इन्हीं में सब बसे हैं, इस कारण से वसु देवता कहलाते हैं। कहा, ग्यारह रुद्र कौन से हैं ? कहा, दस इन्द्रियां हैं जो मनुष्य में ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय के रूप में प्रकट हो रही हैं, और ग्यारहवाँ मन है। जब ये देह से चल बसते हैं, तो रुलाते हैं, इस लिये रुद्र कहलाते हैं।

(२३) कहा, आदित्य कौन से है ? कहा, यही १२ महीने हैं। यही सब की आयु को लेते-देते हैं और इस लिये आदित्य कहलाते हैं। कहा, इन्द्र कौन है ? कहा, जो गरजता है, वही इन्द्र है। कहा, गरजता कौन है ? कहा, जो चमकता है और बरसता है। कहा, प्रजापति कौन है ? कहा (यज्ञ। कहा, यज्ञिय कौन है ? कहा, जो पशु हैं, वही यज्ञिय हैं।

कहा छ देवता कौन से हैं ? कहा अग्नि, पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, सूर्य और देवलोक हैं। कहा, इन के भी संक्षेप ३ कौन है ? कहा, तीन लोक हैं। देवलोक और सूर्य लोक मिल कर परलोक है और पृथिवी और अग्नि मिला कर इह (नीचे का) लोक है। अन्तरिक्ष और वायु मिल कर मध्य लोक है और समस्त देवता इन्हीं का तेज वा प्रकाश हैं।

(२५) कहा, दो संक्षेप पूर्वक कौन से देवता हैं ? कहा, प्राण और रयि। कहा, डेढ़ कौन है ? कहा, जो चलता है। कहा, क्यों डेढ़ है ? कहा, जो आप बे परवा हो और दूसरों के

कहा, निविदा-गणना में कौन-कौन हैं ? कहा, वह सब इन्हीं ३३ का प्रकाशमात्र हैं । कहा ३३ कौन से हैं ? कहा, आठ वसुदेवता हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं एक इंद्र है, और एक प्रजापति है ।

(२२) कहा, आठ वसु कौन से हैं ? कहा, अग्नि, पृथिवी वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, चंद्र, देवलोक और नक्षत्र हैं । इन्हीं में सब बसे हैं, इस कारण से वसु देवता कहलाते हैं । कहा, ग्यारह रुद्र कौन से हैं ? कहा, दस इन्द्रियां हैं जो मनुष्य में ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय के रूप में प्रकट हो रही हैं, और ग्यारहवाँ मन है । जब ये देह से चल बसते हैं, तो रुलाते हैं, इस लिये रुद्र कहलाते हैं ।

(२३) कहा, आदित्य कौन से हैं ? कहा, यही १२ महीने हैं । यही सब की आयु को लेते-देते हैं और इस लिये आदित्य कहलाते हैं । कहा, इन्द्र कौन है ? कहा, जो गरजता है, वही इन्द्र है । कहा, गरजता कौन है ? कहा, जो चमकता है और बरसता है । कहा, प्रजापति कौन है ? कहा यज्ञ । कहा, यज्ञिय कौन है ? कहा, जो पशु है, वही यज्ञिय है ।

कहा छः देवता कौन से हैं ? कहा अग्नि, पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, सूर्य और देवलोक हैं । कहा, इन के भी संक्षेप ३ कौन हैं ? कहा, तीन लोक हैं । देवलोक और सूर्य लोक मिल कर परलोक है और पृथिवी और अग्नि मिला कर इह (नीचे का) लोक है । अन्तरिक्ष और वायु मिल कर मध्य लोक है और समस्त देवता इन्हीं का तेज वा प्रकाश हैं ।

(२५) कहा, दो संक्षेप पूर्वक कौन से देवता हैं ? कहा, प्राण और रयि । कहा, डेढ़ कौन है ? कहा, जो चलता है । कहा, क्यों डेढ़ है ? कहा, जो आप बे परवा हो और दूसरों के

प्रकार की होती है। क्योंकि इस फैलवाट में या तो वह (प्राण) खींचता है, या निकालता है,या पचाता है,या बनाता है। जब वह खींचता है, तो प्राण; जब निकालता है, तो अपानः जब रोकता है, तो व्यान; जब पचाता है, तो समान, और जब बनाता है, तो उदान कहलाता है। इन्हीं को पँच प्राण कहते हैं और ये पँच प्राण ही सारे संसार में क्या खनिज-वर्ग, क्या वनस्पति वर्ग, का प्राणिवर्ग, क्या आकाशीय, क्या पार्थिव, सब में सब कुछ करते हैं।

(४) देखो जब हम भोजन करते हैं, तो उसे प्राण निगलता है, और उस निगले हुए भोजन को व्यान आमाशय में रोकता है, और समान उस को पकाता है, और अपान उस के मल को बाहर निकालता है, और उदान उसके शुद्ध अंश को रक्त, मांस, त्वचा बनाता हमारे रक्त और मांस-त्वचा में मिलाप दिलाता है।

(५) फिर हम में क्षण-क्षण में श्वास चलते हैं। इस लिये वह जो भीतर को श्वास खींचता है, प्राण है, वह जो बाहर निकालता है, अपान है। किन्तु हम नियत समय तक श्वास को रोक सकते हैं, अतः वह जो रोकता है, व्यान है। और यह स्पष्ट है कि श्वास के द्वारा हम वायु ग्रहण करते हैं, अतः वह जो उस को शुद्ध करता है, समान है; वह जो खिलाता है, उदान है। दूसरी तरह से भी स्पष्ट है कि नाड़ियां हमारी बराबर चलती हैं। जब वह खुलती है, तो अपान का काम करती है; जब वह मिलती है, तो प्राण का काम करती है। और, यह स्पष्ट है कि जब कभी हम बल का काम करते हैं, तो न वह खुलती हैं, न मिलती हैं, उस समय व्यान काम करता है। जैसे जब कठोर धनुष को हम बल-पूर्वक खींचते हैं, तो उस समय श्वास और नाड़ियां

प्रकार की होती है। क्योंकि इस फैलवाट में या तो वह (प्राण) खींचता है, या निकालता है,या पचाता है,या बनाता है। जब वह खींचता है, तो प्राण; जब निकालता है, तो अपानः जब रोकता है, तो व्यान; जब पचाता है, तो समान, और जब बनाता है, तो उदान कहलाता है। इन्हीं को पँच प्राण कहते हैं और ये पँच प्राण ही सारे संसार में क्या खनिज-वर्ग, क्या वनस्पति वर्ग, का प्राणिवर्ग, क्या आकाशीय, क्या पार्थिव, सब में सब कुछ करते हैं।

(४) देखो जब हम भोजन करते हैं, तो उसे प्राण निगलता है, और इस निगले हुए भोजन को व्यान आमाशय में रोकता है, और समान उस को पकाता है, और अपान उस के मल को बाहर निकालता है, और उदान उसके शुद्ध अंश को रक्त, मांस, त्वचा बनाता हमारे रक्त और मांस-त्वचा में मिलाप दिलाता है।

(५) फिर हम में क्षण-क्षण में श्वास चलते हैं। इस लिये वह जो भीतर को श्वास खींचता है, प्राण है, वह जो बाहर निकालता है, अपान है। किन्तु हम नियत समय तक श्वास को रोक सकते हैं, अतः वह जो रोकता है, व्यान है। और यह स्पष्ट है कि श्वास के द्वारा हम वायु ग्रहण करते हैं, अतः वह जो उस को शुद्ध करता है, समान है; वह जो खिलाता है, उदान है। दूसरी तरह से भी स्पष्ट है कि नाड़ियां हमारी बराबर चलती हैं। जब वह खुलती है, तो अपान का काम करती है; जब वह मिलती हैं, तो प्राण का काम करती है। और, यह स्पष्ट है कि जब कभी हम बल का काम करते हैं, तो न वह खुलती हैं, न मिलती हैं, उस समय व्यान काम करता है। जैसे जब कठोर धनुष को हम बल-पूर्वक खींचते हैं, तो उस समय श्वास और नाड़ियां

नाम किया है। तो भी संस्कृत में उसको उदान प्राण कहा जाता है।

(८) यही उदान प्राण भोजन को हमारे अंग-अंग में ले जाता अंग-रूप बनाता है और फिर उनसे निचोड़ करता वीर्य बनाता है। और फिर यही नियत समय पर गर्भाशय में वीर्य को ले जाता है और वहाँ लोथड़ा, बुदबुद, कलकल, बनाता दसवें महीने में मनुष्य बनाता है और मनुष्य-लोक के भोग दिलाता है। परंतु जब इसके यहाँ के भोग समाप्त हो जाते हैं, तो यही उदान उसको यहाँ से उड़ा ले जाता है। या तो धरती में मेल दिलाता है,और या धरती से वनस्पति, और वनस्पति से अन्न, अन्न से रक्त, रक्त से वीर्य, और नाना जाति के नर नारी में निकालता हुआ कीट-पतंग अथवा पशु-पक्षी की योनियाँ दिलाता है।

(६) फिर जब हमारे स्वर्गीय भोग उदय होते हैं, तो यही उदान-प्राण हमको अग्नि बनाता है। अग्नि से दिन और दिन से शुक्ल पक्ष, इस तरह देवयान सड़क पर देवलोक में ले जाता है और देवता बनाता है; और इसी तरह पितृयान-सड़क पर लेजाता सोम लोक में सोमराज बनाता है। अतः यही उदान (प्राण) स्रष्टा, पोषक, हर्ता और कर्त्ता है, और यही हमारा इष्ट फल है। इसी के चुंगल में हम अपने कर्मों के कारण कुछ के कुछ बन जाते हैं। कभी हम पृथिवी पर पशु होकर चरते हैं, कभी पक्षी होकर उड़ते हैं, कभी गधा-ऊंट होकर लादे जाते हैं, और मार खाते हैं। कभी हम स्वर्ग लोक में क्रमोन्नति करते सत्य-संकल्प देवता होते और दिव्य परिधान (वस्त्र या कोष) पहनते और संसार के मालिक बनते हैं। जितनी संसार में विचित्रता है, इसी उदान प्राण की विचित्रता है और

नाम किया है। तो भी संस्कृत में उसको उदान प्राण कहा जाता है।

(८) यही उदान प्राण भोजन को हमारे अंग-अंग में ले जाता अंग-रूप बनाता है और फिर उनसे निचोड़ करता वीर्य बनाता है। और फिर यही नियत समय पर गर्भाशय म वीर्य को ले जाता है और वहाँ लोथड़ा, बुदबुद, कलकल, बनाता दसवें महीने में मनुष्य बनाता है और मनुष्य-लोक के भोग दिलाता है। परंतु जब उसके यहाँ के भोग समाप्त हो जाते हैं, तो यही उदान उसको यहाँ से उड़ा ले जाता है। या तो धरती में मेल दिलाता है,और या धरती से वनस्पति, और वनस्पति से अन्न, अन्न से रक्त, रक्त से वीर्य, और नाना जाति के नर नारी में निकालता हुआ कीट-पतंग अथवा पशु-पक्षी की योनियाँ दिलाता है।

(६) फिर जब हमारे स्वर्गीय भोग उदय होते हैं, तो यही उदान-प्राण हमको अग्नि बनाता है। अग्नि से दिन और दिन से शुक्ल पक्ष, इस तरह देवयान सड़क पर देवलोक में ले जाता है और देवता बनाता है; और इसी तरह पितृयान-सड़क पर लेजाता सोम लोक में सोमराज बनाता है। अतः यही उदान (प्राण) स्रष्टा, पोषक, हर्ता और कर्त्ता है, और यही हमारा इष्ट फल है। इसी के चुंगल में हम अपने कर्मों के कारण कुछ के कुछ बन जाते हैं। कभी हम पृथिवी पर पशु होकर चरते हैं, कभी पक्षी होकर उड़ते हैं, कभी गधा-ऊंट होकर लादे जाते हैं, और मार खाते हैं। कभी हम स्वर्ग लोक में क्रमोन्नति करते सत्य-संकल्प देवता होते और दिव्य परिधान (वस्त्र वा कोष) पहनते सारे संसार के मालिक बनते हैं। जितनी संसार में विचित्रता है, इसी उदान प्राण की विचित्रता है और

क्योंकि वही संसार का केंद्र है और सब उसी आकर्षण-शक्ति से खिंचे हुए अपने-अपने स्थान पर चक्कर खाते हैं, और वही देवता नेत्र पर कृपा करता उसे देखने में सहायता देता है।

पृथिवी में जो आकर्षण शक्ति है, वही महा अपान है, क्योंकि वही पार्थिव (वा पृथिवी-निवासियों) को सूर्य की ओर जाने से अपनी ओर बुलाती है और सूर्य की ओर से हटाती है। और इसी महा अपान से आध्यात्मिक अपान उसी तरह सहायता पाता है जिस तरह एक खेम की लकड़ियों को चारों ओर की डोरियां स्थिर रखती हैं और हवा की चोट से रोकती हैं।

(१४) यह स्पष्ट है कि भूमि चारों ओर से बराबर हम को उसी तरह खींचती है जिस तरह डोरियाँ खेमे की लकड़ियों को बाहर से बराबर खीचती हैं; और इस भूमि-देवता की कृपा से आध्यात्मिक अपान उसी तरह गुरुत्वाकर्षण (law of gravitation) पैदा करता है जिस तरह खेमा की लकड़ी उन डोरियों के खिंचाव में सीधी खड़ी होती है। और उसी गुरुत्वाकर्षण में हम भूमि पर चलते हैं।

(१५) यदि आध्यात्मिक और आधिभौतिक अपान इस तरह गुरुत्वाकर्षण न बनाता, तो निस्संदेह हम भी पृथिवी में उसी तरह गिर कर चिमट जाते जैसा कि एक पत्थर गिरता हुआ पृथिवी में लिपट जाता है। अतः यही पृथिवी की शक्ति पृथिवी की खिचवानी है। इसी को संस्कृत में पृथिवी का देवता बोलते हैं।

(१६) पृथिवी और सूर्य के बीच में जो आकाश है, वही आधिभौतिक समान का मुख्य स्थान है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु

क्योंकि वही संसार का केंद्र है और सब उसी आकर्षण-शक्ति से खिंचे हुए अपने-अपने स्थान पर चक्कर खाते हैं, और वही देवता नेत्र पर कृपा करता उसे देखने में सहायता देता है।

पृथिवी में जो आकर्षण शक्ति है, वही महा अपान है, क्योंकि वही पार्थिव (वा पृथिवी-निवासियों) को सूर्य की ओर जाने से अपनी ओर बुलाती है और सूर्य की ओर से हटाती है। और इसी महा अपान से आध्यात्मिक अपान उसी तरह सहायता पाता है जिस तरह एक खेम की लकड़ियों को चारों ओर की डोरियां स्थिर रखती हैं और हवा की चोट से रोकती हैं।

(१४) यह स्पष्ट है कि भूमि चारों ओर से बराबर हम को उसी तरह खींचती है जिस तरह डोरियाँ खेमे की लकड़ियों को बाहर से बराबर खींचती हैं; और इस भूमि-देवता की कृपा से आध्यात्मिक अपान उसी तरह गुरुत्वाकर्षण (law of gravitation) पैदा करता है जिस तरह खेमा की लकड़ी उन डोरियों के खिंचाव में सीधी खड़ी होती है। और उसी गुरुत्वाकर्षण में हम भूमि पर चलते हैं।

(१५) यदि आध्यात्मिक और आधिभौतिक अपान इस तरह गुरुत्वाकर्षण न बनाता, तो निस्संदेह हम भी पृथिवी में उसी तरह गिर कर चिमट जाते जैसा कि एक पत्थर गिरता हुआ पृथिवी में लिपट जाता है। अतः यही पृथिवी की शक्ति पृथिवी की बिचवानी है। इसी को संस्कृत में पृथिवी का देवता बोलते हैं।

(१६) पृथिवी और सूर्य के बीच में जो आकाश है, वही आधिभौतिक समान का मुख्य स्थान है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु

प्राण अन्य प्राणों को विशेष-विशेष अंगों में इजलास देता है और विशेष-विशेष स्थान में विशेष-विशेष काम करने की आज्ञा करता है।

(२०) जैसे अपान को मुख्य करके गुदा और उपस्थ में बिठाता है; और आँख, कान, नाक, मुँह में प्राण को बिठाता है। आमाशय में समान को बिठाता है जिससे कि वह (भोजन) पचावे। यही है जो अन्न को पकाता है, इसी से आध्यात्मिक प्राण वा ज्ञान-इन्द्रियां किरणों की भाँति मस्तिष्क में निकलती हैं और ज्ञान तथा चेष्टा की शक्ति का कारण होती हैं, और यही इन्द्रियां मिलकर सूक्ष्म शरीर हैं, जो मनुष्य देह की वास्तविकता है।

(२१) *हृदय-कमल से, जो मांस का टुकड़ा है और जीवात्मा की मुख्य राजधानी है, एक सौ एक (१०१) नाड़ियाँ निकलती हैं, और हर एक नाड़ी में फिर महीन नाड़ियाँ शाखाओं की भाति सौ-सौ निकलती हैं, और हरएक शाखा में अति सूक्ष्म नाड़ियाँ शाखा प्रति शाखा की भाँति बहत्तर-बहत्तर हज़ार निकलती और फैलती हैं। और

---

* एक सौ एक नाड़ियाँ तो मौलिक हैं, शेष उनकी शाखाएँ हैं। इस एक-एक मौलिक नाडी की एक-एक सौ शाखाएं हैं। अर्थात् इन १०१ असल नाड़ियों की दस हजार एक सौ (१०१००) शाखाएँ हैं, और इन शाखा रूपी नाड़ियों में से प्रत्येक शाखा की बहत्तर हजार (७२०००) नाड़ियाँ हैं, अर्थात् १०१०० × ७२००० = ७२७२००००० शाखा-प्रशाखा नाड़ियाँ हैं। यदि इनमें मौलिक और शाखाएं रूप नाड़ियाँ मिलाई जाँय, तो १०१+१०१००+७२७२००००० = ७२७२१०२०१ अर्थात् बहत्तर करोड, बहत्तर लाख, दस हजार और दो सौ एक सब नाड़ियाँ होती हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् २-१-१९ और ४-३-२०। कठोपनिषद् ६-१६ और कौषीतकी उपनिषद् ४-२० में इन नाड़ियों का ब्योरेवार वर्णन आया है, यद्यपि परस्पर कुछ भिन्नता है।

प्राण अन्य प्राणों को विशेष-विशेष अंगों में इजलास देता है और विशेष-विशेष स्थान में विशेष-विशेष काम करने की आज्ञा करता है।

(२०) जैसे अपान को मुख्य करके गुदा और उपस्थ में बिठाता है, और आँख, कान, नाक, मुँह में प्राण को बिठाता है। आमाशय में समान को बिठाता है जिससे कि वह (भोजन) पचावे। यही है जो अन्न को पकाता है, इसी से आध्यात्मिक प्राण वा ज्ञान-इन्द्रियां किरणों की भाँति मस्तिष्क में निकलती हैं और ज्ञान तथा चेष्टा की शक्ति का कारण होती हैं, और यही इन्द्रियां मिलकर सूक्ष्म शरीर हैं, जो मनुष्य देह की वास्तविकता है।

(२१) *हृदय-कमल से, जो मांस का टुकड़ा है और जीवात्मा की मुख्य राजधानी है, एक सौ एक (१०१) नाड़ियाँ निकलती है, और हर एक नाड़ी में फिर महीन नाड़ियाँ शाखाओं की भाति सौ-सौ निकलती हैं, और हरएक शाखा में अति सूक्ष्म नाड़ियाँ शाखा प्रति शाखा की भाँति बहत्तर-बहत्तर हज़ार निकलती और फैलती हैं। और

---

* एक सौ एक नाडियाँ तो मौलिक हैं, शेष उनकी शाखाएँ हैं। इस एक-एक मौलिक नाडी की एक-एक सौ शाखाएं हैं। अर्थात् इन १०१ असल नाडियों की दस हजार एक सौ (१०१००) शाखाएँ हैं, और इन शाखा रूपी नाडियों में से प्रत्येक शाखा की बहत्तर हजार (७२०००) नाडियाँ हैं, अर्थात् १०१०० × ७२०००=७२७२०००००० शाखा-प्रशाखा नाडियाँ हैं। यदि इनमें मौलिक और शाखाएं रूप नाडियाँ मिलाई जाँय, तो १०१+१०१००+७२७२००००००=७२७२१०२०१ अर्थात् बहत्तर करोड, बहत्तर लाख, दस हजार और दो सौ एक सब नाडियाँ होती हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् २-१-१९ और ४-३-२०। कठोपनिषद ६-१६ और कौषीतकी उपनिषद् ४-२० में इन नाडियों का ब्योरेवार वर्णन आया है, यद्यपि परस्पर कुछ भिन्नता है।

लोक में से एक लोक को ले जाता है और नए भोगों के लिये उठाता है।

(२५) जो व्यक्ति इस प्राण की इस प्रकार उत्पत्ति को और उसके मुख्य स्थानों को और उसकी इन विचित्रताओं को और पंचविध द्विविध विभाग को जानता है, निःसन्देह वह अमृत होता है और प्रजापति से मेल पाता है, ऐसा वेद के मंत्र साक्षी देते हैं।

सातवाँ अध्याय।

(१) इस महा प्राण की दूसरी फैलावट सोच-समझ रूप होती है। जब यह महा प्राण हृदय-कमल में इस फैलावट से खुलता है, तो इसी को मन अर्थात् दिल कहा करते हैं। और मन चूँकि इस पंचविध प्राण का पुत्र है, उसी की आकृति पर उत्पन्न किया गया है, क्योंकि जो जिससे जना जाता है, उसी की आकृति पर होता है। और वह पंचविध प्राण वास्तव में प्रजापति का स्वरूप है, और यह मन (अंतःकरण) मनुष्य की असलियत है।

(२) जिस प्रकार प्रजापति फैलता हुआ अनेक प्राण हो जाता है, इसी तरह यह मन भी फैलता हुआ अनेक संकल्प और विकल्प-रूप होता है। जिस तरह देवलोक में प्रजापति से अनेक प्राण वा दिव्य शक्तियां निकलती हुई जुदा-जुदा विशेष मूर्तियाँ धारण करती हैं और प्रजापति में एक होती हैं, इसी तरह मन की वृत्तियाँ भी मन से निकलती हुई जुदा-जुदा संकल्पमय रूप धारण करती मन से एक होती हैं।

लोक में से एक लोक को ले जाता है और नए भोगों के लिये उठाता है।

(२५) जो व्यक्ति इस प्राण की इस प्रकार उत्पत्ति को और उसके मुख्य स्थानों को और उसकी इन विचित्रताओं को और पंचविध द्विविध विभाग को जानता है, निःसन्देह वह अमृत होता है और प्रजापति से मेल पाता है, ऐसा वेद के मंत्र साक्षी देते हैं।

सातवाँ अध्याय।

(१) इस महा प्राण की दूसरी फैलावट सोच-समझ रूप होती है। जब यह महा प्राण हृदय-कमल में इस फैलावट से खुलता है, तो इसी को मन अर्थात् दिल कहा करते हैं। और मन चूँकि उस पंचविध प्राण का पुत्र है, उसी की आकृति पर उत्पन्न किया गया है, क्योंकि जो जिससे जना जाता है, उसी की आकृति पर होता है। और वह पंचविध प्राण वास्तव में प्रजापति का स्वरूप है, और यह मन (अंतःकरण) मनुष्य की असलियत है।

(२) जिस प्रकार प्रजापति फैलता हुआ अनेक प्राण हो जाता है, इसी तरह यह मन भी फैलता हुआ अनेक संकल्प और विकल्प-रूप होता है। जिस तरह देवलोक में प्रजापति से अनेक प्राण वा दिव्य शक्तियां निकलती हुईं जुदा-जुदा विशेष मूर्तियाँ धारण करती हैं और प्रजापति में एक होती हैं, इसी तरह मन की वृत्तियाँ भी मन से निकलती हुईं जुदा-जुदा संकल्पमय रूप धारण करती मन से एक होती हैं।

सूँघता, मुँह से बोलता, हाथों से पकड़ता, पावों से चलता, गुदा से मल त्यागता और लिंग से विषयानंद करता है।

(८) यद्यपि यह मन प्रजापति का पुत्र प्रजापति की तरह फैल कर पंच ज्ञानेंद्रिय और पंच कर्मेंद्रिय रूप हुआ है और भिन्न-भिन्न स्थानों में इजलास करता विशेष-विशेष काम करता है, तो भी आप प्रजापति की भाँति हृदय-कमल में सिंहासीन होकर ज्ञान और कर्म में सोच-विचार करता सब का शासक सब पर आज्ञा करता है। जब वह चाहता है, तो आँख खुलती है और देखती है; जब वह चाहता है, तो वाणी बोलती है। इसी तरह प्रजापति की भाँति सब उसके अधिकार में और उसके आज्ञानुवर्ती हैं।

(९) उसकी कर्मेंद्रियां रूप फैलावट उसी फैलावट पर है जो पंचविध प्राण में प्रकट की गई है, और यह फैलावट जो ज्ञानेंद्रिय रूप है, प्रजापति की विज्ञानमय इन्द्रियों पर है जिसका अभी उल्लेख नहीं हुआ है। इस कारण यह पुत्र भी पिता की आकृति पर उत्पन्न हुआ उसी का राजकुमार उसी तरह इस पिंड में राज करता है जिस तरह प्रजापति ब्रह्माण्ड में राज करता है।

(१०) जिस तरह मनुष्य का मन हृदय कमल में खुलता, सोच-विचार रूप होता है, उसी तरह प्रजापति का मन भी उस चन्द्र में जो सूर्य के चहुँ ओर फिरता है, सोच-विचार रूप खुलता है। जिस तरह हृदय-कमल में आकाश है, जो हृदयाकाश कहलाता है, उसी तरह चन्द्रमा में भी आकाश है, जो प्रजापति का सिंहासन वा देवलोक कहलाता है। जैसा हृदयकाश मानवी सोच विचार का मुख्य स्थान है, उसी तरह देवलोक भी प्रजापति के सोच-विचार का खास स्थान (वा स्थान) है।

सूँघता, मुँह से बोलता, हाथों से पकड़ता, पावों से चलता, गुदा से मल त्यागता और लिंग से विषयानंद करता है।

(८) यद्यपि यह मन प्रजापति का पुत्र प्रजापति की तरह फैलकर पंच ज्ञानेंद्रिय और पंच कर्मेंद्रिय रूप हुआ है और भिन्न-भिन्न स्थानों में इजलास करता विशेष-विशेष काम करता है, तो भी आप प्रजापति की भाँति हृदय-कमल में सिंहासीन होकर ज्ञान और कर्म में सोच-विचार करतां सब का शासक सब पर आज्ञा करता है। जब वह चाहता है, तो आँख खुलती है और देखती है; जब वह चाहता है, तो वाणी बोलती है। इसी तरह प्रजापति की भाँति सब उसके अधिकार में और उसके आज्ञानुवर्ती हैं।

(९) उसकी कर्मेंद्रियां रूप फैलावट उसी फैलावट पर है जो पंचविध प्राण में प्रकट की गई है, और यह फैलावट जो ज्ञानेंद्रिय रूप है, प्रजापति की विज्ञानमय इन्द्रियों पर है जिसका अभी उल्लेख नहीं हुआ है। इस कारण यह पुत्र भी पिता की आकृति पर उत्पन्न हुआ उसी का राजकुमार उसी तरह इस पिंड में राज करता है जिस तरह प्रजापति ब्रह्माण्ड में राज करता है।

(१०) जिस तरह मनुष्य का मन हृदय कमल में खुलता, सोच-विचार रूप होता है, उसी तरह प्रजापति का मन भी उस चन्द्र में जो सूर्य के चहुँ ओर फिरता है, सोच-विचार रूप खुलता है। जिस तरह हृदय-कमल में आकाश है, जो हृदयाकाश कहलाता है, उसी तरह चन्द्रमा में भी आकाश है, जो प्रजापति का सिंहासन वा देवलोक कहलाता है। जैसा हृदयकाश मानवी सोच विचार का मुख्य स्थान है, उसी तरह देवलोक भी प्रजापति के सोच-विचार का खास महल (वा स्थान) है।

है। यद्यपि चक्षु-इन्द्रिय देखती है सुनती नहीं, यद्यपि कान सुनता है, देखता नहीं; तो भी मन चक्षु की देखी वस्तु को देखता और कान से सुनी वस्तु को सुनता है; इस लिये एक ही मन ज्ञान-इन्द्रियों में एकता का संबंध रखता है और उन्हीं का तद्रूप है, यद्यपि इंद्रियाँ अपने २ रूप से तो पृथक २ वस्तुएं हैं।

(१४) प्रजापति का मन भी हमारे मनों के सोच में सोच करता है और हमारे मनों के विचार में विचार करता है। यद्यपि देवदत्त का मन यज्ञदत्त के मन से सोच—विचार नहीं करता और यज्ञदत्त का मन देवदत्त के मन से सोच—विचार नहीं करता, तो भी प्रजापति का मन सब के मनों से समस्त सोच—विचार पाता है। इसी कारण वह सबके मनों की बातें जानता है, और अपनी मुख्य सोच-विचार देवलोक में करता है।

(१५) जिस प्रकार आंख का देखना मन का देखना है, और कान का सुनना मन का सुनना है, उसी तरह ब्रह्मदत्त, यज्ञदत्त और देवदत्त का सोचना प्रजापति का सोचना है। और इंन्द्र, वरुण, यम देवता का सोचना भी प्रजापति का सोचना है। इस तरह क्या मनुष्य और क्या देवता, क्या पशु और क्या पक्षी, सब के मन वास्तव में अलग—अलग हैं, और प्रजापतिका मन उन सब अलग-अलग मनोंकी समष्टि है, और यह स्पष्ट है कि समष्टि प्रत्येक व्यष्टि का तद्रूप होती है, अत एव प्रजापति का मन हरेक मन का तद्रूप होता है।

(१६) जबकि उसका मन-प्रत्येक मन का तद्रूप है और प्रत्येक का मन प्रत्येक की इंद्रियों का तद्रूप है, तो प्रजापति का मन प्रत्येक की इंद्रियों का भी तद्रूप है। इसी कारण जो

है। यद्यपि चक्षु-इन्द्रिय देखती है सुनती नहीं, यद्यपि कान सुनता है, देखता नहीं; तो भी मन चक्षु की देखी वस्तु को देखता और कान से सुनी वस्तु को सुनता है; इस लिये एक ही मन ज्ञान-इन्द्रियों में एकता का संबंध रखता है और उन्हीं का तद्रूप है, यद्यपि इंद्रियाँ अपने २ रूप से तो पृथक २ वस्तुएं हैं।

(१४) प्रजापति का मन भी हमारे मनों के सोच में सोच करता है और हमारे मनों के विचार में विचार करता है। यद्यपि देवदत्त का मन यज्ञदत्त के मन से सोच—विचार नहीं करता और यज्ञदत्त का मन देवदत्त के मन से सोच—विचार नहीं करता, तो भी प्रजापति का मन सब के मनों से समस्त सोच—विचार पाता है। इसी कारण वह सबके मनों की बातें जानता है, और अपनी मुख्य सोच-विचार देवलोक में करता है।

(१५) जिस प्रकार आंख का देखना मन का देखना है, और कान का सुनना मन का सुनना है, उसी तरह ब्रह्मदत्त, यज्ञदत्त और देवदत्त का सोचना प्रजापति का सोचना है। और इंन्द्र, वरुण, यम देवता का सोचना भी प्रजापति का सोचना है। इस तरह क्या मनुष्य और क्या देवता, क्या पशु और क्या पक्षी, सब के मन वास्तव में अलग—अलग हैं, और प्रजापतिका मन उन सब अलग-अलग मनोंकी समष्टि है, और यह स्पष्ट है कि समष्टि प्रत्येक व्यष्टि का तद्रूप होती है, अत एव प्रजापति का मन हरेक मन का तद्रूप होता है।

(१६) जबकि उसका मन प्रत्येक मन का तद्रूप है और प्रत्येक का मन प्रत्येक की इंद्रियों का तद्रूप है, तो प्रजापति का मन प्रत्येक की इंद्रियों का भी तद्रूप है। इसी कारण जो

शारीरिक आकृति में प्रकट हुआ है। हम सब उसी के पुत्र, उसी के अंश हैं, और उसी के उत्तराधिकारी हैं।

(१६) चन्द्रलोक में वह स्वयं: सोच-विचार करता हुआ हमारे मनों में भी तद्रूप हुआ सोच करता है। सूर्य में बैठकर सब को देखता हुआ भी हमारे नेत्रों में देखता है। हमारा देखना उसी का देखना है, और उस का देखना हमारा देखना है। हमारे भोग उसी के भोग हैं, हमारे सुख उसी के सुख हैं, हमारे पुण्य उसी के पुण्य हैं। परन्तु हमारे पाप से वह आलेप नहीं पाता, अर्थात् हमारे पाप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, और इसी लिये हमारे दुःखों से वह दुःखी नहीं होता; क्योंकि उस ने पहले कल्प में अपने स्वकृत कर्मों से यहां प्रजापति का पद पाया है, और उन्ही सत् कर्मों के कारण अब समष्टिरूप में वह बठा है, इसी कारण समस्त सुख और ऐश्वर्य के लिये वह सब का तद्रूप हुआ है, जिस से कि वह सर्व के पुण्य और सुख का भोक्ता होवे। हमारे दुष्कर्मों के फल दुःखों के रूप में हमको पीड़ित करते हैं, परन्तु उस प्रजापति पर प्रभाव नहीं डालते। यही विधान वा निर्देश है।

(२०) पँच प्राण और देवता भी, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है, यद्यपि प्रजापति की नाईं एक-एक काम के लिये सारे संसारमें पहले सब कामोंका तद्रूप हैं, तो भी वह समस्त देवलोक में विशेष मूर्तियां पुण्य-रूप धारण करते अपने-अपने पद के अनुसार अपने पुण्य भोगते हैं, और उन्हीं पुण्यों के कारण हमारे पुण्य और सुखों के अधिकार भी प्रजापति की भांति पाते हैं। इसी कारण लिखा है कि देवता पुण्य-लोक में प्राप्त होते पुण्य के भागी हैं, और पापमय योनियां केवल पाप की भागी हैं। परन्तु मनुष्य

शारीरिक आकृति में प्रकट हुआ है। हम सब उसी के पुत्र, उसी के अंश हैं, और उसी के उत्तराधिकारी हैं।

(१६) चन्द्रलोक में वह स्वयं सोच-विचार करता हुआ हमारे मनों में भी तद्रूप हुआ सोच करता है। सूर्य में बैठकर सब को देखता हुआ भी हमारे नेत्रों में देखता है। हमारा देखना उसी का देखना है, और उस का देखना हमारा देखना है। हमारे भोग उसी के भोग हैं, हमारे सुख उसी के सुख हैं, हमारे पुण्य उसी के पुण्य हैं। परन्तु हमारे पाप से वह आलेप नहीं पाता, अर्थात् हमारे पाप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, और इसी लिये हमारे दुःखों से वह दुःखी नहीं होता; क्योंकि उस ने पहले कल्प में अपने स्वकृत कर्मों से यहां प्रजापति का पद पाया है, और उन्हीं सत् कर्मों के कारण अब समष्टिरूप में वह बैठा है, इसी कारण समस्त सुख और ऐश्वर्य के लिये वह सब का तद्रूप हुआ है, जिस से कि वह सर्व के पुण्य और सुख का भोक्ता होवे। हमारे दुष्कर्मों के फल दुःखों के रूप में हमको पीड़ित करते हैं, परन्तु उस प्रजापति पर प्रभाव नहीं डालते। यही विधान वा निर्देश है।

(२०) पँच प्राण और देवता भी, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है, यद्यपि प्रजापति की नाईं एक-एक काम के लिये सारे संसारमें पहले सब कामोंका तद्रूप हैं, तो भी वह समस्त देवलोक में विशेष मूर्तियां पुण्य-रूप धारण करते अपने-अपने पद के अनुसार अपने पुण्य भोगते हैं, और उन्हीं पुण्यों के कारण हमारे पुण्य और सुखों के अधिकार भी प्रजापति की भांति पाते हैं। इसी कारण लिखा है कि देवता पुण्य-लोक में प्राप्त होते पुण्य के भागी हैं, और पापमय योनियां केवल पाप की भागी हैं। परन्तु मनुष्य

कर्म-इंद्रियों से मिलकर समुदाय रूप से सूक्ष्म शरीर या अंतःकरण कहलाता है, उसी तरह वह समष्टि मन समस्त देवताओं से मिलकर हिरण्यगर्भ कहलाता है।

(२३) प्रजापति जिस तरह अपने विराट् शरीर और हिरण्य गर्भ से मिलाप पाया हुआ जीवित पुरुष है, हम भी अन्तःकरण और सूक्ष्म शरीर से मेल पाए हुए जीवित पुरुष या जीती जागती जान हैं। जिस तरह यह ब्रह्मांड में प्रविष्ट हुआ राज करता है, हम भी उसी की आकृति पर इस संक्षिप्त पिंड में (प्रविष्ट हुए) राज्य करते हैं।

(२४) देखो जब हम चाहते हैं कि एक ओंकार लिखें, तो पहले हमारे हृदय-कमल में संकल्प उठता है, और फिर मस्तिष्क में उसकी आकृति का ध्यान होता है, फिर कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों के द्वारा वही ध्यान की हुई ओंकार की आकृति लेखनी और स्याही से बाहर कागज़ पर बनाते हैं।

(२५) प्रजापति भी जब कोई वस्तु बनाया चाहता है, तो पहले उस का संकल्प चंद्रलोक में, जो देवलोक है, उठता है, और उसकी आकृति देवलोक में ध्यान होती और फिर देवताओं और तारों की बिचवानी से उसी नियम से भूलोक में गति होती और बाह्य आकृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, और समस्त देवता और पितर तथा समस्त नर-नारी उसी के कारण और करण (साधन) हैं, क्योंकि कुछ वस्तुएँ तो केवल देवताओं की बिचवानी से अर्थात् देवताओं के वसीले बनती हैं और कुछ मनुष्य की बिचवानी (वसीले) से। इसी कारण वह प्रजापति कारणों का कारण कहलाता है।

(२६) प्रजापति का संकल्प अपने भोग और ऐश्वर्य के लिये अपने पुण्य कर्मों के बंधन में है, परन्तु दूसरों के भोग

कर्म-इंद्रियों से मिलकर समुदाय रूप से सूक्ष्म शरीर या अंतःकरण कहलाता है, उसी तरह वह समष्टि मन समस्त देवताओं से मिलकर हिरण्यगर्भ कहलाता है।

(२३) प्रजापति जिस तरह अपने विराट् शरीर और हिरण्य गर्भ से मिलाप पाया हुआ जीवित पुरुष है, हम भी अन्तःकरण और सूक्ष्म शरीर से मेल पाए हुए जीवित पुरुष या जीती जागती जान हैं। जिस तरह यह ब्रह्मांड में प्रविष्ट हुआ राज करता है, हम भी उसी की आकृति पर इस संक्षिप्त पिंड में (प्रविष्ट हुए) राज्य करते हैं।

(२४) देखो जब हम चाहते हैं कि एक ओंकार लिखें, तो पहले हमारे हृदय-कमल में संकल्प उठता है, और फिर मस्तिष्क में उसकी आकृति का ध्यान होता है, फिर कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों के द्वारा वही ध्यान की हुई ओंकार की आकृति लेखनी और स्याही से बाहर कागज़ पर बनाते हैं।

(२५) प्रजापति भी जब कोई वस्तु बनाया चाहता है, तो पहले उस का संकल्प चंद्रलोक में, जो देवलोक है, उठता है, और उसकी आकृति देवलोक में ध्यान होती और फिर देवताओं और तारों की बिचवानी से उसी नियम से भूलोक में गति होती और बाह्य आकृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, और समस्त देवता और पितर तथा समस्त नर-नारी उसी के कारण और करण (साधन) हैं, क्योंकि कुछ वस्तुएँ तो केवल देवताओं की बिचवानी से अर्थात् देवताओं के वसीले बनती हैं और कुछ मनुष्य की बिचवानी (वसीले) से। इसी कारण वह प्रजापति कारणों का कारण कहलाता है।

(२६) प्रजापति का संकल्प अपने भोग और ऐश्वर्य के लिये अपने पुण्य कर्मों के बंधन में है, परन्तु दूसरों के भोग

सत्य का पालन करते हैं और इस अचिरस्थायी (क्षणभंगुर) संसार को तुच्छ जानते हैं और अपने अधिकार पर सन्तुष्ट होकर भलाई से वर्ताव करते हैं, उनके लिये सोमलोक, जो स्वर्ग है, बुलाता है। और यह भौतिक शरीर छोड़ते ही सोम-राज होते स्वर्ग के सुख भोगते हैं और अप्सरा तथा प्रासाद और भांति-भांति के सुस्वादु भोजन और प्रसाद (नेमतें) पाते हैं। अतः आओ और समझो। संसार का धोका मत खाओ और पाश्चात्य विद्या के प्रकाश वा आलोक पर मतवाले न रहो। गया समय हाथ नहीं आता। खबरदार हो जाओ।

——:o:——

आठवाँ अध्याय।

(१) पंच प्राण की असलीयत एक धुकती अग्नि है, और मन अर्थात् अन्तःकरण की असलीयत एक जलती आग है। जिस तरह धुकती आग में फूँक से आग जल उठती है और लपट मारती है, उसी तरह प्राणों में फूँक से मन पैदा होता है और लपटें मारता है, दिमाग तक फैलता है, और उसी तरह आँख, कान, नाक, मुँह में निकलता है जिस तरह जलती आग अँगीठी के पांचों ओर से छेदों में से निकलती है।

(२) यह स्पष्ट है कि जब अग्नि में कुछ ईंधन दिया जाता है और उसे फूँक मारी जाती है, तो विशेष रीति से आग जल उठती है और प्रकाश देती है। इसी तरह प्राण में जब अन्न दिया जाता है और विशेष विधि से प्रजापति फूँकता है, तो उसमें मन भी आग उठता है और सोच-समझ का प्रकाश देता है, और ज्ञान-इन्द्रिय होकर मस्तिष्क में फैलता है।

सत्य का पालन करते हैं और इस अचिरस्थायी (क्षणभंगुर) संसार को तुच्छ जानते हैं और अपने अधिकार पर सन्तुष्ट होकर भलाई से वर्ताव करते हैं, उनके लिये सोमलोक, जो स्वर्ग है, बुलाता है। और यह भौतिक शरीर छोड़ते ही सोम-राज होते स्वर्ग के सुख भोगते हैं और अप्सरा तथा प्रासाद और भांति-भांति के सुस्वादु भोजन और प्रसाद (नेमतें) पाते हैं। अतःआओ और समझो। संसार का धोका मत खाओ और पाश्चात्य विद्या के प्रकाश वा आलोक पर मतवाले न रहो। गया समय हाथ नहीं आता। खबरदार हो जाओ।

———:o:———

आठवाँ अध्याय।

(१) पंच प्राण की असलीयत एक धुकती अग्नि है, और मन अर्थात् अन्तःकरण की असलीयत एक जलती आग है। जिस तरह धुकती आग में फूँक से आग जल उठती है और लपट मारती है, उसी तरह प्राणों में फूँक से मन पैदा होता है और लपटें मारता है, दिमाग तक फैलता है, और उसी तरह आँख, कान, नाक, मुँह में निकलता है जिस तरह जलती आग अँगीठी के पांचों ओर से छेदों में से निकलती है।

(२) यह स्पष्ट है कि जब अग्नि में कुछ ईंधन दिया जाता है और उसे फूँक मारी जाती है, तो विशेष रीति से आग जल उठती है और प्रकाश देती है। इसी तरह प्राण में जब अन्न दिया जाता है और विशेष विधि से प्रजापति फूँकता है, तो उसमें मन भी जाग उठता है और सोच-समझ का प्रकाश देता है, और ज्ञान-इन्द्रिय होकर मस्तिष्क में फैलता है।

तरह तैयार किया है, जिस तरह उसने अपने बसने के लिये ब्रह्मांड को तैयार किया है। हृदय-कमल एक विशेष आराम का बंगला बनाया है, जिसमें यह मनो राज्य करता है। इस बँगले में दो उत्तम द्वार लगाए गए हैं, जो हृदय के कान कहलाते हैं और उस पर उत्तम चिक डाली है जो हृदय का परदा कहलाती है। और उसके ऊपर एक पंखा हिलता है जिसको फेफड़ा बोलते हैं। यह पंखा उसके आराम के लिये हर समय हिलता है और उसकी प्रफुल्लता के लिये प्रतिक्षण हवा पहुँचाता है।

(७) इस हृदय-कमल से दो नींद लाने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं जो मस्तिष्क को जाती हैं। और ये नाड़ियां उसकी दो सड़कें हैं जो देवयान और पितृयान की भाँति बनाई गई हैं। और मस्तिष्क उसका मुख्य सार्वजनिक सभाभवन है जहाँ बैठकर वह सारे संसार वरन् पिता के ब्रह्मांड की सैर करता है। जब वह भीतरी बँगले से उन सड़कों की चौड़ाई के साथ बाहरी बँगले मस्तिष्क में आता है, तो ज्ञान-रूप फैलता हुआ बाहर की सैर करता है। और जो कुछ देखता या सुनता है, उसकी मात्रा को लेकर उन्हीं सड़कों के द्वारा फिर भीतरी बँगले में आ जाता है, और उसी मात्रा के अनुसार फैलता हुआ अपने भीतरी बँगले में एक विचित्र ब्रह्मांड प्रजापति के ब्रह्मांड के समान बनाता है। जिससे सिद्ध होता है कि यह प्रजापति का राजकुमार वही चमत्कार रखता है जो उसके बाप के हैं।

(८) जब यह मस्तिष्क में इस्तेमाल करता है, अपने पिता

तरह तैयार किया है, जिस तरह उसने अपने बसने के लिये ब्रह्मांड को तैयार किया है। हृदय-कमल एक विशेष आराम का बंगला बनाया है, जिसमें यह मनो राज्य करता है। इस बँगले में दो उत्तम द्वार लगाए गए हैं, जो हृदय के कान कहलाते हैं और उस पर उत्तम चिक डाली है जो हृदय का परदा कहलाती है। और उसके ऊपर एक पंखा हिलता है जिसको फेफड़ा बोलते हैं। यह पंखा उसके आराम के लिये हर समय हिलता है और उसकी प्रफुल्लता के लिये प्रतिक्षण हवा पहुँचाता है।

(७) इस हृदय-कमल से दो नींद लाने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं जो मस्तिष्क को जाती हैं। और ये नाड़ियां उसकी दो सड़कें हैं जो देवयान और पितृयान की भाँति बनाई गई हैं। और मस्तिष्क उसका मुख्य सार्वजनिक सभाभवन है जहाँ बैठकर वह सारे संसार वरन् पिता के ब्रह्मांड की सैर करता है। अब वह भीतरी बँगले से उन सड़कों की चौड़ाई के साथ बाहरी बँगले मस्तिष्क में आता है, तो ज्ञान-रूप फैलता हुआ बाहर की सैर करता है और जो कुछ देखता या सुनता है, उसकी मात्रा को लेकर इन्हीं सड़कों के द्वारा फिर भीतरी बँगले में आ जाता है, और उसी मात्रा के अनुसार फैलता हुआ अपने भीतरी बँगले में एक विचित्र ब्रह्मांड प्रजापति के ब्रह्मांड के समान बनाता है। जिससे सिद्ध होता है कि यह प्रजापति का राजकुमार वही चमत्कार रखता है जो उसके बाप के हैं।

(८) जब यह मस्तिष्क में इजलास करता है, अपने पिता के ब्रह्मांड की आकृति पर फैलता है, तो साधारण लोग इसको जागृति बोलते हैं और जब यह जाग्रत्-अवस्था मात्रा लेकर भीतर ही भीतर एक नया संसार

और वह जो असत् वृत्तियाँ हैं, उनको असुर कहते हैं। इस प्रकार एक ही मन (अंतः करण) अनेक देवता और असुर रूप होकर हृदय के भीतर प्राण रूपी तार से बंदी (क़ैदी) होकर बसता है, और इस तार की गिरह उसी के कर्म हैं जो उसके भोग देने के लिये उदय होते हैं।

(१२) जब तक यह अपने भोग भोग नहीं लेता, तब तक उन्हीं कर्मों की ज़ंजीरमें फँसा हुआ कभी दुःख कभी सुख की दशाओं में बदलता दुख सुख पाता है। जब कभी उसके कर्म सुखके उठते है तो सुखी होता है, और जब कभी उसके कर्म दुख के उठते है तो दुखी होता है।

(१३) *गार्ग्य ऋषि ने पिप्पलाद मुनि से पूछा कि हे भगवन्! इस मनुष्य में कौन-कौन से देवता सो जाते हैं और कौन-कौन से जागते रहते हैं? कौन-सा देवता स्वप्नों को देखता है और निद्रा का आराम किसको होता है? और उस समय किस में ये सब लय हो जाते हैं?

(१४) पिप्पलाद मुनि ने उत्तर दिया कि ऐ गार्ग्य! जैसे सूर्य की किरणें सूर्यास्त के समय सूर्य में लय हो जाती हैं और उसी से एक होती है और फिर बार-बार उदय के समय उसी से निकलती है, इसी तरह समस्त इंद्रियाँ क्या ज्ञानेंद्रियाँ क्या कर्मेंद्रियाँ, उसी महान् देव मन (अंतः करण) में एक हो जाती हैं। इसी कारण यह मनुष्य उस समय न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न छूता है, न पकड़ता है, न आनंद लेता है। उस समय निश्चय होता है कि सोता है।

(१५) परन्तु प्राण-रूप आग इस शरीर में जागती

---

* (देखो प्रश्नोपनिषद् चौथा प्रश्न)

और वह जो असत् वृत्तियाँ हैं, उनको असुर कहते हैं। इस प्रकार एक ही मन (अंतः करण) अनेक देवता और असुर रूप होकर हृदय के भीतर प्राण रूपी तार से बंदी (क़ैदी) होकर बसता है, और इस तार की गिरह उसी के कर्म हैं जो उसके भोग देने के लिये उदय होते हैं।

(१२) जब तक यह अपने भोग भोग नहीं लेता, तब तक उन्हीं कर्मों की ज़ंजीरमें फँसा हुआ कभी दुःख कभी सुख की दशाओं में बदलता दुख सुख पाता है। जब कभी उसके कर्म सुखके उठते हैं तो सुखी होता है, और जब कभी उसके कर्म दुख के उठते हैं तो दुखी होता है।

(१३) *गार्ग्य ऋषि ने पिप्पलाद मुनि से पूछा कि हे भगवन्! इस मनुष्य में कौन-कौन से देवता सो जाते हैं और कौन-कौन से जागते रहते हैं? कौन-सा देवता स्वप्नों को देखता है और निद्रा का आराम किसको होता है? और उस समय किस में ये सब लय हो जाते हैं?

(१४) पिप्पलाद मुनि ने उत्तर दिया कि ऐ गार्ग्य! जैसे सूर्य की किरणें सूर्यास्त के समय सूर्य में लय हो जाती हैं और उसी से एक होती हैं और फिर बार-बार उदय के समय उसी से निकलती हैं, इसी तरह समस्त इंद्रियाँ क्या ज्ञानेंद्रियाँ क्या कर्मेंद्रियाँ, उसी महान् देव मन (अंतः करण) में एक हो जाती हैं। इसी कारण यह मनुष्य उस समय न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न छूता है, न पकड़ता है, न आनंद लेता है। उस समय निश्चय होता है कि सोता है।

(१५) परन्तु प्राण-रूप आग इस शरीर में जागती

---

* (देखो प्रश्नोपनिषद् चौथा प्रश्न)

क्या सूँघ, क्या चखना क्या चाख, क्या स्वाद लेना क्या स्वाद, क्या छूना क्या छूत, क्या वाणी क्या अर्थ, क्या पकड़ना क्या पकड़, क्या त्याग क्या ग्रहण, क्या गमन क्या गति, क्या मन क्या सोच, क्या बुद्धि क्या बुद्धिमत्ता, क्या स्मरण क्या स्मृति, क्या अहंकार क्या अहंता, क्या प्राण क्या जीवन, सब परमात्मा में लीन हो जाते हैं।

(२०) उस समय यह निश्चय होता है कि वह वादानुवाद वा तर्क वितर्क से रहित है, देखता नहीं किंतु दृष्टिस्वरूप है, सुनता नहीं किंतु श्रवण स्वरूप है, सूँघता नहीं किंतु घ्राण स्वरूप है। अतः जो उसे जानता है, जो कि बिना छाया, शरीर और रंग के है, वह आत्मविद् है, और वही सर्व-रूप है।

(२१) इस प्रकार के वैदिक प्रमाण से सिद्ध होता है कि स्वप्नावस्था ठीक देवलोक का आविर्भाव है, और सुषुप्ति अवस्था ठीक ब्रह्मलोक की सत्यता (अवस्था) है। और उदान प्राण नित्य इसको देवलोक और ब्रह्मलोक में ले जाता है। लेकिन इस लिये कि वह अपने कर्मों की कैद में बन्द है, फिर जाग्रदावस्था में आ जाता और दुख-सुख पाता है।

(२२) परंतु जब यह शास्त्र-नियमानुसार कर्मों का करता रहता है, तो मृत्यु के बाद वही उदान उसको देवयान सड़क पर अनेक रूपों में पलटता हुआ सूर्य में ले जाता है, और वहाँ से देवलोक में पहुँचाता है और सत्य संकल्प हो जाता है। वरन् जिस प्रकार मस्तिष्क से हृदय-कमल में वह नित्य जाता है, उसी तरह देवलोक से वह चंद्रलोक को, जो प्रजापतिका मुख्य हृदय है, जाता है और उसके बराबर हो जाता है, और प्रजापति से एक हो जाता है। यही

क्या सूँघ, क्या चखना क्या चाख, क्या स्वाद लेना क्या स्वाद, क्या छूना क्या छूत, क्या वाणी क्या अर्थ, क्या पकड़ना क्या पकड़, क्या त्याग क्या ग्रहण, क्या गमन क्या गति, क्या मन क्या सोच, क्या बुद्धि क्या बुद्धिमत्ता, क्या स्मरण क्या स्मृति, क्या अहंकार क्या अहंता, क्या प्राण क्या जीवन, सब परमात्मा में लीन हो जाते हैं।

(२०) उस समय यह निश्चय होता है कि वह वादानुवाद वा तर्क वितर्क से रहित है, देखता नहीं किंतु दृष्टिस्वरूप है, सुनता नहीं किंतु श्रवण स्वरूप है, सूँघता नहीं किंतु घ्राण स्वरूप है। अतः जो उसे जानता है, जो कि बिना छाया, शरीर और रंग के है, वह आत्मविद् है, और वही सर्व-रूप है।

(२१) इस प्रकार के वैदिक प्रमाण से सिद्ध होता है कि स्वप्नावस्था ठीक देवलोक का आविर्भाव है, और सुषुप्ति अवस्था ठीक ब्रह्मलोक की सत्यता (अवस्था) है। और उदान प्राण नित्य इसको देवलोक और ब्रह्मलोक में ले जाता है। लेकिन इस लिये कि वह अपने कर्मों की कैद में बन्द है, फिर जाग्रदावस्था में आ जाता और दुख-सुख पाता है।

(२२) परंतु जब यह शास्त्र-नियमानुसार कर्मों का करता रहता है, तो मृत्यु के बाद वही उदान उसको देवयान सड़क पर अनेक रूपों में पलटता हुआ सूर्य में ले जाता है, और वहाँ से देवलोक में पहुँचाता है और सत्य संकल्प हो जाता है। वरन् जिस प्रकार मस्तिष्क से हृदय-कमल में वह नित्य जाता है, इसी तरह देवलोक से उस चंद्रलोक को, जो प्रजापतिका मुख्य हृदय है, जाता है और उसके बराबर हो जाता है, और प्रजापति से एक हो जाता है। यही

समान हो जाता है वरन् प्रजापति में मेल पाता प्रजापति हो जाता है और सब में सब कुछ हो जाता है।

(२५) इस समय भी यद्यपि कर्मों के भोग में फँसा हुआ है, तो भी आँख कान से निकलता, धरती और आकाश और जो कुछ उस के बीच में है, सब का तद्रूप होता सब को देखता है। स्वप्न में जाता हुआ ऐसी नाड़ी से जिस का अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र है, ब्रह्मांड-रूप में फैलता है और सब रूप होता है। इस प्रकार की साक्षियों से बुद्धिमान् मनुष्य जान सकता है कि वह भूलोक (मर लोक) से नहीं अपितु अमर-लोक से है, और प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप है। अपने कर्मों के भोग से मानवी रूप में आया दुःख भोग रहा है और उसी तरह वेद-शास्त्र की शिक्षा में दिया जाता है जिस तरह एक राजकुमार भी जब तक युवक नहीं होता, शिक्षकों के बन्धन में रक्खा रहता है।

(२६) फिर जब समय आता है राज्य की शिक्षा पाता है, और पिता का उत्तराधिकार पाता है, तो फिर राजगुरुओं के हाथमें नहीं रहता। इसी तरह यह मन भी जबतक कर्म-भोग के बन्धन मे है, वेद और शास्त्र और ब्राह्मणों के बन्धन में शिक्षा पाता है। परन्तु जब यह शास्त्रीय सिद्धान्तों की शिक्षा पाता है और सत्कर्मों और शास्त्राज्ञाओं पर चलता है, तो मृत्यु के पश्चात् देवयान सड़क पर चलता द्यौलोक के सिंहासन का स्वामी होता है और सत्य संकल्प हो जाता है। जितने सुख के भोग हैं, उस को मिलते हैं; दुख को स्मरण भी नहीं करता, वरन् वे नितान्त विलुप्त हो जाते हैं

(२७) ऐ भाइयो! क्यों अधिकारी होकर उस सिंहासन की इच्छा नहीं करते। अपने कर्मों को सम्हालो और मानुषी बुद्धि को दूर करके शास्त्रीय विश्वास और कर्मों को दृढ़

समान हो जाता है वरन् प्रजापति में मेल पाता प्रजापति हो जाता है और सब में सब कुछ हो जाता है।

(२५) इस समय भी यद्यपि कर्मों के भोग में फँसा हुआ है, तो भी आँख काल से निकलता, धरती और आकाश और जो कुछ उस के बीच में है, सब का तद्रूप होता सब को देखता है। स्वप्न में जाता हुआ ऐसी नाड़ी से जिस का अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र है, ब्रह्मांड-रूप में फैलता है और सब रूप होता है। इस प्रकार की साक्षियों से बुद्धिमान् मनुष्य जान सकता है कि वह भूलोक (मर लोक) से नहीं अपितु अमर-लोक से है, और प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप है। अपने कर्मों के भोग से मानवी रूप में आया दुःख भोग रहा है और उसी तरह वेद-शास्त्र की शिक्षा में दिया जाता है जिस तरह एक राजकुमार भी जब तक युवक नहीं होता, शिक्षकों के बन्धन में रक्खा रहता है।

(२६) फिर जब समय आता है राज्य की शिक्षा पाता है, और पिता का उत्तराधिकार पाता है, तो फिर राजगुरुओं के हाथमें नहीं रहता। इसी तरह यह मन भी जबतक कर्म-भोग के बन्धन मे है, वेद और शास्त्र और ब्राह्मणों के बन्धन में शिक्षा पाता है। परन्तु जब यह शास्त्रीय सिद्धान्तों की शिक्षा पाता है और सत्कर्मों और शास्त्राज्ञाओं पर चलता है, तो मृत्यु के पश्चात् देवयान सड़क पर चलता द्यौलोक के सिंहासन का स्वामी होता है और सत्य संकल्प हो जाता है। जितने सुख के भोग हैं, उस को मिलते हैं; दुख को स्मरण भी नहीं करता, वरन् वे नितान्त विलुप्त हो जाते हैं

(२७) ऐ भाइयो! क्यों अधिकारी होकर इस सिंहासन की इच्छा नहीं करते। अपने कर्मों को सम्हालो और मानुषी बुद्धि को दूर करके शास्त्रीय विश्वास और कर्मों को दृढ़

से वर्ताव करते हैं, और क्या अच्छा और क्या बुरा जो प्राप्त होता है, उसी में पूर्ण सुख देखते इन का वर्ताव करते हैं। यद्यपि वह (इंद्रिय) बुरे कामों से घृणा करते और दुःखी होते हैं, तो भी वह न्याय के कारण इनकार नहीं करते, वरन् ऐसे वर्ताव करते हैं जैसे कि एक नौकर वर्ताव करता है, बल्कि नौकर इच्छानुसार नहीं चलता, यह तो इच्छा की दासता भी करते हैं।

(४) जब यह अनजान इन इन्द्रियों को बुरे कामों में लगा कर भोग पाता है, तो ये उसे भोग तो स्वभावानुसार देती हैं, परन्तु उस के लिये एक-पाप उत्पन्न करती है जिस से वह दुरात्मा हो जाता है। और जब वह उनको अच्छे कामों में लगाता भोग पाता है, तो ये उसे भोग भी देती हैं और साथ ही पुण्य भी पैदा करती हैं, जिस से वह भद्र वा भाग्यवान् हो जाता है।

(५) पर वह जो उनकी असलियत और महत्व जानते हैं और उनकी महिमा और धर्मों से परिचित हैं, उनको बुरे कामों में नहीं लगाते वरन् अच्छे कामों में वर्ताव करते हुए भी उनको महान और पूज्य समझते हैं। इसलिये वह उन्हीं के द्वारा मुक्ति का मार्ग भी पाते हैं।

(६) ये बातें कि किस तरह ये सब उपास्य किये जाते हैं, और किस तरह उनकी उपासना होती है, कर्मकांड में सूक्ष्म बातें हैं। प्रत्येक भाषाविद् उन्हें समझ नहीं सकता। तो भी हम संक्षेप से संकेत करते हैं और उस बड़ी उपासना पर संकेत करते हैं जिसमें सबके संबंधी परिणाम प्रविष्ट होजाते हैं,

(७) वाणी या आँख या कान को जो पूज्य वा महान् करके पुण्य कर्म करते हैं, संक्षिप्त और विशिष्ट फल पाते हैं।

से वर्ताव करते हैं, और क्या अच्छा और क्या बुरा जो प्राप्त होता है, उसी में पूर्ण सुख देखते इन का वर्ताव करते हैं। यद्यपि वह (इंद्रिय) बुरे कामों से घृणा करते और दुःखी होते हैं, तो भी वह न्याय के कारण इनकार नहीं करते, बरन् ऐसे बर्ताव करते हैं जैसे कि एक नौकर बर्ताव करता है, बल्कि नौकर इच्छानुसार नहीं चलता, यह तो इच्छा की दासता भी करते हैं।

(४) जब यह अनजान इन इन्द्रियों को बुरे कामों में लगा कर भोग पाता है, तो ये उसे भोग तो स्वभावानुसार देती हैं, परन्तु उस के लिये एक-पाप उत्पन्न करती है जिस से वह दुरात्मा हो जाता है। और जब वह उनको अच्छे कामों में लगाता भोग पाता है, तो ये उसे भोग भी देती हैं और साथ ही पुण्य भी पैदा करती हैं, जिस से वह भद्र या भाग्यवान् हो जाता है।

(५) पर वह जो उनकी असलियत और महत्व जानते हैं और उनकी महिमा और धर्मों से परिचित है, उनको बुरे कामों में नहीं लगाते बरन् अच्छे कामों में बर्ताव करते हुए भी उनको महान और पूज्य समझते हैं। इसलिये वह उन्हीं के द्वारा मुक्ति का मार्ग भी पाते हैं।

(६) ये बातें कि किस तरह ये सब उपास्य किये जाते हैं, और किस तरह उनकी उपासना होती है, कर्मकांड में सूक्ष्म बातें हैं। प्रत्येक भाषाविद् उन्हें समझ नहीं सकता। तो भी हम संक्षेप से संकेत करते हैं और उस बड़ी उपासना पर संकेत करते हैं जिसमें सबके संबंधी परिणाम प्रविष्ट होजाते हैं,

(७) वाणी या आँख या कान को जो पूज्य वा महान् करके पुण्य कर्म करते हैं, संक्षिप्त और विशिष्ट फल पाते हैं।

(११) पहले वाणी निकल गई और साल तक बाहर रही, जब वापिस आई, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा कि जैसे गूँगा नहीं बोलता परन्तु नथनों से साँस लेता है, आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, मन से समझता है, वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब वाणी ने कहा, हाँ ठीक है, और (उस पिण्ड में) प्रविष्ट होगई।

(१२) फिर आँख निकल गई और साल तक बाहर रही। जब वापिस आई, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा कि जैसे अंधा आँखों से नहीं देखता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बोलता है, कानों से सुनता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब आँख ने कहा, ठीक है और (शरीर में) प्रविष्ट होगई।

(१३) फिर कान निकल गया। साल तक बाहर रहा। जब वापिस आया, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? उन्होंने कहा कि जैसे बहरा (बोला पुरुष) नहीं सुनता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता है, आँखों से देखता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब कान ने कहा, ठीक है और (देह में) प्रविष्ट होगया।

(१४ फिर मन निकल गया और साल तक बाहर रहा। जब वापिस आया, तो पूछा, मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा, जैसे मतवाला मन से नहीं समझता, परन्तु नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता, आँखों से देखता, कानों से सुनता और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब मन ने कहा, ठीक है और

(११) पहले वाणी निकल गई और साल तक बाहर रही, जब वापिस आई, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ? तब उन्होंने कहा कि जैसे गूँगा नहीं बोलता परन्तु नथनों से साँस लेता है, आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, मन से समझता है, वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब वाणी ने कहा, हाँ ठीक है, और (उस पिण्ड में) प्रविष्ट होगई।

(१२) फिर आँख निकल गई और साल तक बाहर रही। जब वापिस आई, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ? तब उन्होंने कहा कि जैसे अंधा आँखों से नहीं देखता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बोलता है, कानों से सुनता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब आँख ने कहा, ठीक है और (शरीर में) प्रविष्ट होगई।

(१३) फिर कान निकल गया। साल तक बाहर रहा। जब वापिस आया, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ? उन्होंने कहा कि जैसे बहरा (बोला पुरुष) नहीं सुनता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता है, आँखों से देखता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब कान ने कहा, ठीक है और (देह में) प्रविष्ट होगया।

(१४ फिर मन निकल गया और साल तक बाहर रहा। जब वापिस आया, तो पूछा, मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ? तब उन्होंने कहा, जैसे मतवाला मन से नहीं समझता, परन्तु नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता, आँखों से देखता, कानों से सुनता और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब मन ने कहा, ठीक है और

इसी पर विश्वास लाता है, वही शास्त्रीय कर्म का अधिकारी होता है। जब तक कि वह इस प्रकार का विश्वास नहीं पाता, प्राण अर्थात् जीवात्मा से नहीं जना जाता बल्कि शरीर से जना जाता है। वह जो शरीर से जना जाता है, शरीर ही है और जो जीवात्मा से जना जाता है जीवात्मा ही है।

(१६) शास्त्रिय कर्म, जो वास्तव में शास्त्रीय आज्ञा का कर्म-काण्ड है, उसी के लिये है जो जीवात्मा से जना जाता है; उनके लिये नहीं जो शरीर से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि आत्मा तो अनादि, अनन्त, नित्य है, शरीर नश्वर, आदि, अन्तवान् है, और शास्त्र का फल मृत्युके बाद परलोक में है, शरीर यहाँ मिट्टी हो जाता है। अतः वह जो देह और देहाध्यासी है, उस के लिये शास्त्र व्यर्थ है, बल्कि कष्टकर है; किन्तु वह जो आत्मा या आत्मा वाला है, उस के लिये अमृत और आनंद है।

(२०) यदि शास्त्र देह और देहाध्यासी को भी लाभप्रद होता, तो पशुओं पर प्रचारित होता। किन्तु पशु योग्यता नहीं रखता कि अपने आप को आत्मा या आत्मा वाला निश्चय करे। इसी तरह जो मनुष्य कि शास्त्रीय ढंग से आत्मा से नहीं जना जाता, वास्तव में देह या देहाध्यासी है, यद्यपि मानवी रूप है; और पशु-प्रकृति में मिलता है, यद्यपि आकृति मनुष्य की है।

(२१) वह जो शरीर या शरीर से अध्यास रखने वाला है, उसी को शास्त्र में शूद्र कहते हैं, और उस से उसी तरह सेवा ली जाती है जिस तरह पशुओं से सेवा लेना आवश्यक है। परन्तु वह जो जीवात्मा से दुबारा जने जाते हैं, शास्त्र में द्विजन्मा कहलाते हैं और वही कर्म-कांड के अधिकारी हैं।

इसी पर विश्वास लाता है, वही शास्त्रीय कर्म का अधिकारी होता है। जब तक कि वह इस प्रकार का विश्वास नहीं पाता, प्राण अर्थात् जीवात्मा से नहीं जना जाता बल्कि शरीर से जना जाता है। वह जो शरीर से जना जाता है, शरीर ही है और जो जीवात्मा से जना जाता है जीवात्मा ही है।

(१६) शास्त्रिय कर्म, जो वास्तव में शास्त्रीय आज्ञा का कर्म-काण्ड है, उसी के लिये है जो जीवात्मा से जना जाता है; उनके लिये नहीं जो शरीर से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि आत्मा तो अनादि, अनन्त, नित्य है, शरीर नश्वर, आदि, अन्तवान् है, और शास्त्र का फल मृत्युके बाद परलोक में है, शरीर यहाँ मिट्टी हो जाता है। अतः वह जो देह और देहाध्यासी है, उस के लिये शास्त्र व्यर्थ है, बल्कि कष्टकर है; किन्तु वह जो आत्मा या आत्मा वाला है, उस के लिये अमृत और आनंद है।

(२०) यदि शास्त्र देह और देहाध्यासी को भी लाभप्रद होता, तो पशुओं पर प्रचारित होता। किन्तु पशु योग्यता नहीं रखता कि अपने आप को आत्मा या आत्मा वाला निश्चय करे। इसी तरह जो मनुष्य कि शास्त्रीय ढंग से आत्मा से नहीं जना जाता, वास्तव में देह या देहाध्यासी है, यद्यपि मानवी रूप है; और पशु-प्रकृति में मिलता है, यद्यपि आकृति मनुष्य की है।

(२१) वह जो शरीर या शरीर से अध्यास रखने वाला है, उसी को शास्त्र में शूद्र कहते हैं, और उस से उसी तरह सेवा ली जाती है जिस तरह पशुओं से सेवा लेना आवश्यक है। परन्तु वह जो जीवात्मा से दुबारा जने जाते हैं, शास्त्र में द्विजन्मा कहलाते हैं और वही कर्म-कांड के अधिकारी हैं।

घर में बसता है"।

(२५) इस प्रकार वह पिता के वीर्य और माता के रक्त से बनाया गया है जो स्वयं शरीर है। और पिता उसका नर शरीर है और माँ उसकी मादा शरीर है। और यही दशा पशु की है। खाना पीना भोग करना जैसा पशु का काम है, वैसा उसका काम है। जिस प्रकार पशु भी प्राण रखता और साँस लेता है, उसी तरह यह भी प्राण रखता और साँस लेता है। परंतु पशु को मनुष्य की सेवा करना कर्तव्य है, उसी में उसकी भलाई है, उसी तरह इस शूद्र की भी दशा है, द्विजातियों की सेवा इसका कर्तव्य है, और उसी में इसकी भलाई है।

(२६) पर वह जो उस वाणी से शिक्षा पाता है कि "तुम आत्मा हो, देह नहीं, क्योंकि देह तो वस्त्र की भाँति बदलता है, पर जीव-आत्मा नहीं बदलता। यदि तुम देह होते, तो जब छोटा सा देह जो माता के उदर से निकला था और घुल कर (बदल) जाता रहा था, और यह दूसरा देह जो युवावस्था की दशा में है, भोजन से देहधारी की तरह, उसी ढंग और उसी युक्ति से धीरे-धीरे बदल गया है जैसा कि पहनावा (वस्त्र) बदलता है, और फिर बुढ़ापे में यह भी जाता रहेगा, तो तुम में भी परिवर्तन अवश्य होता।" तो वह इसी शिक्षा से विश्वास कर सकता है कि "मैं देह नहीं, जो हर समय बदलता है, बल्कि मैं जीवात्मा हूँ जो नहीं बदलता"। तब उस समय वह देह से अलग होकर जीव-आत्मा में अहंकार का भाव लाता है और आत्मा तो आत्मा का पुत्र - आत्म रूप है। इस कारण वह वाणी के द्वारा आत्मा से जना जाता है जो दूसरा जन्म है।

(२७) वह वाणी जो मनुष्य को आत्मा से दुबारा उत्पन्न

घर में बसता है"।

(२५) इस प्रकार वह पिता के वीर्य और माता के रक्त से बनाया गया है जो स्वयं शरीर है। और पिता उसका नर शरीर है और माँ उसकी मादा शरीर है। और यही दशा पशु की है। खाना पीना भोग करना जैसा पशु का काम है, वैसा उसका काम है। जिस प्रकार पशु भी प्राण रखता और साँस लेता है, उसी तरह यह भी प्राण रखता और साँस लेता है। परंतु पशु को मनुष्य की सेवा करना कर्तव्य है, उसी में उसकी भलाई है, उसी तरह इस शूद्र की भी दशा है, द्विजातियों की सेवा इसका कर्तव्य है, और उसी में इसकी भलाई है।

(२६) पर वह जो उस वाणी से शिक्षा पाता है कि "तुम आत्मा हो, देह नहीं, क्योंकि देह तो वस्त्र की भाँति बदलता है, पर जीव-आत्मा नहीं बदलता। यदि तुम देह होते, तो जब छोटा सा देह जो माता के उदर से निकला था और घुल कर (बदल) जाता रहा था, और यह दूसरा देह जो युवावस्था की दशा में है, भोजन से देहधारी की तरह, उसी ढंग और उसी युक्ति से धीरे-धीरे बदल गया है जैसा कि पहनावा (वस्त्र) बदलता है, और फिर बुढ़ापे में यह भी जाता रहेगा, तो तुम में भी परिवर्तन अवश्य होता।" तो वह इसी शिक्षा से विश्वास कर सकता है कि "मैं देह नहीं, जो हर समय बदलता है, बल्कि मैं जीवात्मा हूँ जो नहीं बदलता"। तब उस समय वह देह से अलग होकर जीव-आत्मा में अहंकार का भाव लाता है और आत्मा तो आत्मा का पुत्र-आत्म रूप है। इस कारण वह वाणी के द्वारा आत्मा से जना जाता है जो दूसरा जन्म है।

(२७) वह वाणी जो मनुष्य को आत्मा से दुबारा उत्पन्न

निसेनी है; शरीराभिमानी तो वही मिट्टी और समाधि (क़ब्र) का आहार है।

(२९) इस प्रकार की बातों से ज्ञात होता है कि आर्य-संतान को पहले यह विश्वास करना होता है कि "मैं आत्मा हूँ और आत्मा से निकला हूँ, मिट्टी से नहीं", और आत्मा की असलियत वह अग्नि है जो जीवन का आधार है। इस कारण वह अग्नि का पुत्र अग्नि-रूप ज्योति से निकला ठीक ज्योतिस्वरूप है; मिट्टी तो अँधकार है।

(३०) जब वह इस तरह निश्चयवान् हो जाता है और जानता है कि शरीर एक पिंड है जो यहाँ की वस्तु है और जीव-आत्मा जो मेरा अपना आप है, यहाँ की वस्तु नहीं, वरन् द्यौलोक की वस्तु है, तो इच्छा करता है कि मैं किसी तरह ऊर्ध्व-गति लाभ करूं, और जानना चाहता है कि "मैं किस लिये मिट्टी के पिंड में बंदी किया गया हूँ? किस प्रकार इस शरीर के बंधन से छुटकारा पाऊँगा? क्या कारण है कि द्यौलोक में नहीं जा सकता? अब मुझे क्या करना चाहिए जिससे मैं ऊँचे चढ़ूं"? और ये बातें वेद की शिक्षा से ज्ञात हो सकती हैं। इस लिये इस विश्वास के पश्चात् वेद की शिक्षा उसके लिये आवश्यक होती है, और ब्रह्मचर्य के नियम पालन करना उसका कर्तव्य होता है, और वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

(३१) जब वह पर्याप्त समय तक वेद की शिक्षा पाता है, तो फिर वह जीव-आत्मा के धर्म भली भाँति जानता है और पुण्य और पाप के प्रभावों (असलियत) से परिचित होता है। और उस आत्मिक-रसायन से जिस से कि आत्मा को ऊर्ध्व-गति लाभ होती है, परिचित हो जाता है;

निसेनी है; शरीराभिमानी तो वही मिट्टी और समाधि (क़ब्र) का आहार है।

(२९) इस प्रकार की बातों से ज्ञात होता है कि आर्य-संतान को पहले यह विश्वास करना होता है कि "मैं आत्मा हूँ और आत्मा से निकला हूँ, मिट्टी से नहीं", और आत्मा की असलियत वह अग्नि है जो जीवन का आधार है। इस कारण वह अग्नि का पुत्र अग्नि-रूप ज्योति से निकला ठीक ज्योतिस्वरूप है; मिट्टी तो अँधकार है।

(३०) जब वह इस तरह निश्चयवान् हो जाता है और जानता है कि शरीर एक पिंड है जो यहाँ की वस्तु है और जीव-आत्मा जो मेरा अपना आप है,यहाँ की वस्तु नहीं,बरन् द्यौलोक की वस्तु है, तो इच्छा करता है कि मैं किसी तरह ऊर्ध्व-गति लाभ करूं, और जानना चाहता है कि "मैं किस लिये मिट्टी के पिंड में बंदी किया गया हूँ? किस प्रकार इस शरीर के बंधन से छुटकारा पाऊँगा? क्या कारण है कि द्यौलोक में नहीं जा सकता? अब मुझे क्या करना चाहिए जिससे मैं ऊँचे चढ़ूं"? और ये बातें वेद की शिक्षा से ज्ञात हो सकती हैं। इस लिये इस विश्वास के पश्चात् वेद की शिक्षा उसके लिये आवश्यक होती है, और ब्रह्मचर्य के नियम पालन करना उसका कर्तव्य होता है, और वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

(३१) जब वह पर्याप्त समय तक वेद की शिक्षा पाता है, तो फिर वह जीव-आत्मा के धर्म भली भाँति जानता है और पुण्य और पाप के प्रभावों (असलियत) से परिचित होता है। और उस आत्मिक-रसायन से जिस से कि आत्मा को ऊर्ध्व-गति लाभ होती है, परिचित हो जाता है;

होती है और प्रार्थनाएँ की जाती हैं, जिससे वह असत से सत को और तम से ज्योति को और मृत्यु से अमृत को प्राप्त होता है।

(३५) यज्ञ में चार ब्राह्मण चुन लिए जाते हैं, जो इस आत्मिक रसायन को कराते हैं। एक तो वह होता है, जो ऋग्वेद को जानता है; दूसरा वह जो यजुर्वेद का विद्वान् है; तीसरा वह जो सामवेद का पंडित होता है; और चौथा वह जो इन तीनों को जानता है और इनके कामों की देख-भाल कर सकता है।

(३६) ऋग्वेदी को 'होता' बोलते हैं, और यजुर्वेदी को 'अध्वर्यु' और सामवेदी को 'उद्गाता' कहा करते हैं और वह जो इनके कामों की देख-भाल करता है, 'ब्रह्मा' कहलाता है। 'होता' का काम होम है, 'अध्वर्यु' का आहुतियाँ तैयार करना है, 'उद्गाता' का काम साम गाना है, जिससे महान प्राण प्रसन्न होकर पुण्य उत्पन्न करता है। 'ब्रह्मा' का काम इन तीनों की देख-भाल करना है।

(३७) हम इसकी असलीयत को उदाहरण द्वारा और सरल करते हैं। देखो श्रीमानों के भोज में एक तो वह होता है जो भोजन पकाता है, जिसे पाचक (रसोया) बोलते हैं; दूसरा वह होता है जो उन भोजन-पदार्थों को चुन-चुन कर आमंत्रितों के आगे रखता है, एक वाद्कलावित् (बैण्ड-मास्टर) होता है जो भोज के समय आनंद के गीत गाता है और मांगलिक बाजे बजाता है। परंतु वह जो भोज का प्रबन्धक होता है और सबकी देख-भाल करता है, भोज का अधिकारी (कार्यवेक्षक) होता है; और जो भोज देता है, निमंत्रक (यजमान) कहलाता है।

(३८) इसी प्रकार प्राण के भोज में 'होता' भंडारी,

होती है और प्रार्थनायें की जाती हैं, जिससे वह असत से सत को और तम से ज्योति को और मृत्यु से अमृत को प्राप्त होता है।

(३५) यज्ञ में चार ब्राह्मण चुन लिए जाते हैं, जो इस आत्मिक रसायन को कराते हैं। एक तो वह होता है, जो ऋग्वेद को जानता है; दूसरा वह जो यजुर्वेद का विद्वान् है; तीसरा वह जो सामवेद का पंडित होता है; और चौथा वह जो इन तीनों को जानता है और इनके कामों की देख-भाल कर सकता है।

(३६) ऋग्वेदी को 'होता' बोलते हैं, और यजुर्वेदी को 'अध्वर्यु' और सामवेदी को 'उद्गाता' कहा करते हैं और वह जो उनके कामों की देख-भाल करता है, 'ब्रह्मा' कहलाता है। 'होता' का काम होम है, 'अध्वर्यु' का आहुतियाँ तैयार करना है, 'उद्गाता' का काम साम गाना है, जिससे महान प्राण प्रसन्न होकर पुण्य उत्पन्न करता है। 'ब्रह्मा' का काम इन तीनों की देख-भाल करना है।

(३७) हम इसकी असलीयत को उदाहरण द्वारा और सरल करते हैं। देखो श्रीमानों के भोज में एक तो वह होता है जो भोजन पकाता है, जिसे पाचक (रसोया) बोलते हैं; दूसरा वह होता है जो उन भोजन-पदार्थों को चुन-चुन कर आमंत्रितों के आगे रखता है, एक वाद्यकलावित् (बैंड-मास्टर) होता है जो भोज के समय आनंद के गीत गाता है और मांगलिक बाजे बजाता है। परंतु वह जो भोज का प्रबन्धक होता है और सबकी देख-भाल करता है, भोज का अधिकारी (कार्यवेक्षक) होता है; और जो भोज देता है, निमंत्रक (यजमान) कहलाता है।

(३८) इसी प्रकार प्राण के भोज में 'होता' भंडारी,

उठते हैं, उनके लिये कोई कारण है, और वही कारण पिछले पाप और पुण्य के संस्कार हैं। परंतु वह जो बुराई के कारण (पाप) हैं असुर हैं और भलाई के कारण जो पुण्य हैं देवता हैं। इसी कारण कुविचार आसुरी-संपदा और सुविचार दैवी-संपदा कहलाते हैं।

(४२) आत्मिक विश्वासवाले मनुष्य को चाहिए कि जहाँ तक संभव हो, बुरे विचारों को रोके और अच्छे विचारों को उठावे। इसी में उसकी सज्जनता है। परंतु इस कारण कि बुराई के विचार स्वाभाविक हैं और पहले उत्पन्न होते हैं, और भलाई के विचार शिक्षा से आते हैं, इस लिये असुर तो बड़े हैं और देवता छोटे हैं। और यह स्पष्ट है कि जो पहले शरीर रूपी दुर्ग में अधिकार पाते हैं, कठिनता से दूर होते हैं। क्योंकि जब तक देवता और असुरों के बीच में एक बड़ा युद्ध नहीं होता, तब तक असुर पराजित नहीं होते।

(४३) बुद्धिमान् मनुष्य से यह छिपा नहीं है कि जब वह अपने मन की वृत्तियों में विचार करे, तो जान सकता है कि उस का मन एक दुर्ग के समान है जिस पर असुर और देवताओं के आक्रमण होते है, और अच्छाई और बुराई के विचार उन बाणों के समान हैं जो हर ओर से आते हैं, और किसी समय भी अवकाश नहीं है कि मन उन विचारोंसे रिक्त हो। अतः आश्चर्य है कि वह मनुष्य जिस के मन पर विविध सेनाएँ मनोराज की चढ़ आई हों, और उसे बार-बार लक्ष्य कर रही हों, निश्चिंत बैठा रहे, वरन सांसारिक उन्नति और घर-बार की चिंता में लगा रहे।

(४४) मनुष्य को चाहिए कि वह आवश्यक संसारी कार्यों से छुट्टी पाकर सबेरे और शाम एकांत में बैठकर मन

उठते हैं, उनके लिये कोई कारण है, और वही कारण पिछले पाप और पुण्य के संस्कार हैं। परंतु वह जो बुराई के कारण (पाप) हैं असुर हैं और भलाई के कारण जो पुण्य हैं देवता हैं। इसी कारण कुविचार आसुरी-संपदा और सुविचार दैवी-संपदा कहलाते हैं।

(४२) आत्मिक विश्वासवाले मनुष्य को चाहिए कि जहाँ तक संभव हो, बुरे विचारों को रोके और अच्छे विचारों को उठावे। इसी में उसकी सज्जनता है। परंतु इस कारण कि बुराई के विचार स्वाभाविक हैं और पहले उत्पन्न होते हैं, और भलाई के विचार शिक्षा से आते हैं, इस लिये असुर तो बड़े हैं और देवता छोटे हैं। और यह स्पष्ट है कि जो पहले शरीर रूपी दुर्ग में अधिकार पाते हैं, कठिनता से दूर होते हैं। क्योंकि जब तक देवता और असुरों के बीच में एक बड़ा युद्ध नहीं होता, तब तक असुर पराजित नहीं होते।

(४३) बुद्धिमान् मनुष्य से यह छिपा नहीं है कि जब वह अपने मन की वृत्तियों में विचार करे, तो जान सकता है कि उस का मन एक दुर्ग के समान है जिस पर असुर और देवताओं के आक्रमण होते है, और अच्छाई और बुराई के विचार उन बाणों के समान हैं जो हर ओर से आते हैं, और किसी समय भी अवकाश नहीं है कि मन उन विचारोंसे रिक्त हो। अतः आश्चर्य है कि वह मनुष्य जिस के मन पर विविध सेनाएँ मनोराज की चढ़ आई हों, और उसे बार-बार लक्ष्य कर रही हों, निश्चिंत बैठा रहे, बरन सांसारिक उन्नति और घर-बार की चिंता में लगा रहे।

(४४) मनुष्य को चाहिए कि वह आवश्यक संसारी कार्यों से छुट्टी पाकर सबेरे और शाम एकांत में बैठकर मन

ब्रह्मलोक के राज्य में प्रविष्ट हो और अपने पिता प्रजापति का उत्तराधिकार लाभ करे।

(४८) यद्यपि इस संग्राम में बड़े-बड़े शास्त्री और कर्म-सम्बन्धी उपाय हैं जिन के द्वारा असुर परास्त और देवता विजयी होते हैं (इस शास्त्र को सदाचरण की मर्यादा-शास्त्र बोलते हैं और संस्कृत में उस की अनेक बड़ी-बड़ी पुस्तकें हैं जो योग आदिक शास्त्र कहलाती हैं), तो भी मनोवृत्तियों का विजय करना ऐसा कठिन है जैसा कि एक अशक्त मनुष्य सारे संसार के विजय करने में असमर्थ होता है। इस लिये जब तक विशेष भगवत्कृपा और ईश्वरीय प्रसाद उस के सहायक न हों, विजयी नहीं हो सकता। किन्तु वेदों में उस का मुख्य विधान ज्योतिष्टोम-यज्ञ और प्राणों की उपासना है जिस के कारण असुर दुर्बल हो जाते हैं और देवता विजयी होते हैं। इस लिये मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रीय नियमों से ज्योतिष्टादिक होम और प्राणोपासना करे। यही सुगम उपाय है। योग आदि शास्त्रों में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं और फ़िर भी उस से उन की पराजय अवश्यभावी नहीं।

(४९) ज्योतिष्ठ आदिक होम का विधान जानना तो भाषाविदों के लिये आवश्यक नहीं, क्योंकि ब्राह्मण इसको करा सकते हैं, लेकिन प्राणोपासना जानना आवश्यक है, क्योंकि वह उसके विश्वास की बात है। वह निश्चय यही है कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ, मिट्टी नहीं हूँ; मैं प्राण हूँ, देह नहीं हूँ"। जब यह विश्वास पक्का हो जाता है, तो असुर अपने आप भाग जाते हैं और हार जाते हैं, क्योंकि बुराई के विचार वास्तव में मिट्टी, देह और इंद्रियों के हैं, प्राणात्मा के नहीं। प्राणात्मा तो निर्विकार है, जो प्राण कहा जाता है। जब यह प्राणात्मा से जना जाता है और प्राणात्मा हो जाता है, तो फिर उसी तरह

ब्रह्मलोक के राज्य में प्रविष्ट हो और अपने पिता प्रजापति का उत्तराधिकार लाभ करे।

(४८) यद्यपि इस संग्राम में बड़े-बड़े शास्त्री और कर्म-सम्बन्धी उपाय हैं जिन के द्वारा असुर परास्त और देवता विजयी होते हैं (इस शास्त्र को सदाचरण की मर्यादा-शास्त्र बोलते हैं और संस्कृत में उस की अनेक बड़ी-बड़ी पुस्तकें हैं जो योग आदिक शास्त्र कहलाती हैं), तो भी मनोवृत्तियों का विजय करना ऐसा कठिन है जैसा कि एक अशक्त मनुष्य सारे संसार के विजय करने में असमर्थ होता है। इस लिये जब तक विशेष भगवत्कृपा और ईश्वरीय प्रसाद उस के सहायक न हों, विजयी नहीं हो सकता। किन्तु वेदों में उस का मुख्य विधान ज्योतिष्टोम-यज्ञ और प्राणों की उपासना है जिस के कारण असुर दुर्बल हो जाते हैं और देवता विजयी होते हैं। इस लिये मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रीय नियमों से ज्योतिष्टादिक होम और प्राणोपासना करे। यही सुगम उपाय है। योग आदि शास्त्रों में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं और फ़िर भी उस से उन की पराजय अवश्यभावी नहीं।

(४९) ज्योतिष्ठ आदिक होम का विधान जानना तो भाषाविदों के लिये आवश्यक नहीं, क्योंकि ब्राह्मण इसको करा सकते हैं, लेकिन प्राणोपासना जानना आवश्यक है, क्योंकि वह उसके विश्वास की बात है। वह निश्चय यही है कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ, मिट्टी नहीं हूँ; मैं प्राण हूँ, देह नहीं हूँ"। जब यह विश्वास पक्का हो जाता है, तो असुर अपने आप भाग जाते हैं और हार जाते हैं, क्योंकि बुराई के विचार वास्तव में मिट्टी, देह और इंद्रियों के हैं, प्राणात्मा के नहीं। प्राणात्मा तो निर्विकार है जो प्राण कहा जाता है। जब यह प्राणात्मा से जना जाता है और प्राणात्मा हो जाता है, तो फिर उसी तरह

की नाईं मरता है, और राजकुमारों में से एक की तरह गिर जाता है, ब्रह्मलोक के साम्राज्य में प्रविष्ट नहीं होता।

(५२) यह जो कुछ हमने वर्णन किया है, हमारी कपोल-कल्पना नहीं है वरन् उद्गीत ब्राह्मण में सिद्ध हुआ है कि स्वयं प्रजापति के अनुभव से निश्चय हो चुका है कि जब तक मनुष्य प्राणोपासना नहीं करता और उसी को उद्गाता नहीं बनाता, कदापि असुरों पर विजय-लाभ नहीं करता। और यह अनुभव जो प्रजापति में हुआ है; कहानी की भांति उद्गीत-ब्राह्मण में अंकित है। हम भी भाषा जानने वालों के विश्वास के लिये यहाँ संक्षेप से अनुवाद करते हैं।

(५३) * यजुर्वेद आरण्यक-भाग उद्गीत ब्राह्मण में यों लिखा है कि प्रजापति की सन्तान देवता और असुर दो सेनाएँ हैं जिन में देवता तो छोटे हैं और असुर बड़े। और पहले कल्प में जब तक प्रजापति ने उस कल्प में प्रजापति का पद नहीं पाया था, वरन् नर-रूप में देहधारी था, उन का युद्ध हुआ।

(५४) असुरों ने उसे संसार के भोगों का प्रलोभन दिखाया और संसार की ओर लगाना चाहा, देवताओं ने उसे परलोक के भोग दिखाए और परलोक की ओर लगाना चाहा।

(५५) इसी प्रकार जब उनमें खूब युद्ध हुआ और दोनों ओर से ज्ञान और कर्म के उपाय सोचे गए, तो अंत में देवताओं ने यों सम्मति की कि आओ हम ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गीत-कर्म से असुरों को पराजित करें।

(५६) तब उन्होंने वाणी को कहा कि हमारे लिये उद्गायन

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय १ ब्राह्मण ३। छांदोग्योपनिषद् प्रपाठक १ खंड २।

की नाईं मरता है, और राजकुमारों में से एक की तरह गिर जाता है, ब्रह्मलोक के साम्राज्य में प्रविष्ट नहीं होता।

(५२) यह जो कुछ हमने वर्णन किया है, हमारी कपोल-कल्पना नहीं है वरन् उद्गीत ब्राह्मण में सिद्ध हुआ है कि स्वयं प्रजापति के अनुभव से निश्चय हो चुका है कि जब तक मनुष्य प्राणोपासना नहीं करता और उसी को उद्गाता नहीं बनाता, कदापि असुरों पर विजय-लाभ नहीं करता। और यह अनुभव जो प्रजापति में हुआ है; कहानी की भांति उद्गीत-ब्राह्मण में अंकित है। हम भी भाषा जानने वालों के विश्वास के लिये यहाँ संक्षेप से अनुवाद करते हैं।

(५३) * यजुर्वेद आरण्यक-भाग उद्गीत ब्राह्मण में यों लिखा है कि प्रजापति की सन्तान देवता और असुर दो सेनाएँ हैं जिन में देवता तो छोटे हैं और असुर बड़े। और पहले कल्प में जब तक प्रजापति ने उस कल्प में प्रजापति का पद नहीं पाया था, वरन् नर-रूप में देहधारी था, उन का युद्ध हुआ।

(५४) असुरों ने उसे संसार के भोगों का प्रलोभन दिखाया और संसार की ओर लगाना चाहा; देवताओं ने उसे परलोक के भोग दिखाए और परलोक की ओर लगाना चाहा।

(५५) इसी प्रकार जब उनमें खूब युद्ध हुआ और दोनों ओर से ज्ञान और कर्म के उपाय सोचे गए, तो अंत में देवताओं ने यों सम्मति की कि आओ हम ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गीत-कर्म से असुरों को पराजित करें।

(५६) तब उन्होंने वाणी को कहा कि हमारे लिये उद्गायन

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय १ ब्राह्मण ३। छांदोग्योपनिषद् प्रपाठक १ खंड २।

(६३) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और कान को लगाकर अपवित्र कर दिया, इसी कारण कान अच्छा और बुरा सुनता है।

(६४) फिर उन्हों ने मन को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो मन के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो अच्छा सोचना है, वह अपने लिये गाया।

(६५) तब असुरों ने देखा कि अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और मन को लग गए और अपवित्र कर दिया। इस लिये मन भला और बुरा सोचता है। इसी तरह यज्ञ में जिन-जिन व्यक्तिगत इंद्रियों को उन्हों ने उद्गाता या नेता बनाया, सब को असुरों ने पापी कर दिया और आज तक भी उन में भले और बुरे का प्रवेश स्पष्ट है।

(६६) अन्त में उन्हों ने प्राण को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने उनके लिये गाया। असुरों ने देखा कि अब अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें वे जयकर लेंगे, इस लिये उठे और उस से लगे। किन्तु लगते ही इस प्रकार टूट गए जिस तरह तीक्ष्ण वसूला एक कठोर पत्थर पर चलाया हुआ टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। इस प्रकार देवता विजयी हो गए और असुर पराजित हो गए।

(६७) इसी कारण जाना जाता है कि शुद्ध प्राण किसी तरह बुराई के योग्य नहीं। जब कि वह बुराई के योग्य नहीं, असुर उन्हें कुछ नहीं कर सकते, वरन् उसे स्पर्श करते ही

(६३) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और कान को लगाकर अपवित्र कर दिया, इसी कारण कान अच्छा और बुरा सुनता है।

(६४) फिर उन्हों ने मन को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो मन के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो अच्छा सोचना है, वह अपने लिये गाया।

(६५) तब असुरों ने देखा कि अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और मन को लग गए और अपवित्र कर दिया। इस लिये मन भला और बुरा सोचता है। इसी तरह यज्ञ में जिन-जिन व्यक्तिगत इंद्रियों को उन्हों ने उद्गाता या नेता बनाया, सब को असुरों ने पापी कर दिया और आज तक भी उन में भले और बुरे का प्रवेश स्पष्ट है।

(६६) अन्त में उन्हों ने प्राण को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने उनके लिये गाया। असुरों ने देखा कि अब अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें वे जयकर लेंगे, इस लिये उठे और उस से लगे। किन्तु लगते ही इस प्रकार टूट गए जिस तरह तीक्ष्ण बसूला एक कठोर पत्थर पर चलाया हुआ टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। इस प्रकार देवता विजयी हो गए और असुर पराजित हो गए।

(६७) इसी कारण जाना जाता है कि शुद्ध प्राण किसी तरह बुराई के योग्य नहीं। जब कि वह बुराई के योग्य नहीं, असुर उन्हें कुछ नहीं कर सकते, वरन् उसे स्पर्श करते ही

जो उस का अधिदेव है। अतः यह अग्नि मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष में चमकती है और यही प्रजापति की वाणी है।

(७२) फिर नाक को मुक्ति हुई। जब उस ने मृत्यु से छुटकारा पाया तो वायु में मेल पा गई, अर्थात् उस से तद्रूप हो गई, जो उस का अधिदेव है। अतः यह वायु मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष में चलती है और वही प्रजापति का नाक है।

(७३) फिर आँख को मुक्ति मिली। जब उस ने भी मृत्यु से मुक्ति पाई, सूर्य में मेल पा गई, अर्थात् अभेद हो गई जो उस का अधिदेव है। अतः यह सूर्य मृत्यु से छूटा हुआ प्रत्यक्ष चढ़ता है और यही प्रजापति की आँख है।

(७४) फिर कान को छुटकारा मिला। जब उसने भी मृत्यु से मुक्ति पाई. तो दिशाओं में मेल पाया, जो उसका अधिदेव है। अतः दिशाएँ मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं और यही प्रजापति के कान हैं।

(७५) फिर मन को मुक्ति हुई। जब उसने भी मृत्यु से छुटकारा पाया तो चंद्रमा में मेल पा लिया, जो उसका अधिदेव है। अतः यह चंद्र मृत्यु से छूटा हुआ चढ़ता है, और यही प्रजापति का मन है। इसी तरह प्रत्येक को यह महाप्राण छुटकारा देता है जो उसी में अहंभाव का मनन वा व्यवहार करता है।

(७६) फिर प्राण ने अपने लिये आहार को गाया। इसी कारण जो कुछ है, सब प्राण का भोजन है, और वही उसे खाता है। और इस कारण कि सब को यही खाता है, यही यमराज है।

(७७) तब दूसरी इन्द्रियों ने उसे कहा कि जो कुछ है, सब तुमने अपने आहार के लिये गाया। अब हम क्या करें

जो उस का अधिदेव है। अतः यह अग्नि मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष में चमकती है और यही प्रजापति की वाणी है।

(७२) फिर नाक को मुक्ति हुई। जब उस ने मृत्यु से छुटकारा पाया तो वायु में मेल पा गई, अर्थात् उस से तद्रूप हो गई, जो उस का अधिदेव है। अतः यह वायु मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष में चलती है और वही प्रजापति की नाक है।

(७३) फिर आँख को मुक्ति मिली। जब उस ने भी मृत्यु से मुक्ति पाई, सूर्य में मेल पा गई, अर्थात् अभेद हो गई जो उस का अधिदेव है। अतः यह सूर्य मृत्यु से छूटा हुआ प्रत्यक्ष चढ़ता है और यही प्रजापति की आँख है।

(७४) फिर कान को छुटकारा मिला। जब उसने भी मृत्यु से मुक्ति पाई तो दिशाओं में मेल पाया, जो उसका अधिदेव है। अतः दिशाएँ मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं और यही प्रजापति के कान हैं।

(७५) फिर मन को मुक्ति हुई। जब उसने भी मृत्यु से छुटकारा पाया तो चंद्रमा में मेल पा लिया, जो उसका अधिदेव है। अतः यह चंद्र मृत्यु से छूटा हुआ चढ़ता है, और यही प्रजापति का मन है। इसी तरह प्रत्येक को यह महाप्राण छुटकारा देता है जो उसी में अहंभाव का मनन वा व्यवहार करता है।

(७६) फिर प्राण ने अपने लिये आहार को गाया। इसी कारण जो कुछ है, सब प्राण का भोजन है, और वही उसे खाता है। और इस कारण कि सब को यही खाता है, यही यमराज है।

(७७) तब दूसरी इन्द्रियों ने उसे कहा कि जो कुछ है, सब तुमने अपने अहार के लिये गाया। अब हम क्या करें

तृप्त होता है, और मन के तृप्त होते ही बादल तृप्त होते हैं, और बादल के तृप्त होते ही बिजली तृप्त होती है। बिजली के तृप्त होते ही जो बिजली में बसे हुए हैं, तृप्त हो जाते हैं।

(८२) जब वह पाँचवाँ ग्रास खाता है, तो पहले 'उदान' तृप्त होता है। 'उदान' के तृप्त होते ही वायु तृप्त होती है। वायु के तृप्त होते ही अन्तरिक्ष तृप्त होता है, और अन्तरिक्ष के तृप्त होते ही जो कुछ अन्तरिक्ष में रहते हैं, सब तृप्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति पहले इस प्रकार निश्चय नहीं कर-लेता कि "मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ" वह जो कुछ अग्नि में होम करता है, योंही जलाता है, बरन् उसकी दशा ऐसी है जैसे कोई भस्म में आहुति करता है। परन्तु जो ऐसा विश्वास रखता है और वेद मंत्रों से अग्नि में होम करता है, तो समस्त लोक में और भूतों में और सब की आत्मा में होम होजाता है, बरन् आप भी खाता है, तो वास्तव में होम का फल पाता है। और जिस तरह तिनका आग में फूँका हुआ जलता है, उसी तरह उसके पाप जल जाते हैं और उसका उच्छिष्ट यदि चांडाल भी खा लेवे, तो पापों से बच जाता है। अधिक क्या लिखें, जिस तरह दूध के लिये बछड़े गायों को पुकारते हैं, उसी तरह देवता और पितर देखते हैं कि ऐसा निश्चयवान् कब खाता है।

(८३) आश्चर्य न करो कि यह क्योंकर हो सकता है कि प्रजापति के ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय इस विश्वास से देवता होगए, बरन् उसका कारण यह है कि यह बाह्य देवता जो प्रजापति के ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय हैं, यहां हमारे भोगों के कारण से मृत्यु-बंधन में फँसकर हमारे साथ इस छोटे-से मंदिर में शारीरिक ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय के रूप में प्रकट हुए हैं।

तृप्त होता है, और मन के तृप्त होते ही बादल तृप्त होते हैं, और बादल के तृप्त होते ही बिजली तृप्त होती है। बिजली के तृप्त होते ही जो बिजली में बसे हुए हैं, तृप्त हो जाते हैं।

(८२) जब वह पाँचवाँ ग्रास खाता है, तो पहले 'उदान' तृप्त होता है। 'उदान' के तृप्त होते ही वायु तृप्त होती है। वायु के तृप्त होते ही अन्तरिक्ष तृप्त होता है, और अन्तरिक्ष के तृप्त होते ही जो कुछ अन्तरिक्ष में रहते हैं, सब तृप्त होजाते हैं। जो व्यक्ति पहले इस प्रकार निश्चय नहीं कर-लेता कि "मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ" वह जो कुछ अग्नि में होम करता है, योंही जलाता है, वरन् उसकी दशा ऐसी है जैसे कोई भस्म में आहुति करता है। परन्तु जो ऐसा विश्वास रखता है और वेद मंत्रों से अग्नि में होम करता है, तो समस्त लोक में और भूतों में और सब की आत्मा में होम होजाता है, वरन् आप भी खाता है, तो वास्तव में होम का फल पाता है। और जिस तरह तिनका आग में फूँका हुआ जलता है, उसी तरह उसके पाप जल जाते हैं और उसका उच्छिष्ट यदि चांडाल भी खा लेवे, तो पापों से बच जाता है। अधिक क्या लिखें, जिस तरह दूध के लिये बछड़े गायों को डकारते हैं, उसी तरह देवता और पितर देखते हैं कि ऐसा निश्चयवान् कब खाता है।

(८३) आश्चर्य न करो कि यह क्योंकर हो सकता है कि प्रजापति के ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय इस विश्वास से देवता होगए, वरन् उसका कारण यह है कि यह बाह्य देवता जो प्रजापति के ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय हैं, यहां हमारे भोगों के कारण से मृत्यु-बंधन में फँसकर हमारे साथ इस छोटे-से मंदिर में शारीरिक ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय के रूप में प्रकट हुए हैं।

होकर हम में मन के रूप में प्रकट हुआ है। जिस तरह प्रजापति चन्द्रलोक के कारण सोचता समझता है, उसी तरह हम भी मन के कारण सोचते-समझते हैं। इस कारण हमारा मन चन्द्रमा से निकला चन्द्र-रूप है और यही चन्द्र उसका आरम्भ-स्थान है, और यही मनका अधिदेवता कहलाता है।

(८९) तात्पर्य यह कि हमारे अध्यात्म-प्राण इसी अधिदैविक-प्राण के अंश हैं जो प्रजापति है, और हमारे कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय भी उसी के कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय के अंश हैं जो हमारे भोगों (कर्मफल) के कारण मुक्त से बद्ध हुए हैं। इस हेतु कि कर्म-फल के कारण हम महान् (समष्टि) से अंश (व्यष्टि) में परिणत हुए हैं और हमारे इन्द्रिय भी कर्म-भोग के कारण मुक्त से बंध हुए हैं, इसी कारण हम शरीर में देहाध्यास वा अहंता का जन्मजात् भाव रखते हैं।

(९०) पर जब हम शास्त्रीय शिक्षा से आत्मा में अहं-भाव का निश्चय पाते हैं और विश्वास करते हैं कि "हम आत्मा हैं, शरीर नहीं, वरन् प्रजापति के पुत्र प्रजापति रूप हैं", और इस विश्वास से शुभ कर्मों को करते हैं, तो हमारे पाप उसी तरह दूर हो जाते हैं, जैसा कि प्रजापति के पाप पहले कल्प में इस विश्वास से दूर हुए हैं। और यह स्पष्ट है कि जब पापों का बंधन छूटता है, तो इंद्रियाँ अपने २ निकास-स्थान में एक हो जाती हैं, और हम कभी प्रजापति में एक हो जाते हैं। और बद्ध स्वतंत्र हो जाता है। इसी को मुक्ति बोलते हैं।

(९१) इस प्रकार की बातों से ज्ञात होता है कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ" यही विश्वास कर्म की जड़ है। जब तक यह विश्वास नहीं आता, कर्म भी प्रभावशाली नहीं होता।

होकर हम में मन के रूप में प्रकट हुआ है। जिस तरह प्रजापति चन्द्रलोक के कारण सोचता समझता है, उसी तरह हम भी मन के कारण सोचते-समझते हैं। इस कारण हमारा मन चन्द्रमा से निकला चन्द्र-रूप है और यही चन्द्र उसका आरम्भ-स्थान है, और यही मनका अधिदेवता कहलाता है।

(८९) तात्पर्य यह कि हमारे अध्यात्म-प्राण इसी अधिदैविक-प्राण के अंश हैं जो प्रजापति है, और हमारे कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय भी उसी के कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय के अंश हैं जो हमारे भोगों (कर्मफल) के कारण मुक्त से बद्ध हुए हैं। इस हेतु कि कर्म-फल के कारण हम महान् (समष्टि) से अंश (व्यष्टि) में परिणत हुए हैं और हमारे इन्द्रिय भी कर्म-भोग के कारण मुक्त से बंध हुए हैं, इसी कारण हम शरीर में देहाध्यास वा अहंता का जन्मजात् भाव रखते हैं।

(९०) पर जब हम शास्त्रीय शिक्षा से आत्मा में अहं-भाव का निश्चय पाते हैं और विश्वास करते हैं कि "हम आत्मा हैं, शरीर नहीं, वरन् प्रजापति के पुत्र प्रजापति रूप हैं", और इस विश्वास से शुभ कर्मों को करते हैं, तो हमारे पाप उसी तरह दूर हो जाते हैं, जैसा कि प्रजापति के पाप पहले कल्प में इस विश्वास से दूर हुए हैं। और यह स्पष्ट है कि जब पापों का बंधन छूटता है, तो इंद्रियाँ अपने २ निकास-स्थान में एक हो जाती हैं, और हम कभी प्रजापति में एक हो जाते हैं। और बद्ध स्वतंत्र हो जाता है। इसी को मुक्ति बोलते हैं।

(९१) इस प्रकार की बातों से ज्ञात होता है कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ" यही विश्वास कर्म की जड़ है। जब तक यह विश्वास नहीं आता, कर्म भी प्रभावशाली नहीं होता।

में धरती और आकाश, राजा और प्रजा सब कुछ रचता है, परंतु आप अपने निश्चय के अनुसार भंगी के रूप में उठता है और टट्टियों को साफ़ करता है। और राजा जब अपने स्वप्न में जाता है, तो अपने राज-विचार के कारण राजा के रूप में उठता है, भंगी नहीं हो जाता।

(६६) इसी तरह जिसको पक्का विश्वास है कि "मैं प्राण आत्मा हूँ, और प्रजापति हूँ" वह मृत्यु में प्राण-आत्मा और प्रजापति के रूप में उठेगा। और जिसको विश्वास है कि "मैं देह, अधम पापी पुरुष हूँ" वह शारीरिक बंधन में उसी तरह अधम अधीन उठेगा। इस लिये मुक्ति के इच्छुक (जिज्ञासु) को पहले पहल यही विश्वास पक्का करना चाहिए कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ और प्रजापति का पुत्र प्रजापति रूप हूँ।" जब तक यह विश्वास नहीं पाता, नई उत्पत्ति में प्रविष्ट नहीं होता, बरन् शूद्र या देहाध्यासी वा देहाभिमानी होता है, और उसे वैदिक कर्मों का भी वास्तव में अधिकार नहीं होता, क्योंकि शरीर तो नाशमान है, यहाँ जलाया जाता है, कर्मों का फल किसको होगा? परंतु जो प्राणात्मा व जीव-आत्मा है, वह तो मरता नहीं, कर्मों का फल उसे अवश्य प्राप्त होगा। इस लिये जीव-आत्मा का निश्चय वास्तव में कर्मों के अधिकार का प्रथम कारण है।

(६७) भाषा जाननेवालों को सब से अधिक आवश्यकता इसी विश्वास की है। इसीलिये हमने उसके सिद्धांत विस्तार-पूर्वक लिख दिए हैं। परंतु कर्मों का रूप वर्णन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण उसके स्वरूप को जानते हैं और उनके द्वारा वह यज्ञादि कर्म कर सकता है।

(६८) वेदों का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण दूसरों के लिये दलाल का संबंध रखता है। जिस तरह देहाती

में धरती और आकाश, राजा और प्रजा सब कुछ रचता है, परंतु आप अपने निश्चय के अनुसार भंगी के रूप में उठता है और टट्टियों को साफ़ करता है। और राजा जब अपने स्वप्न में जाता है, तो अपने राज-विचार के कारण राजा के रूप में उठता है, भंगी नहीं हो जाता।

(६६) इसी तरह जिसको पक्का विश्वास है कि "मैं प्राण आत्मा हूँ, और प्रजापति हूँ" वह मृत्यु में प्राण-आत्मा और प्रजापति के रूप में उठेगा। और जिसको विश्वास है कि "मैं देह, अधम पापी पुरुष हूँ" वह शारीरिक बंधन में उसी तरह अधम अधीन उठेगा। इस लिये मुक्ति के इच्छुक (जिज्ञासु) को पहले पहल यही विश्वास पक्का करना चाहिए कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ और प्रजापति का पुत्र प्रजापति रूप हूँ।" जब तक यह विश्वास नहीं पाता, नई उत्पत्ति में प्रविष्ट नहीं होता, वरन् शूद्र या देहाध्यासी वा देहाभिमानी होता है, और उसे वैदिक कर्मों का भी वास्तव में अधिकार नहीं होता, क्योंकि शरीर तो नाशमान है, यहाँ जलाया जाता है, कर्मों का फल किसको होगा? परंतु जो प्राणात्मा व जीव-आत्मा है, वह तो मरता नहीं, कर्मों का फल उसे अवश्य प्राप्त होगा। इस लिये जीव-आत्मा का निश्चय वास्तव में कर्मों के अधिकार का प्रथम कारण है।

(६७) भाषा जाननेवालों को सब से अधिक आवश्यकता इसी विश्वास की है। इसीलिये हमने उसके सिद्धांत विस्तार-पूर्वक लिख दिए हैं। परंतु कर्मों का रूप वर्णन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण उसके स्वरूप को जानते हैं और उनके द्वारा वह यज्ञादि कर्म कर सकता है।

(६८) वेदों का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण दूसरों के लिये दलाल का संबंध रखता है। जिस तरह देहाती

यजमान के काल पर निर्भर है, किस दृष्टि से यजमान दिन-रात के बन्धन से छूटता है? मुनिजी ने उत्तर दिया कि जब अध्वर्यु यजमान की आँख को सूर्य और अपने से एक देखता है, तो दिन-रात की उपाधि वा बन्धनसे छूट जाता है। उस की दृष्टि यों होती है कि यजमान की आँख वास्तव में सूर्य है और यही यज्ञ का अध्वर्यु है, और यही दृष्टि उस की मुक्ति है।

(१०३) फिर उस ने प्रश्न किया कि तिथि-रूप बन्धन से यजमान की मुक्ति यज्ञ में किस तरह होती है? उत्तर दिया कि जब उद्गाता यजमान के प्राण को महा प्राण और अपने से एक देखता है,तो तिथि-रूप कालकी उपाधि से छूट जाता है। और उस की दृष्टि यों होती है कि जो यह यजमान की प्राण-आत्मा है, वही प्रजापति की प्राण-आत्मा है, और यही उद्गाता है। यही विश्वास उसकी मुक्ति है।

(१०४) फिर उस ने प्रश्न किया कि यजमान इन कर्मों और विश्वास के कारण किस के आश्रय से मृत्यु के पश्चात् सुरलोक को जाता है? मुनि जी ने उत्तर दिया कि जो ब्रह्मा इस के मन को चंद्रमा से एक देखता है; यही दृष्टि इसके कर्मों का आश्रय होती है। और वह दृष्टि इस तरह होती है कि यजमान का मन वास्तव में ब्रह्मा है और वही चंद्रमा है, और मुक्ति है।

(१०५) इस प्रश्नोत्तर का तात्पर्य यह है कि यजमान के जो संक्षिप्त ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय हैं और अपने-अपने अधिदेवताओं से, जो समष्टि हैं, टुकड़े-टुकड़े होकर निकले हैं और काल एवं मृत्यु के बन्धन से आबद्ध हैं, यज्ञ में ब्राह्मणों की इस दृष्टि से कि उनको वे अपने-अपने आवृत्त निकास स्थान में एक कर देखते हैं और आत्मिक रसायन-

यजमान के काल पर निर्भर है, किस दृष्टि से यजमान दिन-रात के बन्धन से छूटता है? मुनिजी ने उत्तर दिया कि जब अध्वर्यु यजमान की आँख को सूर्य और अपने से एक देखता है, तो दिन-रात की उपाधि वा बन्धनसे छूट जाता है। उस की दृष्टि यों होती है कि यजमान की आँख वास्तव में सूर्य है और यही यज्ञ का अध्वर्यु है, और यही दृष्टि उस की मुक्ति है।

(१०३) फिर उस ने प्रश्न किया कि तिथि-रूप बन्धन से यजमान की मुक्ति यज्ञ में किस तरह होती है? उत्तर दिया कि जब उद्गाता यजमान के प्राण को महा प्राण और अपने से एक देखता है,तो तिथि-रूप कालकी उपाधि से छूट जाता है। और उस की दृष्टि यों होती है कि जो यह यजमान की प्राण-आत्मा है, वही प्रजापति की प्राण-आत्मा है, और यही उद्गाता है। यही विश्वास उसकी मुक्ति है।

(१०४) फिर उस ने प्रश्न किया कि यजमान इन कर्मों और विश्वास के कारण किस के आश्रय से मृत्यु के पश्चात् सुरलोक को जाता है? मुनि जी ने उत्तर दिया कि जो ब्रह्मा इस के मन को चंद्रमा से एक देखता है; यही दृष्टि इसके कर्मों का आश्रय होती है। और वह दृष्टि इस तरह होती है कि यजमान का मन वास्तव में ब्रह्मा है और वही चंद्रमा है, और मुक्ति है।

(१०५) इस प्रश्नोत्तर का तात्पर्य यह है कि यजमान के जो संक्षिप्त ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय हैं और अपने-अपने अधिदेवताओं से, जो समष्टि हैं, टुकड़े-टुकड़े होकर निकले हैं और काल एवं मृत्यु के बन्धन से आबद्ध हैं, यज्ञ में ब्राह्मणों की इस दृष्टि से कि उनको वे अपने-अपने आवृत्त निकास स्थान में एक कर देखते हैं और आत्मिक रसायन-

कर्म हैं। सुपुत्र वही होता है जो पिता की मर्यादा रखता है। और उसकी मर्यादा वही है जो होम आदिक कर्म हैं और उस के सदाचरण वही हैं जो उपासना आदिक निश्चय हैं। वह पुत्र जो उन मर्यादाओं का पालन नहीं करता, उन सदाचरणों का आचरण नहीं करता, ब्रह्मलोक के उत्तराधिकार से गिर जाता है और राजकुमारों में से एक की नाईं स्वर्गीय सिंहासन से वंचित रहता है।

(१०८) जब तक तुम बालक हो, यद्यपि उत्तराधिकारी हो, तो भी जिस तरह बालक राजकुमार सेवकों और गुरुओं के बन्धन और शिक्षा में सेवकों की भाँति रहता है, रहते हो। फिर जब समय आता है और उत्तराधिकार पाता है, तो अन्त में स्वामी नियत होता है। तुमभी संसार में, जब तक शारीरिक बंधन है, ब्राह्मणों और शास्त्रों के बंधन में हो। खूब शिक्षा पाओ और प्रजापति की मर्यादा और सदाचरण से सुसभ्य हो जाओ, ब्रह्मलोक का साम्राज्य निकट है। उन देहाभिमानियों की शिक्षा और विचारों से बचे रहो, क्योंकि उनके विचारों और विश्वास दासों के हैं, राजकुमारों के नहीं; भूमि वालों के हैं, द्यौलोक वासियों के नहीं।

(१०९) अब हम यह कर्मकांड शास्त्र में भाषाविदों के लिये इतने ही सिद्धांत यथेष्ट ख्याल करते हैं, इससे अधिक सिद्धांत जिसे चाहिये हों, वह वेद भगवान् से जो मूल है, प्राप्त करे। परंतु हम चिता देते हैं कि कर्मकांड की यद्यपि बड़ी उन्नति है, किंतु अंत में वह भी नाशमान है नित्य नहीं। क्योंकि जो कर्मों से बनाया जाता है अंत में नाशमान होता है और पुण्य लोक भी पुण्य कर्मों से बनाया जाता है, इस लिये स्वाभावत! अमृत नहीं।

(११०) जबकि यह उन्नति नित्य और वास्तव में

कर्म हैं। सुपुत्र वही होता है जो पिता की मर्यादा स्थापित करता है। और उसकी मर्यादा वही है जो होम आदिक कर्म हैं और उस के सदाचरण वही हैं जो उपासना आदिक निश्चय हैं। वह पुत्र जो उन मर्यादाओं का पालन नहीं करता, उन सदाचरणों का आचरण नहीं करता, ब्रह्मलोक के उत्तराधिकार से गिर जाता है और राजकुमारों में से एक की नाईं स्वर्गीय सिंहासन से वंचित रहता है।

(१०८) जब तक तुम बालक हो, यद्यपि उत्तराधिकारी हो, तो भी जिस तरह बालक राजकुमार सेवकों और गुरुओं के बन्धन और शिक्षा में सेवकों की भाँति रहता है, रहते हो। फिर जब समय आता है और उत्तराधिकार पाता है, तो अन्त में स्वामी नियत होता है। तुम भी संसार में, जब तक शारीरिक बंधन है, ब्राह्मणों और शास्त्रों के बंधन में हो। खूब शिक्षा पाओ और प्रजापति की मर्यादा और सदाचरण से सुसभ्य हो जाओ, ब्रह्मलोक का साम्राज्य निकट है। उन देहाभिमानियों की शिक्षा और विचारों से बचे रहो, क्योंकि उनके विचारों और विश्वास दासों के हैं, राजकुमारों के नहीं; भूमि वासों के हैं, द्यौलोक वासियों के नहीं।

(१०९) अब हम यह कर्मकांड शास्त्र में भाषाविदों के लिये इतने ही सिद्धांत यथेष्ट ख्याल करते हैं, इससे अधिक सिद्धांत जिसे चाहिये हों, वह वेद भगवान् से जो मूल है, प्राप्त करे। परंतु हम चिता देते हैं कि कर्मकांड की यद्यपि बड़ी उन्नति है, किंतु अंत में वह भी नाशमान है नित्य नहीं। क्योंकि जो कर्मों से बनाया जाता है अंत में नाशमान होता है और पुण्य लोक भी पुण्य कर्मों से बनाया जाता है, इस लिये स्वाभावत! अमृत नहीं।

(११०) जबकि यह उन्नति नित्य और वास्तव में

ज्ञान-कांड

पहला अध्याय

(१) हम पिछली शिक्षा में इन्द्रियों का तत्त्व भली भाँति लिख चुके हैं और उनके विशेष-विशेष काम भी लिख आए हैं कि आँख देखती है, कान सुनता है, जिह्वा चखती है, मन सोचता-समझता है, हाथ पकड़ते हैं, पाँव चलते हैं, वाक् बोलता है, प्राण खींचता है, अपान निकालता है, व्यान रोकता है, समान पकाता है, उदान कुछ का कुछ बनाता है।

(२) ये इन्द्रियां मिलकर जब शरीर में काम करती हैं, तो उन्हें इस समुदाय के ख्याल से मनुष्य कहा जाता है, और उनके कृत्य वास्तव में मनुष्य के कृत्य कहलाते हैं। कुछ काम उसके बाहरी हैं और कुछ भीतरी। वह इन्द्रियां जो बाहरी कृत्य करती हैं, बाहरी ज्ञान-इन्द्रियां और कर्म-इन्द्रियां कहलाती हैं, और जो भीतरी कृत्य करती है, वह अन्तःकरण होती हैं।

(३) चूँकि (इस हेतु कि) यही इन्द्रियां वास्तवमें सब काम-धंधा करती हैं इस लिये यही कर्त्ता-भोक्ता हैं, क्योंकि न्याय यही है कि जो करता है, वही पाता है। इसी कारण कर्मकांड में उन्हीं की देखभाल होती है। हमने भी प्रथम शिक्षा (काण्ड) में उन्हीं का स्पष्ट वर्णन किया है।

(४) अब जान लो कि जो काम-धंधा होता है, वह किसी प्रकाश के आश्रय होता है, अँधेरे में नहीं। वरन् जब अँधेरा हो जाता है, तो काम धंधे तत्काल बंद हो जाते हैं। इस

ज्ञान-कांड

पहला अध्याय

(१) हम पिछली शिक्षा में इन्द्रियों का तत्व भली भाँति लिख चुके हैं और उनके विशेष-विशेष काम भी लिख आए हैं कि आँख देखती है, कान सुनता है, जिह्वा चखती है, मन सोचता-समझता है, हाथ पकड़ते हैं, पाँव चलते हैं, वाक् बोलता है, प्राण खींचता है, अपान निकालता है, व्यान रोकता है, समान पकाता है, उदान कुछ का कुछ बनाता है।

(२) ये इन्द्रियां मिलकर जब शरीर में काम करती हैं, तो उन्हें इस समुदाय के ख्याल से मनुष्य कहा जाता है, और उनके कृत्य वास्तव में मनुष्य के कृत्य कहलाते हैं। कुछ काम उसके बाहरी हैं और कुछ भीतरी। वह इन्द्रियां जो बाहरी कृत्य करती हैं, बाहरी ज्ञान-इन्द्रियां और कर्म-इन्द्रियां कहलाती हैं, और जो भीतरी कृत्य करती हैं, वह अन्तःकरण होती हैं।

(३) चूँकि (इस हेतु कि) यही इन्द्रियां वास्तवमें सब काम-धंधा करती हैं इस लिये यही कर्त्ता-भोक्ता हैं, क्योंकि न्याय यही है कि जो करता है, वही पाता है। इसी कारण कर्मकांड में उन्हीं की देखभाल होती है। हमने भी प्रथम शिक्षा (काण्ड) में उन्हीं का स्पष्ट वर्णन किया है।

(४) अब जान लो कि जो काम-धंधा होता है, वह किसी प्रकाश के आश्रय होता है, अँधेरे में नहीं। वरन् जब अँधेरा हो जाता है, तो काम धंधे तत्काल बंद हो जाते हैं। इन

नहीं होता, तो दीपक उसकी ज्योति होता है, क्योंकि फिर वह दीपक में भी अपना काम-धंधा उसी तरह कर लेता है। जब दीपक भी नहीं होता तो वाणी उसकी ज्योति होती है, क्योंकि अँधेरी रात में जबकि हाथ पसारा भी नहीं दिखाई देता, तो जहाँ बुलाया जाता है वहाँ चला जाता है, या जहां कोई कुत्ता भौंकता है या गधा रेंकता है, तो वहाँ चला जाता है।

(९) यद्यपि वाणी ज्योति उसकी प्रसिद्ध नहीं है, किंतु ज्योति की सत्यता इसमें पाई जाती है। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य या चंद्र या दीपक उसके नेत्र में प्रकाश देते हुए हृदय को विवेक प्रदान करते और उसे काम-धंधे में उभारते हैं, इसी तरह वाणी भी उसके कान में तेज प्रदान करती हुई हृदय में विवेक देती और उसे काम-धंधे में उभारती है। इसी कारण वह भी उसकी ज्योति है।

(१०) उसकी अप्रसिद्ध ज्योति केवल वाणी ही नहीं, वरन् घ्राण, रसना और त्वचा भी उसकी ज्योतियां हैं। क्योंकि ये ज्योतियां भी, नाक, जिह्वा और देह में प्रकाश करती हुई हृदय में विवेक उत्पन्न करती हैं और उसे काम-धंधे के लिये उभारती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि जो वस्तु किसी कारण से मन में विवेक उत्पन्न करती है और उसे काम-धंधे के लिये उभारती है, वही उसकी ज्योति होती है।

(११) जान लो कि ये सब ज्योतियां पहले किसी बाह्य इन्द्रिय पर प्रकाश डालती मन को उभारती हैं, जो कि बाह्य करण हैं; बिना उनके ज़रिये के मन को जो अन्तः करण और विवेक का साधन है, नहीं उभारतीं। इसलिये ये बाह्य ज्योति हैं। परन्तु स्मृति और सोच में जो मन अपने आप उठता है, इन ज्योतियों से नहीं उठता वरन् भीतरी ज्योति से, जो

नहीं होता, तो दीपक उसकी ज्योति होता है, क्योंकि फिर वह दीपक में भी अपना काम-धंधा उसी तरह कर लेता है। जब दीपक भी नहीं होता तो वाणी उसकी ज्योति होती है, क्योंकि अँधेरी रात में जबकि हाथ पसारा भी नहीं दिखाई देता, तो जहाँ बुलाया जाता है वहाँ चला जाता है, या जहां कोई कुत्ता भौंकता है या गधा रेंकता है, तो वहाँ चला जाता है।

(९) यद्यपि वाणी ज्योति उसकी प्रसिद्ध नहीं है, किंतु ज्योति की सत्यता इसमें पाई जाती है। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य या चंद्र या दीपक उसके नेत्र में प्रकाश देते हुए हृदय को विवेक प्रदान करते और उसे काम-धंधे में उभारते हैं, इसी तरह वाणी भी उसके कान में तेज प्रदान करती हुई हृदय में विवेक देती और उसे काम-धंधे में उभारती है। इसी कारण वह भी उसकी ज्योति है।

(१०) उसकी अप्रसिद्ध ज्योति केवल वाणी ही नहीं, वरन् घ्राण, रसना और त्वचा भी उसकी ज्योतियां हैं। क्योंकि ये ज्योतियां भी, नाक, जिह्वा और देह में प्रकाश करती हुई हृदय में विवेक उत्पन्न करती हैं और उसे काम-धंधे के लिये उभारती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि जो वस्तु किसी कारण से मन में विवेक उत्पन्न करती है और उसे काम-धंधे के लिये उभारती है, वही उसकी ज्योति होती है।

(११) जान लो कि ये सब ज्योतियां पहले किसी बाह्य इन्द्रिय पर प्रकाश डालती मन को उभारती हैं, जो कि बाह्य करण हैं; बिना उनके ज़रिये के मन को जो अन्तः करण और विवेक का साधन है, नहीं उभारतीं। इसलिये ये बाह्य ज्योति हैं। परन्तु स्मृति और सोच में जो मन अपने आप उठता है, इन ज्योतियों से नहीं उठता वरन् भीतरी ज्योति से, जो

तो उसकी सेवा करते हैं। क्योंकि जाग्रत् में आत्मज्योति न हो, तो फिर क्या सूर्य, क्या चन्द्र, और क्या दीपक, एक समान अँधकार होते हैं। इसी कारण मृत मनुष्य के लिये ये सब अँधेरा है। इससे ज्ञात हुआ कि वास्तव में ज्योति यही आत्मा है। वह बाहरी ज्योति वास्तव मे ज्योति नहीं, वरन् इन्द्रियों के उभारने के साधन हैं। किंतु सामान्य लोग व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टि से उनको भी ज्योति समझते हैं।

(१६) जब हमारा आत्मा नेत्र आदि में प्रकाशित होता है, तो आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघता है, जुबान चखती है और देह गरम तथा सर्द पहचानता है। इसी को बुद्धिमान् लोग जाग्रत बोलते हैं। बाह्य ज्योतियां तो उनके कुछ कामों में सहायक होती हैं। जैसे सूर्य या चन्द्र या दीपक तो भौतिक अँधेरे को दूर करने की सेवा करते हैं, जिससे आँख अपना पूरा और ठीक २ काम करे। इस कारण वह सब बाह्य ज्योतियां अपनी २ सेवा में आत्मज्योति के अधीन हैं।

(१७) किंतु आत्म-ज्योति अपने प्रकाश में उनके अधीन नहीं, क्योंकि बिना आँखों के स्वप्न में वह देखता है, बिना कानों के सुनता है, बिना पाँवों के चलता है, और बिना हाथों के पकड़ता है। बाहरी प्रकाश जो इन्द्रियों के चाकर हैं, बहुत दूर रहते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं पाते। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्मज्योति अपने स्वरूप में स्वतंत्र है, उनके अधीन नहीं।

(१८) बाहरी ज्योतियां यद्यपि इन्द्रियों की सेवा करती हैं, और उनमें प्रकाश डालती उन्हें उभारती है, किंतु वह न अपने आपको जानती और न इन्द्रियों को जानती हैं, और न अपनी सेवा को जानती है, इसलिये जड़ हैं। आत्म-ज्योति मन को,

तो उसकी सेवा करते हैं। क्योंकि जाग्रत् में आत्मज्योति न हो, तो फिर क्या सूर्य, क्या चन्द्र, और क्या दीपक, एक समान अँधकार होते हैं। इसी कारण मृत मनुष्य के लिये ये सब अँधेरा है। इससे ज्ञात हुआ कि वास्तव में ज्योति यही आत्मा है। वह बाहरी ज्योति वास्तव में ज्योति नहीं, वरन् इन्द्रियों के उभारने के साधन है। किंतु सामान्य लोग व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टि से उनको भी ज्योति समझते हैं।

(१६) जब हमारा आत्मा नेत्र आदि में प्रकाशित होता है, तो आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघता है, जुबान चखती है और देह गरम तथा सर्द पहचानता है। इसी को बुद्धिमान् लोग जाग्रत बोलते हैं। बाह्य ज्योतियां तो उनके कुछ कामों में सहायक होती हैं। जैसे सूर्य या चन्द्र या दीपक तो भौतिक अँधेरे को दूर करने की सेवा करते हैं, जिससे आँख अपना पूरा और ठीक २ काम करे। इस कारण वह सब बाह्य ज्योतियां अपनी २ सेवा में आत्मज्योति के अधीन हैं।

(१७) किंतु आत्म-ज्योति अपने प्रकाश में उनके अधीन नहीं, क्योंकि बिना आँखों के स्वप्न में वह देखता है, बिना कानों के सुनता है, बिना पाँवों के चलता है, और बिना हाथों के पकड़ता है। बाहरी प्रकाश जो इन्द्रियों के चाकर हैं, बहुत दूर रहते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं पाते। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्मज्योति अपने स्वरूप में स्वतंत्र है, उनके अधीन नहीं।

(१८) बाहरी ज्योतियां यद्यपि इन्द्रियों की सेवा करती हैं और उनमें प्रकाश डालती उन्हें उभारती है, किंतु वह न अपने आपको जानती और न इन्द्रियों को जानती हैं, और न अपनी सेवा को जानती है, इसलिये जड़ हैं। आत्म-ज्योति मन को,

केवल पँच प्राण व्यापार करते हैं। और जब उन से भी अभिमान छोड़ता है, तो मृत्यु होती है।

(२२) इस प्रकार के विचार से ज्ञात होता है कि जब आत्म-ज्योति का अभिमान उनमें होता है, तब वे कर्ता-भोक्ता होते हैं और अपने व्यापार करते हैं, किंतु बाहरी ज्योतियां उनमें अभिमान नहीं कर सकतीं, इसकारण भी वे (ज्योतियां) दोष पूर्ण वा तुच्छ हैं और यह (आत्म ज्योति) पूर्ण ज्योति है, और वे जड़ हैं, यह चेतन है।

(२३) यह न मान लेना चाहिए कि आत्मज्योति का अभिमान उसका स्वाभाविक है, नहीं, वरन् कल्पित है। क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य के कर्म उसके भोग के लिये उदय होते हैं, वैसे-वैसे उसका स्वाभाविक अभिमान उनके बर्ताव के लिये होता है। जब वह कर्म समाप्त होते हैं, तो वह इसप्रकार के अभिमान से भी अपने स्वरूप में शुद्ध पवित्र दिखाई देता है।

(२४) देखो, जब उसके कर्म जाग्रत् के भोगों के उदयकर्ता होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में प्रकट होता है; जब वह समाप्त होते हैं और स्वप्न के भोगों के कर्म उदय होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में नहीं, वरन् मन में होता है, और जब जाग्रत् और स्वप्न के भोग भी समाप्त होते हैं, तो सुषुप्ति होती है, उस समय मनसे भी अभिमान वह नहीं करता। बहुत क्या लिखें, जब जीवन के कर्म भी समाप्त हो जाते हैं, तो पँचप्राण से भी वह अभिमान नहीं करता और मृत्यु होती है।

(२५) इस प्रकार के अवलोकन और अनुभव से ज्ञात हो सकता है कि उसका अभिमान भी स्वाभाविक नहीं, वरन् कल्पित है, और यह कल्पना मनुष्य के कर्मों के

केवल पँच प्राण व्यापार करते हैं । और जब उन से भी अभिमान छोड़ता है, तो मृत्यु होती है ।

(२२) इस प्रकार के विचार से ज्ञात होता है कि जब आत्म-ज्योति का अभिमान उनमें होता है, तब वे कर्ता-भोक्ता होते हैं और अपने व्यापार करते हैं, किंतु बाहरी ज्योतियां उनमें अभिमान नहीं कर सकतीं, इसकारण भी वे (ज्योतियां) दोष पूर्ण वा तुच्छ हैं और यह (आत्म ज्योति) पूर्ण ज्योति है, और वे जड़ हैं, यह चेतन है ।

(२३) यह न मान लेना चाहिए कि आत्मज्योति का अभिमान उसका स्वाभाविक है, नहीं, वरन् कल्पित है। क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य के कर्म उसके भोग के लिये उदय होते हैं, वैसे-वैसे उसका स्वाभाविक अभिमान उनके बर्ताव के लिये होता है । जब वह कर्म समाप्त होते हैं, तो वह इसप्रकार के अभिमान से भी अपने स्वरूप में शुद्ध पवित्र दिखाई देता है ।

(२४) देखो, जब उसके कर्म जाग्रत् के भोगों के उदयकर्ता होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में प्रकट होता है; जब वह समाप्त होते हैं और स्वप्न के भोगों के कर्म उदय होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में नहीं, वरन् मन में होता है, और जब जाग्रत् और स्वप्न के भोग भी समाप्त होते हैं, तो सुषुप्ति होती है, उस समय मनसे भी अभिमान वह नहीं करता । बहुत क्या लिखें, जब जीवन के कर्म भी समाप्त हो जाते हैं, तो पँचप्राण से भी वह अभिमान नहीं करता और मृत्यु होती है ।

(२५) इस प्रकार के अवलोकन और अनुभव से ज्ञात हो सकता है कि उसका अभिमान भी स्वाभाविक नहीं, वरन् कल्पित है, और यह कल्पना मनुष्य के कर्मों के

है, या पितृयान-सड़क पर पहले धूम्र और धूम्र से अँधेरी रात, और अधोगति पर पहले भस्म, फिर मिट्टी, फिर वनस्पति आदि बनाता अंत में नारीगर्भ में ले जाता है।

(३०) फिर देवलोक और पितृलोक में सोमराज या देवता-रूप से उठाना और भूलोक में नारी के गर्भ से पशु-पक्षी व मनुष्य की योनियों में उत्पन्न करता देवलोक, चंद्र-लोक और भूलोक के भोग दिलाता है। यह सब व्यापार क्या लौकिक क्या पारलौकिक, क्या आध्यात्मिक, क्या भौतिक, क्या मानवी क्या ईश्वरीय, सब उसके कर्मों के उदय से होते हैं, और उदान प्राण उनका कर्त्ता है। इसलिये इन्द्रियाँ वास्तव में कर्मों के बंधन में कर्त्ता और भोक्ता हैं। किंतु उनके भोग और व्यापार का फल इसी आत्मज्योति के आश्रय में होता है, इस लिये यह समस्त व्यापार का आधार या अधिष्ठान है।

(३१) जहाँ ऊर्ध्व और अधोगतियों पर (अथवा लौकिक वा पारलौकिक मार्गोंपर) केवल उदान प्राण व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान से करता है, और इसी अभिमान के कारण स्रष्टा नाम पाता है; जब देवलोक या पितृलोक में वही प्राण नाना इन्द्रिय-रूप होकर ऊर्ध्वगति के भोग पाता है और द्यौलोक के व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान के कारण ईश्वर या देवता नामों को पाता है, और यही नरलोक में या पशु-पक्षियों में जीव नाम पाता है। ऊर्ध्वलोकों वा परलोकों में तो पुण्य-कर्मों के कारण स्वतंत्र (स्वाधीन) होता है, और यहाँ पाप-कर्मों के कारण परतंत्र।

(३२) इसी तरह क्या पारलौकिक क्या लौकिक समस्त संसार-चक्र इसी आत्म-ज्योति में अनादि काल से

है, या पितृयान-सड़क पर पहले धूम्र और धूम्र से अँधेरी रात, और अधोगति पर पहले भस्म, फिर मिट्टी, फिर वनस्पति आदि बनाता अंत में नारीगर्भ में ले जाता है।

(३०) फिर देवलोक और पितृलोक में सोमराज या देवता-रूप से उठाना और भूलोक में नारी के गर्भ से पशु-पक्षी व मनुष्य की योनियों में उत्पन्न करता देवलोक, चंद्रलोक और भूलोक के भोग दिलाता है। यह सब व्यापार क्या लौकिक क्या पारलौकिक, क्या आध्यात्मिक, क्या भौतिक, क्या मानवी क्या ईश्वरीय, सब उसके कर्मों के उदय से होते हैं, और उदान प्राण उनका कर्त्ता है। इसलिये इन्द्रियाँ वास्तव में कर्मों के बंधन में कर्त्ता और भोक्ता हैं। किंतु उनके भोग और व्यापार का फल इसी आत्मज्योति के आश्रय में होता है, इस लिये यह समस्त व्यापार का आधार या अधिष्ठान है।

(३१) जहाँ ऊर्ध्व और अधोगतियों पर (अथवा लौकिक वा पारलौकिक मार्गोंपर) केवल उदान प्राण व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान से करता है, और इसी अभिमान के कारण सूत्र नाम पाता है; जब देवलोक या पितृलोक में वही प्राण नाना इन्द्रिय-रूप होकर ऊर्ध्वगति के भोग पाता है और द्यौलोक के व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान के कारण ईश्वर या देवता नामों को पाता है, और यही नरलोक में या पशु-पक्षियों में जीव नाम पाता है। ऊर्ध्वलोकों वा परलोकों में तो पुण्य-कर्मों के कारण स्वतंत्र (स्वाधीन) होता है, और यहाँ पाप-कर्मों के कारण परतंत्र।

(३२) इसी तरह क्या पारलौकिक क्या लौकिक समस्त संसार-चक्र इसी आत्म-ज्योति में अनादि काल से

(३) हम इस व्याख्या के लिये एक उदाहरण लिखते हैं और फिर उस को दृष्टान्त में घटाते हैं जिस में भाषा जानने वालों के लिये यह सूक्ष्म विचार सरल हो जाय। वह यह है कि कल्पना करो एक राज-दरबार में रात को अभिनय (तमाशा) होता है।

(४) वहाँ एक बड़ा विशाल प्रासाद (महल) है जिस में यह अभिनय होता है, और एक कोने में एक क़ंदील (दीपक) लटकी है जिस में मोमबत्ती जल रही है, और एक राजसिंहासन पर राजाजी विराजमान हैं और यथा-स्थान उनके सभासद्गण भी समासीन हैं, और एक कंचनी उस के सामने अभिनय करती है और गायक गण उसे ताल पर नचाते हैं, और यह कंचनी उन्हीं बातों पर जिन पर वह नचाते हैं नाचती है।

(५) इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जिस तरह गायक गण उसे नचाते हैं उसी तरह वह कंचनी नाचती है। जब वह नियमानुसार नृत्य करती है, राजा और सभासद् प्रसन्न होते हैं, किन्तु जब वह बेसुर या बेताल हो जाती है, तो उन्हें रंज होता है। और दीपक का प्रकाश क्या कंचनी क्या गायक, क्या राजा, क्या सभासद् और क्या प्रासाद सब को चमकाता है, और सब अभिनय उसी के आश्रय में होता है (क्योंकि यदि दीपक न हो, तो अभिनय भी बन्द हो जाय), तो भी वह दीपक न तो स्वयं कुछ अभिनय करता है, न उस अभिनय के कारण कुछ हर्ष-शोक मनाता है।

(६) फिर जिस समय वह कंचनी और काथिक कुछ विश्राम के लिये बैठ जाते हैं, तो उनके विश्राम को भी उसी तरह जतलाता है जिस तरह कि उन के नृत्य को प्रकाशित

(३) हम इस व्याख्या के लिये एक उदाहरण लिखते हैं और फिर उस को दृष्टान्त में घटाते हैं जिस में भाषा जानने वालों के लिये यह सूक्ष्म विचार सरल हो जाय। वह यह है कि कल्पना करो एक राज-दरबार में रात को अभिनय (तमाशा) होता है।

(४) वहाँ एक बड़ा विशाल प्रासाद (महल) है जिस में यह अभिनय होता है, और एक कोने में एक क़ंदील (दीपक) लटकी है जिस में मोमबत्ती जल रही है, और एक राजसिंहासन पर राजाजी विराजमान हैं और यथा-स्थान उनके सभासद्‌गण भी समासीन हैं, और एक कंचनी उस के सामने अभिनय करती है और गायक गण उसे ताल पर नचाते हैं, और यह कंचनी उन्हीं बातों पर जिन पर वह नचाते हैं नाचती है।

(५) इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जिस तरह गायक गण उसे नचाते हैं उसी तरह वह कंचनी नाचती है। जब वह नियमानुसार नृत्य करती है, राजा और सभासद् प्रसन्न होते हैं, किन्तु जब वह बेसुर या बेताल हो जाती है, तो उन्हें रंज होता है। और दीपक का प्रकाश क्या कंचनी क्या गायक, क्या राजा, क्या सभासद् और क्या प्रासाद सब को चमकाता है, और सब अभिनय उसी के आश्रय में होता है (क्योंकि यदि दीपक न हो, तो अभिनय भी बन्द हो जाय), तो भी वह दीपक न तो स्वयं कुछ अभिनय करता है, न उस अभिनय के कारण कुछ हर्ष-शोक मनाता है।

(६) फिर जिस समय वह कंचनी और कथिक कुछ विश्राम के लिये बैठ जाते हैं, तो उनके विश्राम को भी उसी तरह झलकाता है जिस तरह कि उन के नृत्य को प्रकाशित

करती है, और उन के व्यापार को भी प्रकाशित करती है, और बुद्धि को प्रकाशित करती है, और जिस-जिस तरह बुद्धि सोचती या समझती है, उस को भी प्रकाशित करती है।

(११) फिर जिस-जिस तरह उस के व्यापार से अहंकार हर्ष या शोक पाता है, उस को भी और अहंकार को भी प्रकाशित करती है। न तो इन्द्रियों के सुर-ताल और बुद्धि के शोक-चिन्ता में उसे कुछ लगावट है, न अहंकार के हर्ष-शोक में कुछ साँझा है, वरन् सब के व्यापार और सब के स्वरूप से अलग, असंग ज्योतियों की ज्योति है।

(१२) जब जागृति होती है और वह सब मिलकर जागृति का अभिनय करते हैं, तो यह आत्म-ज्योति जागृति और उन की जागृति के व्यापार को प्रकाशित करती है। जब वह स्वप्न में जाते हैं, स्वप्न का अभिनय करते हैं, तो वह ज्योति स्वप्न को और स्वप्नावथा के अभिनय को भी उसी तरह प्रकाशित करती है जैसा कि जागृति में करती थी; और जब वह सपुप्ति में सब विलीन हो जाते हैं, तो केवल महल को और उन सब के न होने को प्रकाशित करती है।

(१३) न तो उसे जागृति और स्वप्न के तमाशे की कुछ परवाह है, न उसे सुषुप्ति की बेखबरी और सर्व शून्य से कुछ प्रयोजन, वरन् जैसा होता है, वैसा दिखाती है। इस कारण न तो वह कर्त्ता या भोक्ता है, वरन् अकर्त्ता अभोक्ता प्रकाशों का भी प्रकाश असंग आत्मा है।

(१४) उक्त उदाहरण से भी बढ़ कर उसमें श्रेष्ठता का हेतु यह है कि दीपक का प्रकाश तो उदाहरण में केवल भौतिक प्रकाश प्रदान करता है, स्वयं उस अभिनय को नहीं देखता, किंत यह आत्मप्रकाश उसको देखता भी है और

करती है, और उन के व्यापार को भी प्रकाशित करती है, और बुद्धि को प्रकाशित करती है, और जिस-जिस तरह बुद्धि सोचती या समझती है, उस को भी प्रकाशित करती है।

(११) फिर जिस-जिस तरह उस के व्यापार से अहंकार हर्ष या शोक पाता है, उस को भी और अहंकार को भी प्रकाशित करती है। न तो इन्द्रियों के सुर-ताल और बुद्धि के शोक-चिन्ता में उसे कुछ लगावट है, न अहंकार के हर्ष-शोक में कुछ साँझा है, वरन् सब के व्यापार और सब के स्वरूप से अलग, असंग ज्योतियों की ज्योति है।

(१२) जब जागृति होती है और वह सब मिलकर जागृति का अभिनय करते हैं, तो यह आत्म-ज्योति जागृति और उन की जागृति के व्यापार को प्रकाशित करती है। जब वह स्वप्न में जाते हैं, स्वप्न का अभिनय करते हैं, तो वह ज्योति स्वप्न को और स्वप्नावथा के अभिनय को भी उसी तरह प्रकाशित करती है जैसा कि जागृति में करती थी; और जब वह सुषुप्ति में सब विलीन हो जाते हैं, तो केवल महल को और उन सब के न होने को प्रकाशित करती है।

(१३) न तो उसे जागृति और स्वप्न के तमाशे की कुछ परवाह है, न उसे सुषुप्ति की बेखबरी और सर्व शून्य से कुछ प्रयोजन, वरन् जैसा होता है, वैसा दिखाती है। इस कारण न तो वह कर्त्ता या भोक्ता है, वरन् अकर्त्ता अभोक्ता प्रकाशों का भी प्रकाश असंग आत्मा है।

(१४) उक्त उदाहरण से भी बढ़ कर उसमें श्रेष्ठता का हेतु यह है कि दीपक का प्रकाश तो उदाहरण में केवल भौतिक प्रकाश प्रदान करता है, स्वयं उस अभिनय को नहीं देखता, किंतु यह आत्मप्रकाश उसको देखता भी है और

करती हैं। वह जो उनमें अहंभाव रखता है, वह भी तमाशा होता है। किंतु जो अपने आत्मा को उनसे असंग जानता है, स्वयं तमाशा नहीं होता वरन् तमाशा देखनेवाला होजाता है, और अपने अंगों और इन्द्रियों के व्यापार में साक्षी होकर रहता है। इसी कारण वह अपनी करतूतों का बदला भी नहीं पाता, क्योंकि साक्षी वा गवाह कार्य कर्त्ता नहीं होता, वरन् प्रतिफल वही पाता है जो कर्म करता है।

(१६) अतः ऐ भाइयो! तुम भी साक्षी बनो, कर्मी न रहो; वरन् जो-जो अंग और इन्द्रियाँ और प्राण करते हैं, उनको देखो। यही देखना ठीक आत्म-ज्ञान है, और इसी ज्ञान के कारण प्रसाद प्राप्त होता है, और जो देखने वाला है, वही सच्चा है, वह जो दिखाई देते हैं, नाशमान हैं।

तीसरा अध्याय।

(१) यद्यपि आत्म-ज्योति असंग और पवित्र है और उन इन्द्रियों से जो कर्त्ता हैं, अलग है, तो भी जिस तरह दीपक का प्रकाश अभिनय पर प्रकाश डालता है, प्रत्येक के रूप पर नियत होता उसी का रूप दिखाई देता है, उसी तरह आत्मज्योति भी प्रत्येक कर्मेंद्रिय और अंग और ज्ञानेन्द्रिय वा प्राणों में प्रकाशमान होती उसकी आकृति पर उसमें उससे एक हुई दिखाई देती है।

(२) इस कारण कि यह आत्मज्योति वास्तव में अपना कोई रूप-रंग तो रखती नहीं, अपितु 'क्यों' 'कब' आदि कारणों से परे है, तो भी जिस पर प्रकाशित होती है, उसी का रूप धारण करती सी प्रतीत होती है, इसलिये मध्य श्रेणी लोगों की बुद्धि में इसकी विवेचना या पहचान नहीं होती। वह कर्म-

करती हैं। वह जो उनमें अहंभाव रखता है, वह भी तमाशा होता है। किंतु जो अपने आत्मा को उनसे असंग जानता है, स्वयं तमाशा नहीं होता वरन् तमाशा देखनेवाला होजाता है, और अपने अंगों और इन्द्रियों के व्यापार में साक्षी होकर रहता है। इसी कारण वह अपनी करतूतों का बदला भी नहीं पाता, क्योंकि साक्षी वा गवाह कार्य कर्त्ता नहीं होता, वरन् प्रतिफल वही पाता है जो कर्म करता है।

(१६) अतः ऐ भाइयो! तुम भी साक्षी बनो, कर्मी न रहो; वरन् जो-जो अंग और इन्द्रियाँ और प्राण करते हैं, उनको देखो। यही देखना ठीक आत्म-ज्ञान है, और इसी ज्ञान के कारण प्रसाद प्राप्त होता है, और जो देखने वाला है, वही सच्चा है, वह जो दिखाई देते हैं, नाशमान हैं।

तीसरा अध्याय।

(१) यद्यपि आत्म-ज्योति असंग और पवित्र है और उन इन्द्रियों से जो कर्त्ता हैं, अलग है, तो भी जिस तरह दीपक का प्रकाश असिनय पर प्रकाश डालता है, प्रत्येक के रूप पर नियत होता उसी का रूप दिखाई देता है, उसी तरह आत्मज्योति भी प्रत्येक कर्मेंद्रिय और अंग और ज्ञानेन्द्रिय वा प्राणों में प्रकाशमान होती उसकी आकृति पर उसमें उससे एक हुई दिखाई देती है।

(२) इस कारण कि यह आत्मज्योति वास्तव में अपना कोई रूप-रंग तो रखती नहीं, अपितु 'क्यों' 'कब' आदि कारणों से परे है, तो भी जिस पर प्रकाशित होती है, उसी का रूप धारण करती सी प्रतीत होती है, इसलिये मध्य श्रेणी लोगों की बुद्धि में उसकी विवेचना या पहचान नहीं होती। वह कर्मे-

की भाँति प्रकाश कर रही है। मस्तिष्क एक छत की तरह है जिसमें ५ छिद्र हैं, और पंच ज्ञानेंद्रिय उनमें दूसरे आईने लगाए गए हैं।

(६) मन (अंतःकरण) का आईना (दर्पण) एक ऐसा बदलने वाला शरीर है जो हर समय ख़्यालों के रूप में वेगवान् होता है। वरन् जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकलती हैं, मन (अर्थात् अंतःकरण) से भी बराबर किरणें उठती हैं और मस्तिष्क को जाती हैं, और आत्मा का प्रकाश उनमें भी उसी तरह पड़ता है, जैसा कि अंतःकरण में पड़ता है, और उन्हीं किरणों को हम विचार नाम देते हैं और संस्कृत में उन्हें वृत्ति भी बोला करते हैं।

(७) जब ये मनोवृत्तियाँ मस्तिष्क में जाती हैं, तो मस्तिष्क में फैलती उस ज्योति से उसी तरह मस्तिष्क को प्रकाशित करती हैं जिस तरह एक दीपक जिस-जिस जगह ले जायँ उसी-उसी जगह को प्रकाशित करता है। फिर मस्तिष्क से नाड़ियों के द्वारा सारे शरीर में इन वृत्तियों की फैलावट होती है और सारा शरीर प्रकाशित होता है। फिर जब उसके मन की कुछ किरणें पंच छिद्रों में जाती हैं जहाँ ज्ञानेंद्रियों के आईने लगे हुए हैं, तो उनमें भी उस ज्योति का प्रकाश पड़ता है और उन्हें भी प्रकाशित करता है। इसी को सामान्यतः जाग्रत् बोलते हैं।

(८) फिर ज्यों-ज्यों ज्ञानेंद्रियों से ख़्याल निकलकर वस्तुओं पर लगते उनकी आकृति धारण करते हैं, त्यों-त्यों वस्तुएँ भी उसी ज्योति से प्रकाशित होती दिखाई देती हैं। इस प्रकार यह ज्योति मन के भीतर प्रकाश डाल रही है। और इसी कारण उसको आंतरिक ज्योति कहा करते हैं। और फिर (यह ज्योति) बारी-बारी करके, उपर्युक्त-क्रम से,

की भाँति प्रकाश कर रही है। मस्तिष्क एक छत की तरह है जिसमें ५ छिद्र हैं, और पंच ज्ञानेंद्रिय उनमें दूसरे आईने लगाए गए हैं।

(६) मन (अंतः करण) का आईना (दर्पण), एक ऐसा बदलने वाला शरीर है जो हर समय ख्यालों के रूप में वेगवान् होता है। वरन् जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकलती हैं, मन (अर्थात् अंतः करण) से भी बराबर किरणें उठती हैं और मस्तिष्क को जाती हैं, और आत्मा का प्रकाश उनमें भी उसी तरह पड़ता है, जैसा कि अंतः करण में पड़ता है, और उन्हीं किरणों को हम विचार नाम देते हैं और संस्कृत में उन्हें वृत्ति भी बोला करते हैं।

(७) जब ये मनोवृत्तियाँ मस्तिष्क में जाती हैं, तो मस्तिष्क में फैलती उस ज्योति से उसी तरह मस्तिष्क को प्रकाशित करती हैं जिस तरह एक दीपक जिस-जिस जगह ले जायँ उसी-उसी जगह को प्रकाशित करता है। फिर मस्तिष्क से नाड़ियों के द्वारा सारे शरीर में इन वृत्तियों की फैलावट होती है और सारा शरीर प्रकाशित होता है। फिर जब उसके मन की कुछ किरणें पंच छिद्रों में जाती हैं जहाँ ज्ञानेंद्रियों के आईने लगे हुए हैं, तो उनमें भी उस ज्योति का प्रकाश पड़ता है और उन्हें भी प्रकाशित करता है। इसी को सामान्यतः जाग्रत् बोलते हैं।

(८) फिर ज्यों-ज्यों ज्ञानेंद्रियों से ख्याल निकलकर वस्तुओं पर लगते उनकी आकृति धारण करते हैं, त्यों-त्यों वस्तुएँ भी उसी ज्योति से प्रकाशित होती दिखाई देती हैं। इस प्रकार यह ज्योति मन के भीतर प्रकाश डाल रही है। और इसी कारण उसको आंतरिक ज्योति कहा करते हैं। और फिर (यह ज्योति) बारी-बारी करके, उपर्युक्त-क्रम से,

करता है उस से जो प्रकाशित होता है, भिन्न है। आत्मा तो प्रकाशित करता है और खयाल एवं ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय प्रकाशित होते हैं, इस लिये आत्मा क्या दिल, क्या खयाल, क्या ज्ञानेंद्रिय, क्या कर्मेंद्रिय, क्या शरीर इन सब से अलग सब में सब रूप है।

(१३) जब कि वह सब में सब कुछ है तो उन से अलग करके वह किसी रूप में भी नहीं देखा जाता, क्योंकि वह अपने स्वरूप में तर्क वितर्क वा प्रमाण प्रमेय से रहित ज्योति मात्र है। जिस प्रकार बाहरी प्रकाश भी लाल में लाल, काले में काला, पीले में पीला दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में न वह लाल है न काला न पीला अनुभव होता है, इसी तरह आत्मा भी सब में सब कुछ दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में सब से अलग, आंतरिक ज्योति अनुभव होता है।

(१४) इस के अनुभव के लिये जिज्ञासु को चाहिए कि पहले ज्ञानेंद्रियों को निष्क्रिय करके अपने ख्यालों का भीतर में दर्शन करता रहे। इस दशा में विविध ख्याल उत्पन्न होंगे और दूर होंगे। वह जो इन ख्यालों के उदय और अस्त और उन की फसलों (लगातार सिलसिले) को देखता और प्रकाशित करता है, वही आत्म-ज्योति है।

(१५) इस दर्शन में तो ख्याल दर्पण के समान हो जाते हैं। जिस प्रकार देखने वाले के आगे एक आइना (दर्पण) रख दें और फिर उठा लें; और दूसरा रख दें, फिर उसे भी उठा दें; तीसरा रख दें; इसी तरह करते जायँ, तो वह अपने मुख को उन में देखता है। इसी तरह समाधि में जिज्ञासु आत्म-ज्योति को ख्यालों वा संकल्पों में देख सकता है।

(१६) क्योंकि उदाहरण में जब एक शीशा सामने होता

करता है उस से जो प्रकाशित होता है, भिन्न है। आत्मा तो प्रकाशित करता है और ख्याल एवं ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय प्रकाशित होते हैं, इस लिये आत्मा क्या दिल, क्या ख्याल, क्या ज्ञानेंद्रिय, क्या कर्मेंद्रिय, क्या शरीर इन सब से अलग सब में सब रूप है।

(१३) जब कि वह सब में सब कुछ है तो उन से अलग करके वह किसी रूप में भी नहीं देखा जाता, क्योंकि वह अपने स्वरूप में तर्क वितर्क वा प्रमाण प्रमेय से रहित ज्योति मात्र है। जिस प्रकार बाहरी प्रकाश भी लाल में लाल, काले में काला, पीले में पीला दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में न वह लाल है न काला न पीला अनुभव होता है, इसी तरह आत्मा भी सब में सब कुछ दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में सब से अलग, आंतरिक ज्योति अनुभव होता है।

(१४) इस के अनुभव के लिये जिज्ञासु को चाहिए कि पहले ज्ञानेंद्रियों को निष्क्रिय करके अपने ख्यालों का भीतर में दर्शन करता रहे। इस दशा में विविध ख्याल उत्पन्न होंगे और दूर होंगे। वह जो इन ख्यालों के उदय और अस्त और उन की फसलों (लगातार सिलसिले) को देखता और प्रकाशित करता है, वही आत्म-ज्योति है।

(१५) इस दर्शन में तो ख्याल दर्पण के समान हो जाते हैं। जिस प्रकार देखने वाले के आगे एक आइना (दर्पण), रख दें और फिर उठा लें; और दूसरा रख दें, फिर उसे भी उठा दें; तीसरा रख दें; इसी तरह करते जायँ, तो वह अपने मुख को उन में देखता है। इसी तरह समाधि में जिज्ञासु आत्म-ज्योति को ख्यालों वा संकल्पों में देख सकता है।

(१६) क्योंकि उदाहरण में जब एक शीशा सामने होता

कारण हो जाता है, उसी तरह समाधि में ख्याल भी ज्ञानी को आत्मा के अनुभव (या साक्षात्कार) के कारण हो जाते हैं।

(१६) जिस तरह आँख दर्पण की सहायता के बिना अपने आपको नहीं देख सकती, उसी तरह आत्म-ज्योति भी ख्यालों की विद्यमानता के बिना अपने आपको ज्ञाता नहीं अनुभव कर सकती। इसी कारण मन या अंतः करण उस आत्म-ज्योति का प्रकट स्थान या प्रकट कर्त्ता नियत हुआ है, और इसीलिये वेद की श्रुतियाँ वृत्तियों को आत्म-ज्योति का दर्शाने वाली लिखती हैं, क्योंकि जिस प्रकार आईना मुख का दर्शानेवाला निश्चित होता है, उसी तरह ख्याल भी आत्मा को दर्शानेवाला निश्चय किया गया है।

२०) अब यों समझो कि अंतः करण में उपर्युक्त नियमानुसार जब आत्म-ज्योति का प्रतिबिंब पड़ता है, तो उसी अंतः करण की वृत्तियों के प्रकाशित करने और जानने को ज्ञान नाम करते हैं। विद्या में एक भाग तो यही भीतरी ज्योति है, और दूसरा भाग मन अर्थात् अंतः करण है जो ख्यालों के रूप में तरंगायित होता है। और जब कोई वस्तु इस विद्या में आ जाती है, तो मन का भाग जो ख्याल है उस वस्तु के रूप में तद्रूप होता है, और यह भीतर की ज्योति उसपर प्रकाशमान होती उसे प्रकाशित करती और उसे देखती है।

(२१) देखो, जब कोई वस्तु हमारी आँखों के सामने आती है, तो हमारी मनोमय किरणें दृष्टि की किरणों से मिली हुई आँखों से बाहर निकलती उस वस्तु पर उसी तरह आ पड़ती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें भी उसपर पड़ती हैं। और फिर जिस तरह सूर्य की किरणें उसका रूप धारण

कारण हो जाता है, उसी तरह समाधि में ख्याल भी ज्ञानी को आत्मा के अनुभव (वा साक्षात्कार) के कारण हो जाते हैं।

(१९) जिस तरह आँख दर्पण की सहायता के बिना अपने आपको नहीं देख सकती, उसी तरह आत्म-ज्योति भी ख्यालों की विद्यमानता के बिना अपने आपको ज्ञाता नहीं अनुभव कर सकती। इसी कारण मन या अंतः करण उस आत्म-ज्योति का प्रकट स्थान वा प्रकट कर्त्ता नियत हुआ है, और इसीलिये वेद की श्रुतियाँ वृत्तियों को आत्म-ज्योति का दर्शाने वाली लिखती हैं, क्योंकि जिस प्रकार आईना मुख का दर्शानेवाला निश्चित होता है, उसी तरह ख्याल भी आत्मा को दर्शानेवाला निश्चय किया गया है।

२०) अब यों समझो कि अंतः करण में उपर्युक्त नियमानुसार जब आत्म-ज्योति का प्रतिबिंब पड़ता है, तो उसी अंतः करण की वृत्तियों के प्रकाशित करने और जानने को ज्ञान नाम करते हैं। विद्या में एक भाग तो यही भीतरी ज्योति है, और दूसरा भाग मन अर्थात् अंतः करण है जो ख्यालों के रूप में तरंगायित होता है। और जब कोई वस्तु इस विद्या में आ जाती है, तो मन का भाग जो ख्याल है उस वस्तु के रूप में तद्रूप होता है, और यह भीतर की ज्योति उसपर प्रकाशमान होती उसे प्रकाशित करती और उसे देखती है।

(२१) देखो, जब कोई वस्तु हमारी आँखों के सामने आती है, तो हमारी मनोमय किरणें दृष्टि की किरणों से मिली हुई आँखों से बाहर निकलती उस वस्तु पर उसी तरह आ पड़ती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें भी उसपर पड़ती हैं। और फिर जिस तरह सूर्य की किरणें उसका रूप धारण

नष्ट होना आरम्भ होगा, यहाँ तक (नष्ट हो जायगा) कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था विद्यमान हो जायगी जहाँ कि वृत्ति का कोई उदय-अस्त नहीं रहता, जिस दशा में मन अर्थात् अंतःकरण शांत हुआ संकल्प-विकल्प नहीं करता, जहाँ आत्माज्योति ऐसे जलते हुए अंगार के समान कि जिसमें धुआँ या लाट या चिनगारी नहीं, स्वतः स्थित रहती है, और ऐसी अवस्था का ज्ञान भी इस निर्विकल्प समाधि से उठने पर होता है, समाधि के समय नहीं होता। मोक्ष का समस्त अवलम्ब इस निर्विकल्प समाधि पर ही है। और इसी समाधि की अवस्था को आत्म-साक्षात्कार कहते हैं, और इसी साक्षात्कार पर प्रसाद निर्भर है।

(२५) जान लो कि ख्याल जब तक कि वह विद्यमान है, इसी ज्योति का प्रकट करनेवाला रहता है, चाहे वह किसीके भी रूप पर रूपवान् हो। और प्रकृति ने उसे ऐसा बनाया है कि वह प्रत्येक वस्तु के रूप पर बदल जाता है। परन्तु अभ्यास करते-करते निर्विकल्प समाधि की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जब कि किसी वस्तु की कल्पना वा ख्याल नहीं रहता, अर्थात् अंतःकरण निश्चल (संकल्प-विकल्प-हीन) हो जाता है, जिस प्रकार वायु की गति बंद होने पर जल ठहरा हुआ होता है या अग्नि का अंगारा दहक रहा होता है। इस निर्विकल्प समाधि को वादानुवाद-विहीन अवस्था कहते हैं। यद्यपि मन की तरंगें उस समय बिलकुल बंद होती हैं, किंतु मन उस अवस्था में लय वा लीन नहीं हो जाता जैसे कि सुषुप्ति में होता है। वह अपने अस्तित्वमें स्थित होता है परन्तु वृत्तिहीन अर्थात् शांत होता है।

(२६) किंतु जब वह बुद्धि-विषयक ज्ञान की शिक्षा में गंभीर और सूक्ष्म तत्त्वों के विवेक में अभ्यस्त किया जाता है

नष्ट होना आरम्भ होगा, यहाँ तक (नष्ट हो जायगा) कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था विद्यमान हो जायगी जहाँ कि वृत्ति का कोई उदय-अस्त नहीं रहता, जिस दशा में मन अर्थात् अंतःकरण शांत हुआ संकल्प-विकल्प नहीं करता, जहाँ आत्माज्योति ऐसे जलते हुए अंगार के समान कि जिसमें धुआँ या लाट या चिनगारी नहीं, स्वतः स्थित रहती है, और ऐसी अवस्था का ज्ञान भी इस निर्विकल्प समाधि से उठने पर होता है, समाधि के समय नहीं होता। मोक्ष का समस्त अवलम्ब इस निर्विकल्प समाधि पर ही है। और इसी समाधि की अवस्था को आत्म-साक्षात्कार कहते हैं, और इसी साक्षात्कार पर प्रसाद निर्भर है।

(२५) जान लो कि ख्याल जब तक कि वह विद्यमान है, इसी ज्योति का प्रकट करनेवाला रहता है, चाहे वह किसीके भी रूप पर रूपवान् हो। और प्रकृति ने उसे ऐसा बनाया है कि वह प्रत्येक वस्तु के रूप पर बदल जाता है। परन्तु अभ्यास करते-करते निर्विकल्प समाधि की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जब कि किसी वस्तु की कल्पना या ख्याल नहीं रहता, अर्थात् अंतःकरण निश्चल (संकल्प-विकल्प-हीन) हो जाता है, जिस प्रकार वायु की गति बंद होने पर जल ठहरा हुआ होता है या अग्नि का अंगारा दहक रहा होता है। इस निर्विकल्प समाधि को वावानुवाद-विहीन अवस्था कहते हैं। यद्यपि मन की तरंगें उस समय बिलकुल बंद होती हैं, किंतु मन उस अवस्था में लय या लीन नहीं हो जाता जैसे कि सुषुप्ति में होता है। वह अपने अस्तित्वमें स्थित होता है परन्तु वृत्तिहीन अर्थात् शांत होता है।

(२६) किंतु जब वह बुद्धि-विषयक ज्ञान की शिक्षा में गंभीर और सूक्ष्म तत्वों के विवेक में अभ्यस्त किया जाता है

का बाधक है और ख़्याल (मन) ही अन्य कारण से साक्षात्कार का हेतु या साधक है।

(३०) जब यह ख़्याल (मन) किसी वस्तु के रूप पर बनता और उसको परिमित करता है, तो वह वस्तु भी ख़्याल (मन) में उसी तरह प्रतिबिंबित होती है जिस तरह आत्मा ख़्याल (मन) में प्रतिबिंबित है। और इस रूप में प्रतिबिंबित वस्तु भी आत्मा से एक होती है, और आत्मा में वह प्रत्यक्ष होती है। इस कारण से भी ख्याल (मन) साक्षात्कार का साधक वा वसीला होता है।

(३१) जब मूर्च्छा या सुषुप्ति की दशा में अंतःकरण में तरंगें नहीं उठती (मन लहराने नहीं पाता, या ख्याल आकार पर नहीं बनता, या किसी वस्तु पर अधिकार करने नहीं पाता), तो ऐसी दशा में भी ख्याल (मन) साक्षात्कार का आवरण होता है। इसलिये ख्याल(मन)ही वास्तव में समस्त व्यापार का साधक होता है, और ज्ञानेंद्रियाँ तो उसकी एक गम्यस्थान (गुज़रगाह) हैं जिनमें से निकलता हुआ विशेष-विशेष व्यापार वह करता है, और ख्याल (मन) ही इस ज्योति के प्रकाश में प्रकाशित हुआ ज्ञान कहलाता है।

(३२) अब यों समझो कि ज्ञान में जो निश्चय और कल्पना की चेष्टा या क्रिया है, वह तो ख्याल (मन) का निजी काम है, किन्तु इसमें जो अनुभव है वह ज्योतिका स्वाभाविक काम है; तो भी (मन) के व्यापार आत्मा में और आत्मा का अनुभव ख्याल (मन) में आरोपित स्पष्ट होते हैं। इसी कारण अनजान मनुष्य आत्मा को पवित्र और असंग नहीं जान सकता, वरन् ख्याल के व्यापार का वह आत्मा में भ्रम खाता है। इसका कारण यह है कि जो-जो व्यापार ख्याल

का बाधक है और ख़्याल (मन) ही अन्य कारण से साक्षात्कार का हेतु वा साधक है।

(३०) जब यह ख़्याल (मन) किसी वस्तु के रूप पर बनता और इसको परिव्रत करता है, तो वह वस्तु भी ख़्याल (मन) में उसी तरह प्रतिबिंबित होती है जिस तरह आत्मा ख़्याल (मन) में प्रतिबिंबित है। और इस रूप में प्रतिबिंबित वस्तु भी आत्मा से एक होती है, और आत्मा में वह प्रत्यक्ष होती है। इस कारण से भी ख्याल (मन) साक्षात्कार का साधक वा वसीला होता है।

(३१) जब मूर्च्छा या सुषुप्ति की दशा में अंतःकरण में तरंगें नहीं उठती (मन लहराने नहीं पाता, या ख्याल आकार पर नहीं बनता, या किसी वस्तु पर अधिकार करने नहीं पाता); तो ऐसी दशा में भी ख्याल (मन) साक्षात्कार का आवरण होता है। इसलिये ख्याल(मन)ही वास्तव में समस्त व्यापार का साधक होता है, और ज्ञानेंद्रियाँ तो उसकी एक गम्यस्थान (गुज़रगाह) हैं जिनमें से निकलता हुआ विशेष-विशेष व्यापार वह करता है, और ख्याल (मन) ही इस ज्योति के प्रकाश में प्रकाशित हुआ ज्ञान कहलाता है।

(३२) अब यों समझो कि ज्ञान में जो निश्चय और कल्पना की चेष्टा वा क्रिया है,वह तो ख्याल (मन) का निजी काम है,किन्तु इसमें जो अनुभव है वह ज्योतिका स्वाभाविक काम है; तो भी (मन) के व्यापार आत्मा में और आत्मा का अनुभव ख्याल (मन) में आरोपित स्पष्ट होते हैं। इसी कारण अनजान मनुष्य आत्मा को पवित्र और असंग नहीं जान सकता, बरन् ख्याल के व्यापार का वह आत्मा में भ्रम खाता है। इसका कारण यह है कि जो-जो व्यापार ख्याल

जन्म और मृत्यु आत्मा में आरोपित वा मान लेने के हैं, वास्तविक नहीं।

(३७) विचित्र बात यह है कि जब ख्याल उठता कुछ करता है और तत्काल दूर होता है, तो उस का प्रभाव (Impressions) मन में रहता है, और फिर उसी प्रभाव के कारण वह दुबारा उठता है और फिर प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह एक विचित्र वृत्त बनाता है, जिस का आरम्भ या अन्त नहीं। और इन्हीं प्रभावों को संसार में पुण्य या पाप बोला करते हैं, क्योंकि जब वह अच्छा सोचता और अच्छा करता है, तो अच्छाई का प्रभाव मन में होता है। जब वह बुराई सोचता और बुरे काम करता है, तो बुराई का प्रभाव उस में उत्पन्न होता है। उस पहले प्रभाव का नाम पुण्य और इन दूसरे प्रभावों का नाम पाप है।

(३८) इस कारण पुण्य और पाप वास्तव में मन के ख्याल या धर्म हैं, और जाग्रत् स्वप्न में और वैसे ही जन्म-मरण में यही पाप-पुण्य भोग के कारण हैं। पुण्यों के कारण उत्तम जन्म और उत्तम भोग उत्पन्न होते हैं; पापों के कारण अधम जन्म और अधम भोग मिलते हैं। बार-बार जाग्रत् और स्वप्न और जन्म-मरण इन्हीं कर्मों के कारण ख्याल या मन में होता है। परन्तु चूँकि ये सब व्यापार उसी ज्योति में होते हैं और उसी के अभिमान से होते हैं, ख्याल की प्रतीति से अनजान मनुष्य अपने आत्मा में पुण्य-पाप का अध्यारोप कर लेता है। वास्तव में वह तो अलग असंग आत्मा है। न तो पुण्य उस में छूत पाते हैं और न पाप उसे काला करते हैं। जैसा दीपक या सूर्य का प्रकाश भी क्या शौचालय (पाखाना) और क्या गंगाजल, इन में

जन्म और मृत्यु आत्मा में आरोपित वा मान लेने के हैं, वास्तविक नहीं।

(३७) विचित्र बात यह है कि जब ख्याल उठता कुछ करता है और तत्काल दूर होता है, तो उस का प्रभाव (Impressions) मन में रहता है, और फिर उसी प्रभाव के कारण वह दुबारा उठता है और फिर प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह एक विचित्र वृक्ष बनाता है, जिस का आरम्भ या अन्त नही। और इन्हीं प्रभावों को संसार में पुण्य या पाप बोला करते है, क्योंकि जब वह अच्छा सोचता और अच्छा करता है, तो अच्छाई का प्रभाव मन में होता है। जब वह बुराई सोचता और बुरे काम करता है, तो बुराई का प्रभाव उस में उत्पन्न होता है। उस पहले प्रभाव का नाम पुण्य और इन दूसरे प्रभावों का नाम पाप है।

(३८) इस कारण पुण्य और पाप वास्तव में मन के ख्याल या धर्म हैं, और जाग्रत् स्वप्न में और वैसे ही जन्म-मरण में यही पाप-पुण्य भोग के कारण हैं। पुण्यों के कारण उत्तम जन्म और उत्तम भोग उत्पन्न होते हैं; पापों के कारण अधम जन्म और अधम भोग मिलते हैं। बार-बार जाग्रत् और स्वप्न और जन्म-मरण इन्हीं कर्मों के कारण ख्याल या मन में होता है। परन्तु चूँकि ये सब व्यापार उसी ज्योति में होते हैं और उसी के अभिमान से होते हैं, ख्याल की प्रतीति से अनजान मनुष्य अपने आत्मा में पुण्य-पाप का अध्यारोप कर लेता है। वास्तव में वह तो अलग असंग आत्मा है। न तो पुण्य उस में छूत पाते हैं और न पाप उसे काला करते हैं। जैसा दीपक या सूर्य का प्रकाश भी क्या शौचालय (पाखाना) और क्या गंगाजल, इन में

पाप और क्या पुण्य ख्याल और मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो पवित्र, असंग, नित्य मुक्त है। अतः ए भाइयो! हम भी पापियों के समान हैं, पर वास्तव में निष्पाप हैं। सत्कर्मियों की तरह दिखाई देते हैं, पर सत्कर्मी नहीं।

(४२) क्या मन, क्या ख्याल, क्या पाप, क्या पुण्य, सब अंधकारमय हैं, और आत्मा एक ज्योति है जो उन में चमकती है। किन्तु स्पष्ट है कि अंधकार को प्रकाश से क्या सम्बन्ध है, मिथ्या का सत्य में क्या सांझा है। परन्तु चमगीदड़ जिस तरह सूर्य में अंधकार और दिन में रात देखती है, उसी तरह मूर्ख पुण्य और पाप को भी अपने आत्मा में देखता है, और यही नास्तिकता है। और इसी के कारण वह जन्म-मरण के बन्धन में रहता है। किन्तु वह जो क्या मन क्या ख्याल, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, क्या देह, क्या प्राण और क्या पाप, वरन् सब में अलग, उन का साक्षी या प्रकाश अपने आप को देखता है, सत्यता और सच्चाई पाता है, और इसी सत्यता पर कैवल्य मुक्ति मिलती है, और वह साम्राज्य जो प्रजापति का है और कर्मकांड से मिलता है, इस सच्चे को मुफ्त मिल जाता है। इसी कारण यह प्रसाद में प्रविष्ट है।

(४३) इसका हेतु यह है कि वह इस साक्षात्कार के कारण उस भूल और अज्ञान को दूर करता है जो संसार का मूल है या प्रलय की माता है। जैसा कि एक वृक्ष की जड़ उखाड़ दी जाय, तो यद्यपि कुछ दिन वह हरा रहता है, अंत में अपने आप शुष्क हो जाता है। इसी तरह ज्ञानीजन उस भूलको जो अज्ञान से है, ज्ञान से उड़ाते हैं, और वह चक्र जो कर्मकांड में दिखाया गया है, वास्तव में भ्रम से ह्य

पाप और क्या पुण्य ख्याल और मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो पवित्र, असंग, नित्य मुक्त है। अतः ऐ भाइयो! हम भी पापियों के समान हैं, पर वास्तव में निष्पाप हैं। सत्कर्मियों की तरह दिखाई देते हैं, पर सत्कर्मी नहीं।

(४२) क्या मन, क्या ख्याल, क्या पाप, क्या पुण्य, सब अंधकारमय हैं, और आत्मा एक ज्योति है जो उन में चमकती है। किन्तु स्पष्ट है कि अंधकार का प्रकाश से क्या सम्बन्ध है, मिथ्या का सत्य में क्या सांझा है। परन्तु चमगादड़ जिस तरह सूर्य में अंधकार और दिन में रात देखती है, इसी तरह मूर्ख पुण्य और पाप को भी अपने आत्मा में देखता है, और यही नास्तिकता है। और इसी के कारण वह जन्म-मरण के बन्धन में रहता है। किन्तु वह जो क्या मन क्या ख्याल, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, क्या देह, क्या प्राण और क्या पाप, वरन् सब में अलग, उन का साक्षी या प्रकाश अपने आप को देखता है, सत्यता और सच्चाई पाता है, और इसी सत्यता पर कैवल्य मुक्ति मिलती है, और वह साम्राज्य जो प्रजापति का है और कर्मकांड से मिलता है, इस सच्चे को मुफ्त मिल जाता है। इसी कारण यह प्रसाद में प्रविष्ट है।

(४३) इसका हेतु यह है कि वह इस साक्षात्कार के कारण उस भूल और अज्ञान को दूर करता है जो संसार का मूल है या प्रलय की माता है। जैसा कि एक वृक्ष की जड़ उखाड़ दी जाय, तो यद्यपि कुछ दिन वह हरा रहता है, अंत में अपने आप शुष्क हो जाता है। इसी तरह ज्ञानीजन उस भूलको जो अज्ञान से है, ज्ञान से उड़ाते हैं, और वह चक्र जो कर्मकांड में दिखाया गया है, वास्तव में भ्रम से था

पारलौकिक सब समाप्त होते हैं।

(४५) यद्यपि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त और देवदत्त सब मनुष्य अपनी शारीरिक दृष्टि से और उन इन्द्रियों के समूहके ख्याल से कि जो कर्त्ता-भोक्ता हैं, अलग-अलग देह रखते हैं, किंतु इस ज्योति (प्रकाश) में सब एक हैं, और यही सब का आत्मा है। और यही नहीं कि केवल मनुष्यों के भीतर ही आत्मा अपना तेज वा प्रतिबिम्ब डालता है, वरन् पशु पक्षी, कीट-पतंग, सबके मनों के भीतर उसी तरह प्रकाशमान है जिस तरह कि मनुष्यों के भीतर चमकता है। इसी लिये यह आत्मा सब में एक है, और सभी आपस में एक हैं।

(४६) यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह ज्योति केवल पशु-पक्षी या मनुष्य के भीतर ही चमकती है, वरन् जिस तरह उनके भीतर चमकती है, उसी तरह देवताओं और पितरों के मनों में भी चमकती है, और उनके द्यौलोक के व्यापार का कारण होती है। और वे सब जो सुरलोक और पितरलोकमें हैं, अपने द्यौलोकके व्यापार और उनके फल भोग इसी प्रकाश में पूर्ण करते हैं। इस लिये क्या लौकिक, क्या पारलौकिक, क्या पार्थिव, क्या दिव्य, सब इस में एक हैं।

(४७) अधिक क्या लिखें, प्रजापति के मन में भी यही ज्योति उसी तरह चमकती है, उसी तरह उसके ज्ञानेंद्रियों और उसके सिंहासन को भी प्रकाशित करती है, जिस तरह मनुष्य के मन और मस्तिस्क और इन्द्रियों को प्रकाशित करती है। और जिस तरह मनुष्य के व्यापार इसी ज्योति के प्रकाश में पूर्ण होते हैं, उसी तरह ईश्वर के व्यापार भी इसी प्रदीप में परिपूर्ण होते हैं। और जो मनुष्य की ज्योति है,

पारलौकिक सब समाप्त होते हैं।

(४५) यद्यपि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त और देवदत्त सब मनुष्य अपनी शारीरिक दृष्टि से और उन इन्द्रियों के समूहके ख्याल से कि जो कर्त्ता-भोक्ता हैं, अलग-अलग देह रखते हैं, किंतु इस ज्योति (प्रकाश) में सब एक हैं, और यही सब का आत्मा है। और यही नहीं कि केवल मनुष्यों के भीतर ही आत्मा अपना तेज वा प्रतिबिम्ब डालता है,वरन् पशु पत्ती, कीट-पतंग, सबके मनों के भीतर उसी तरह प्रकाशमान है जिस तरह कि मनुष्यों के भीतर चमकता है। इसी लिये यह आत्मा सब में एक है, और सभी आपस में एक हैं।

(४६) यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह ज्योति केवल पशु-पत्ती या मनुष्य के भीतर ही चमकती है, वरन् जिस तरह उनके भीतर चमकती है, उसी तरह देवताओं और पितरों के मनों में भी चमकती है, और उनके द्यौलोक के व्यापार का कारण होती है। और वे सब जो सुरलोक और पितरलोकमें हैं,अपने द्यौलोकके व्यापार और उनके फल भोग इसी प्रकाश में पूर्ण करते हैं। इस लिये क्या लौकिक, क्या पारलौकिक, क्या पार्थिव, क्या दिव्य, सब इस में एक हैं।

(४७) अधिक क्या लिखें, प्रजापति के मन में भी यही ज्योति उसी तरह चमकती है, उसी तरह उसके ज्ञानेंद्रियों और उसके सिंहासन को भी प्रकाशित करती है, जिस तरह मनुष्य के मन और मस्तिस्क और इन्द्रियों को प्रकाशित करती है। और जिस तरह मनुष्य के व्यापार इसी ज्योति के प्रकाश में पूर्ण होते हैं, उसी तरह ईश्वर के व्यापार भी इसी प्रदीप में परिपूर्ण होते हैं। और जो मनुष्य की ज्योति है,

अहंकार भान करता है, देवदत्त का नहीं। यद्यपि ये निश्चय और ज्ञान एक ही आत्मज्योति में समाप्त होते हैं।

(५०) इसी तरह प्रजापति के ज्ञान और विचार (रहस्य) मनुष्य के ज्ञान और विचार नहीं हो जाते, यद्यपि वह भी इसी आत्मज्योति में समाप्त होते है; किंतु मनुष्य के ज्ञान प्रजापति के ज्ञान हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि प्रजापति का मन मनुष्यों के मनों से वरन् सब के मनों से वही सम्बन्ध रखता है जो उनका मन उनकी इन्द्रियों से रखता है। जिस तरह आँख का देखना, कान का देखना नहीं हो जाता, और कान का सुनना आँख का सुनना नहीं हो जाता, तो भी आँख का देखा और कान का सुना मन का देखा और सुना हो जाता है। इसी तरह ब्रह्मदत्त का जानना यज्ञदत्त का जानना नहीं हो जाता, और यज्ञदत्त का जानना ब्रह्मदत्त का जानना नहीं हो जाता, किंतु क्या यज्ञदत्त, क्या ब्रह्मदत्त, सब का जानना प्रजापति का जानना हो जाता है।

(५१) जिस तरह आँख का देखना, कान का सुनना और मन का उन्हें जान लेना एक ही ज्योति वा प्रकाश के द्वारा होता है, और वह प्रकाश उनसे शुद्ध पवित्र रहता है, इसी तरह ब्रह्मदत्त यज्ञदत्त और देवदत्त का जानना प्रजापति का जानना भी इसी ज्योति वा प्रकाश के द्वारा होता है, तो भी यह प्रकाश प्रजापति की समझ से शुद्ध पवित्र रहता है, वरन् उसका भी गवाह और साक्षी उसी तरह रहता है जिस तरह मनुष्यों की समझ का साक्षी और गवाह रहता है।

(५२) जिस तरह आँख का देखना और कान का सुनना और उनकी देखी सुनी समझों को मन का जान लेना, सब का अध्यारोप इसी प्रकाश में होता है, उसी तरह प्रजापति के ज्ञान और समझों का भी अध्यारोप इस में

अहंकार भान करता है, देवदत्त का नहीं। यद्यपि ये निश्चय और ज्ञान एक ही आत्मज्योति में समाप्त होते हैं।

(५०) इसी तरह प्रजापति के ज्ञान और विचार (रहस्य) मनुष्य के ज्ञान और विचार नहीं हो जाते, यद्यपि वह भी इसी आत्मज्योति में समाप्त होते है; किंतु मनुष्य के ज्ञान प्रजापति के ज्ञान हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि प्रजापति का मन मनुष्यों के मनों से वरन् सब के मनों से वही सम्बन्ध रखता है जो उनका मन उनकी इन्द्रियों से रखता है। जिस तरह आँख का देखना, कान का देखना नहीं हो जाता, और कान का सुनना आँख का सुनना नहीं हो जाता, तो भी आँख का देखा और कान का सुना मन का देखा और सुना हो जाता है। इसी तरह ब्रह्मदत्त का जानना यज्ञदत्त का जानना नहीं हो जाता, और यज्ञदत्त का जानना ब्रह्मदत्त का जानना नहीं हो जाता, किंतु क्या यज्ञदत्त, क्या ब्रह्मदत्त, सब का जानना प्रजापति का जानना हो जाता है।

(५१) जिस तरह आँख का देखना, कान का सुनना और मन का उन्हें जान लेना एक ही ज्योति वा प्रकाश के द्वारा होता है, और वह प्रकाश उनसे शुद्ध पवित्र रहता है, इसी तरह ब्रह्मदत्त यज्ञदत्त और देवदत्त का जानना प्रजापति का जानना भी इसी ज्योति वा प्रकाश के द्वारा होता है, तो भी यह प्रकाश प्रजापति की समझ से शुद्ध पवित्र रहता है, वरन् उसका भी गवाह और साक्षी उसी तरह रहता है जिस तरह मनुष्यों की समझ का साक्षी और गवाह रहता है।

(५२) जिस तरह आँख का देखना और कान का सुनना और उनकी देखी सुनी समझों को मन का जान लेना, सब का अध्यारोप इसी प्रकाश में होता है, उसी तरह प्रजापति के ज्ञान और समझों का भी अध्यारोप इस में

तीनों गुणों को संक्षिप्त अवस्थामें देवी माया कहते हैं और सर्व-साधारण में इसी परदे वा माया को ईश्वरीय-विधान बोलते हैं, और इसी माया के अध्यारोप से वह ईश्वर शक्तिमान (मायावी) कहलाता है ।

(५५) जब कर्म। हरएक के कर्म हरएक को भोग देने में तैयार होते हैं, तो इस माया के परदे में क्रिया होती है। और इन परदों (भेदों) की छाँट होती है। सतोगुण की जब पूरी छाँट होती है, तो उसी को हम विद्या बोलते हैं, किंतु-दूषित सतोगुण को अविद्या कहा करते है। इसलिये कि सतोगुण में वह निहित ज्योति प्रतिबिम्ब रूप से प्रकट होती है, उस प्रकाश की दृष्टि से जो विद्या में पड़ता है और विद्या में उसके कारण जो अभिमान होता है, उसीको ईश्वर कहा करते हैं। और जो प्रकाश अविद्या में पड़ता है और उसके कारण अविद्यामें अभिमान होता है, उसे जीव बोला करते हैं।

(५६) इसलिये कि विद्या वास्तव में पूर्ण ज्ञान है, और उस अज्ञान से,जो उसे ढाँप लेता है बिलकुल शुद्ध स्वच्छ होती है, इस आत्मज्योति की पहचान है। इसलिये वह ईश्वर नित्य मुक्त है और सर्वज्ञ भी है। जो कुछ चाहता है, कर सकता है,क्योंकि वह ज्ञान का मालिक वा स्वामी है।

(५७) किंतु अविद्या वास्तव में दूषित ज्ञान है. क्योंकि तमोगुण से पूरी-पूरी साफ़ नहीं होती, इसलिये वह इस आत्म ज्योति की पहचान नहीं रखती । इसी लिये मनुष्य अविद्या के बंधन में बंधायमान हुआ उलटा-पुल्टा ध्यान रखता है जो ठीक नहीं है, और वह सर्वज्ञ नहीं होता, वरन् उतना ही कर सकता है जो कि उसके कर्म उसके भोग देने के लिये तैयार होते हैं। इसलिये अशक्त और अज्ञान के बंधन में फँसा हुआ सा होता है।

तीनों गुणों को संक्षिप्त अवस्थामें दैवी माया कहते हैं और सर्व-साधारण में इसी परदे वा माया को ईश्वरीय-विधान बोलते हैं, और इसी माया के अध्यारोप से वह ईश्वर शक्तिमान (मायावी) कहलाता है।

(५५) जब कभी हरयक के कर्म हरयक को भोग देने में तैयार होते हैं, तो इस माया के परदे में क्रिया होती है। और इन परदों (भेदों) की छाँट होती है। सतोगुण की जब पूरी छाँट होती है, तो उसी को हम विद्या बोलते हैं, किंतु दूषित सतोगुण को अविद्या कहा करते है। इसलिये कि सतोगुण में वह निहित ज्योति प्रतिबिम्ब रूप से प्रकट होती है, उस प्रकाश की दृष्टि से जो विद्या में पड़ता है और विद्या में उसके कारण जो अभिमान होता है, उसीको ईश्वर कहा करते हैं। और जो प्रकाश अविद्या में पड़ता है और उसके कारण अविद्यामें अभिमान होता है, उसे जीव बोला करते हैं।

(५६) इसलिये कि विद्या वास्तव में पूर्ण ज्ञान है, और उस अज्ञान से,जो उसे ढाँप लेता है बिलकुल शुद्ध स्वच्छ होती है, इस आत्मज्योति की पहचान है। इसलिये वह ईश्वर नित्य मुक्त है और सर्वज्ञ भी है। जो कुछ चाहता है, कर सकता है,क्योंकि वह ज्ञान का मालिक वा स्वामी है।

(५७) किंतु अविद्या वास्तव में दूषित ज्ञान है, क्योंकि तमोगुण से पूरी-पूरी साफ़ नहीं होती, इसलिये वह इस आत्म ज्योति की पहचान नहीं रखती। इसी लिये मनुष्य अविद्या के बंधन में बंधायमान हुआ उल्टा-पुल्टा ध्यान रखता है जो ठीक नहीं है, और वह सर्वज्ञ नहीं होता, वरन् उतना ही कर सकता है जो कि उसके कर्म उसके भोग देने के लिये तैयार होते हैं। इसलिये अशक्त और अज्ञान के बंधन में फँसा हुआ सा होता है।

(६१) तात्पर्य यह कि पवित्र ज्योति स्वरूप आत्मा हर तरह सब से अलग सब रूप है और असंग है, ख्याल या मन के समान हुआ ध्यान करता-सा और लीला करता सा होता है किंतु वास्तव में न तो वह ध्यान करता है और न लीला करता है। जब निद्रा की दशा में मन या ख्याल बदलता है, तो सोता सा, जब वह जागृति की दशा में बदलता है, तो जागता सा हो जाता है।

(६२) जब यह मन (अंतः करण) देह से बिलकुल संबंध छोड़ जाता है, तब वह मरता-सा दिखाई देता है। जब वह दूसरे देह में संबंध पाता है, तो वही जन्मता-सा प्रतीत होता है। वास्तव में न तो वह मरता है न जन्मता है, सब इसी ख्याल के भेद हैं, और इसी में व्यापार करते हैं। और सब कल्पित या मनोमय हैं। और उन्हीं कर्मों के भोग के लिये यह (अंतः-करण) प्राणों की तार से बँधा हुआ हृदय कमल में बंदी है, जो पहले जन्म में उसके पांवों की जंजीर होते हैं।

(६२) जब कि कर्मों की जंजीर से प्राणों के तार के कारण वह ख्याल या मन हृदय कमल में बँधा हुआ है और उस ज्योति का प्रदर्शक है, उसकी दृष्टि से आत्म-ज्योति भी हृदय में बंदी-सी प्रतीत होती है, यद्यपि वह मुक्त है। यही पहचान वास्तव में भेद की पहचान है। और उस के पाने का स्थान या अवसर यही हृदय या मन है।

चौथा अध्याय।

(१) हमने जो कुछ ऊपर के अध्यायों में लिखा है, कुछ कपोल-कल्पना नहीं वरन् ऋषि-मुनियों के तर्क-वितर्क (वाद) में युक्तियों के साथ सिद्ध हुआ है। क्योंकि स्वयंज्योति

(६१) तात्पर्य यह कि पवित्र ज्योति स्वरूप आत्मा हर तरह सब से अलग सब रूप है और असंग है, ख्याल वा मन के समान हुआ ध्यान करता-सा और लीला करता सा होता है किंतु वास्तव में न तो वह ध्यान करता है और न लीला करता है। जब निद्रा की दशा में मन वा ख्याल बदलता है, तो सोता सा, जब वह जागृति की दशा में बदलता है, तो जागता सा हो जाता है।

(६२) जब यह मन (अंतः करण) देह से बिलकुल संबंध छोड़ जाता है, तब वह मरता-सा दिखाई देता है। जब वह दूसरे देह में संबंध पाता है, तो वही जन्मता-सा प्रतीत होता है। वास्तव में न तो वह मरता है न जन्मता है, सब इसी ख्याल के भेद हैं, और इसी में व्यापार करते हैं। और सब कल्पित या मनोमय हैं। और उन्हीं कर्मों के भोग के लिये यह (अंतः-करण) प्राणों की तार से बँधा हुआ हृदय कमल में बंदी है, जो पहले जन्म में उसके पांवों की जंजीर होते हैं।

(६२) जब कि कर्मों की जंजीर से प्राणों के तार के कारण वह ख्याल या मन हृदय कमलमें बँधा हुआ है और उस ज्योति का प्रदर्शक है, उसकी दृष्टि से आत्म-ज्योति भी हृदय में बंदी-सी प्रतीत होती है, यद्यपि वह मुक्त है। यही पहचान वास्तवमें भेद की पहचान है। और उस के पाने का स्थान या अवसर यही हृदय या मन है।

चौथा अध्याय।

(१) हमने जो कुछ ऊपर के अध्यायों में लिखा है, कुछ कपोल-कल्पना नहीं वरन् ऋषि-मुनियों के तर्क-वितर्क (वाद) में युक्तियों के साथ सिद्ध हुआ है। क्योंकि स्वयंज्योति

है। देखो, जहाँ कहीं ऐसी अँधेरी रात हो कि जिस में हाथ पसारा भी दिखाई न दे तो जहाँ शब्द सुनता है, वहाँ ही चला जाता है। कहा, ठीक है।

(५) फिर राजा ने पूछा, जहाँ सूर्य भी अस्त हो, चंद्रमा भी अस्त हो, दीपक भी न हो, और वाणी भी न सुनता हो, वहाँ उस की ज्योति क्या होती है? और यह स्पष्ट है कि जब यह स्वप्न में होता है, तो वाणी भी नहीं सुनता। कहा, ऐ राजा! वहाँ उस की आत्मा ज्योति होती है, क्योंकि वह इस आत्म-प्रकाश में उठता, बाज़ार जाता, व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह आत्मा उस से और उस के व्यापार से अलग असंग रहता है, और यह स्पष्ट है कि स्वप्न में भी मनुष्य उसी तरह व्यापार करता है, जैसा जागृति में करता है।

(६) ऐ राजा! सूर्य, चन्द्र, दीपक, वाणी, इस की बाह्य ज्योति हैं, और यह आत्मा उस की आंतरिक ज्योति है। जिस तरह बाह्य व्यापार बाह्य ज्योतियों से वह करता है, उसी तरह आंतरिक व्यापार वह अन्तर-ज्योति में करता है, बरन् बाह्य व्यापार भी बिना इस अन्तर-ज्योति के नहीं होते। बाह्य ज्योतियाँ तो उस की केवल सहायक हैं। और जिस तरह बाह्य ज्योतियाँ मनुष्य से अलग हैं और उस के व्यापार से कुछ सम्बन्ध नहीं रखतीं, उसी तरह यह आत्म-ज्योति भी मनुष्य से पृथक है और उस के व्यापार से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती।

(७) राजा ने पूछा, महाराज! यह आत्मा कौन-सा है? मुनिजी ने कहा, यह जो ज्ञान-ज्योति ख्याल और इंद्रियों में दिल के भीतर चमकती है, वही अंतर्ज्योति पुरुष है, और यह हृदय में उस तरह केंद्रित है, जिस तरह

है। देखो, जहाँ कहीं ऐसी अँधेरी रात हो कि जिस में हाथ पसारा भी दिखाई न दे तो जहाँ शब्द सुनता है, वहाँ ही चला जाता है। कहा, ठीक है।

(५) फिर राजा ने पूछा, जहाँ सूर्य भी अस्त हो, चंद्रमा भी अस्त हो, दीपक भी न हो, और वाणी भी न सुनता हो, वहाँ उस की ज्योति क्या होती है? और यह स्पष्ट है कि जब यह स्वप्न में होता है, तो वाणी भी नहीं सुनता। कहा, ऐ राजा! वहाँ उस की आत्मा ज्योति होती है, क्योंकि वह इस आत्म-प्रकाश में उठता, बाज़ार जाता, व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह आत्मा उस से और उस के व्यापार से अलग असंग रहता है, और यह स्पष्ट है कि स्वप्न में भी मनुष्य उसी तरह व्यापार करता है, जैसा जागृति में करता है।

(६) ऐ राजा! सूर्य, चन्द्र, दीपक, वाणी, उस की बाह्य ज्योति हैं, और यह आत्मा उस की आंतरिक ज्योति है। जिस तरह बाह्य व्यापार बाह्य ज्योतियों से वह करता है, उसी तरह आंतरिक व्यापार वह अन्तर-ज्योति में करता है, बरन् बाह्य व्यापार भी बिना इस अन्तर-ज्योति के नहीं होते। बाह्य ज्योतियाँ तो उस की केवल सहायक हैं। और जिस तरह बाह्य ज्योतियाँ मनुष्य से अलग हैं और उस के व्यापार से कुछ सम्बन्ध नहीं रखतीं, उसी तरह यह आत्म-ज्योति भी मनुष्य से पृथक है और उस के व्यापार से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती।

(७) राजा ने पूछा, महाराज! यह आत्मा कौन-सा है? मुनिजी ने कहा, यह जो ज्ञान-ज्योति ख्याल और इंद्रियों में दिल के भीतर चमकती है, वही अंतर्ज्योति पुरुष है, और यह हृदय में उस तरह केंद्रित है, जिस तरह

बदलता है, तो भान होता कि मैं जागता हूँ। जब यही मन निद्रा की दशा में बदलता है, तो भ्रांति सवार होती है कि मैं सोता हूँ। इस तरह ज्योतिपुरुष मनके समान हुआ जागता सोता-सा होता है। वास्तवमें न वह जागता है, न सोता है, वरन् योंही मनके कारण ये अवस्थायें उसमें कल्पित होती हैं।

(११) ऐ राजा! यह मन पंचभूतों के सतोगुण अंशो से बनाया गया है और अपने कर्मों के भोग के लिये हृदय कमल में क़ैदी हो रहा है। जब जागृति के भोग देने के लिये कर्म तैयार होते हैं,तो वह जाग्रत्की दशामें बदल जाता है;जब स्वप्न के भोग देने को कर्म तैयार होते हैं, तो निद्रा की दशा में बदल जाता है। जब तक वह कर्म समाप्त नहीं होते, इस शरीर से वह संबंध रखता है। यह आत्मज्योति यद्यपि वास्तवमें कर्मोंके बंधन और शारीरिक संबंध से पवित्र है, तो भी यह उनके बंधन में और उनके भोग इसमें निश्चित होते हैं।

(१२) जब ये कर्म समाप्त होते हैं और दूसरे कर्म भोग देने के लिये तैयार होते हैं, तो यह मन इस शरीर से संबंध छोड़ देता है और नूतन शरीर से जो इन दूसरे कर्मों ने बनाया है, संबंध पा जाता है। इसतरह यह ज्योति पुरुष मनके समान हुआ दोनों लोक में सैर करता है, वास्तव में सैर करने वाला नहीं होता।

(१३) ऐ राजा! अब तू यों समझ कि मनुष्य क्या बाहिर से, क्या भीतर से, जो शरीर और मन और इन्द्रिय हैं, सब कर्मों के बने हुए हैं, और ये कर्म वास्तव में पाप हैं, इस कारण वह भी जो उनसे बनाए गए हैं, पाप रूप हैं। और

बदलता है, तो भान होता कि मैं जागता हूँ। जब यही मन निद्रा की दशा में बदलता है, तो भ्रांति सवार होती है कि मैं सोता हूँ। इस तरह ज्योतिपुरुष मनके समान हुआ जागता सोता-सा होता है। वास्तवमें न वह जागता है, न सोता है, वरन् योंही मनके कारण ये अवस्थायें उसमें कल्पित होती हैं।

(११) ऐ राजा! यह मन पंचभूतों के सतोगुण अंशो से बनाया गया है और अपने कर्मों के भोग के लिये हृदय कमल में क़ैदी हो रहा है। जब जागृति के भोग देने के लिये कर्म तैयार होते हैं,तो वह जाग्रत्की दशामें बदल जाता है;जब स्वप्न के भोग देने को कर्म तैयार होते हैं, तो निद्रा की दशा में बदल जाता है। जब तक वह कर्म समाप्त नहीं होते, इस शरीर से वह संबंध रखता है। यह आत्मज्योति यद्यपि वास्तवमें कर्मोंके बंधन और शारीरिक संबंध से पवित्र है, तो भी यह उनके बंधन में और उनके भोग इसमें निश्चित होते हैं।

(१२) जब ये कर्म समाप्त होते हैं और दूसरे कर्म भोग देने के लिये तैयार होते हैं, तो यह मन इस शरीर से संबंध छोड़ देता है और नूतन शरीर से जो इन दूसरे कर्मों ने बनाया है, संबंध पा जाता है। इसतरह यह ज्योति पुरुष मनके समान हुआ दोनों लोक में सैर करता है, वास्तव में सैर करने वाला नहीं होता।

(१३) ऐ राजा! अब तू यों समझ कि मनुष्य क्या बाहिर से, क्या भीतर से, जो शरीर और मन और इन्द्रिय हैं, सब कर्मों के बने हुए हैं, और ये कर्म वास्तव में पाप हैं, इस कारण वह भी जो उससे बनाए गए हैं, पाप रूप हैं। और

शारीरिक-लाभ के लिये तदबीरें करता है, और इसी कारण क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी संसार में अन्य के पापों से अपराधी होकर राजा से समान दण्ड पाते हैं, किन्तु अज्ञानी तो परलोक में भी अपनी करतूतों का बदला पाता है, क्योंकि उसका अहंकार तो दूसरे जन्म में फिर उठता है और पहली करनी का बदला पाता है, परन्तु ज्ञानी के प्राण तो यहाँ ही लय हो जाते हैं और अहंकार भी लय होता है, फिर नहीं उठता। इसी कारण उसके अपराध क्षमा होते हैं और अज्ञानी क्षमा नहीं होता।

(३९) संसार के राजा भी जो मूर्ख हैं और इस भेद को नहीं जानते, वह संसार में प्रत्यक्ष पापों के कारण ज्ञानी और अज्ञानी को समान दण्ड देते हैं। किन्तु वह राजे जो इस भेद को जानते हैं और यह भी जानते हैं कि ज्ञानी से सिवा भूल या प्रमाद और कर्मों के भोग के कारण के ऐसा काम नहीं हो सकता, हलका दण्ड देते हैं, अज्ञानी के बराबर नहीं, जिस से वह प्रमाद में न रहे और संसार का प्रबन्ध खराब न हो जाय। अतएव, मनुस्मृति में तत्त्वविद् ब्राह्मणों का दण्ड देहाध्यासी शूद्रों की अपेक्षा स्वल्प निर्धारित हुआ है।

(४०) क्या भाषाविद् नहीं जान सकता कि जो बुद्धिमान् भूल से पाप करता है, उस को धिक्कारना उतना ही पर्याप्त है जितना कि उस अज्ञानी को फाँसी देना, जो जान कर पाप करता है। वरन् ज्ञानी के अपराध में तो उसे "वाह! धन्य है आप की बुद्धि" का वचन पर्याप्त (काफी) है कि जिस पर सचेत होता उससे बचता है, मूर्खों को तो बार-बार कैद में देते हैं, फिर भी चोरियाँ करते हैं।

(४१) वर्तमान राज्य-विधान के द्वारा जो एक समान दण्ड

शारीरिक-लाभ के लिये-तदबीरें करता है, और इसी कारण क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी संसार में अन्य के पापों से अपराधी होकर राजा से समान दण्ड पाते हैं, किन्तु अज्ञानी तो परलोक में भी अपनी करतूतों का बदला पाता है, क्योंकि उसका अहंकार तो दूसरे जन्म में फिर उठता है और पहली करनी का बदला पाता है, परन्तु ज्ञानी के प्राण तो यहाँ ही लय हो जाते हैं और अहंकार भी लय होता है, फिर नहीं उठता। इसी कारण उसके अपराध क्षमा होते हैं और अज्ञानी क्षमा नहीं होता।

(३६) संसार के राजा भी जो मूर्ख हैं और इस भेद को नहीं जानते, वह संसार में प्रत्यक्ष पापों के कारण ज्ञानी और अज्ञानी को समान दण्ड देते हैं। किन्तु वह राजे जो इस भेद को जानते हैं और यह भी जानते हैं कि ज्ञानी से सिवा भूल या प्रमाद और कर्मों के भोग के कारण के ऐसा काम नहीं हो सकता, हलका दण्ड देते हैं, अज्ञानी के बराबर नहीं, जिस से वह प्रमाद में न रहे और संसार का प्रबन्ध खराब न हो जाय। अतएव, मनुस्मृति में तत्त्वविद् ब्राह्मणों का दण्ड देहाध्यासी शूद्रों की अपेक्षा स्वल्प निर्धारित हुआ है।

(४०) क्या भाषाविद् नहीं जान सकता कि जो बुद्धिमान् भूल से पाप करता है, उस को धिक्कारना उतना ही पर्याप्त है जितना कि उस अज्ञानी को फाँसी देना, जो जान कर पाप करता है। वरन् ज्ञानी के अपराध में तो उसे "वाह! धन्य है आप की बुद्धि" का वचन पर्याप्त (काफी) है कि जिस पर सचेत होता उससे बचता है, मूर्खों को तो बार-बार कैद में देते हैं, फिर भी चोरियाँ करते हैं।

(४१) वर्तमान राज्य-विधान के द्वारा जो एक समान दण्ड

की तरह फिर भी स्वेच्छाचारी नहीं होता; और भोगों के समाप्त होने पर ढकेल दिया जाता है।

(४३) ज्ञानी तो वास्तव में घर का स्वामी पूर्ण स्वाधीन है, ईश्वर का भी आत्मा है। क्योंकि जब मृत्यु में उस की एक-एक मनोवृत्तियाँ और प्राण उसके आत्मा में लीन, शोषित या विलीन होते हैं, तो ईश्वर की समस्त मायावृत्तियाँ और प्राण उसके बदले उसी तरह उसमें आ प्रविष्ट होते हैं जैसा कि एक स्थान की वायु की विलीनता में बाहर की वायु बदले में मुफ्त आ जाती है। और उन मायावृत्तियों और प्राण वृत्तियों का महल (अधिष्ठान) हुआ यह ज्ञानी उसी तरह विम्ब होता है जैसा कि जीवन में अपनी एक-एक मनोवृत्तियों और प्राणवृत्तियों की दृष्टि से विम्ब था।

(४४) फिर चूँकि (यतः) प्रति विम्ब और अन्तःकरण का पारस्परिक सम्बन्ध सहोत्पत्ति का वर्णन कर चुके हैं, अब मायावृत्तियाँ और प्राणवृत्तियाँ और ईश्वर की इस में भरती हैं, तो उसी का प्रति बिंब मायावृत्तियों और प्राण-वृत्तियों में प्रकट हुआ वास्तव में ईश्वर है। और ईश्वर के संल्कप उसी के संकल्प कल्पित हो जाते हैं, और ईश्वर का अहंकार उसी का अहंकार हो जाता है। और जिस तरह यहाँ जीवन में उसके व्यष्टि अहंकार, बुद्धि, संकल्प, शक्तियाँ और अङ्ग काम करते हैं, उसी तरह उस के समष्टि अहंकार, ईश्वरीय विचार या बुद्धि, अनादि संकल्प और ईश्वरीय शक्तियां उस में वर्ताव करती हैं। और वह अपने स्वरूप में नित्य मुक्त, असंग-आत्मा रहता है; स्रष्टा, विधाता, हर्ता-कर्त्ता होता है; और पूर्ण स्वाधीन हो जाता है।

(४५) इस ज्ञानी की उपमा जीवन मुक्ति और विदेह-मुक्ति में यों है, जैसा कि एक राजपुत्र बड़ा बुद्धिमान् पहले

की तरह फिर भी स्वेच्छाचारी नहीं होता; और भोगों के समाप्त होने पर ढकेल दिया जाता है।

(४३) ज्ञानी तो वास्तव में घर का स्वामी पूर्ण स्वाधीन है, ईश्वर का भी आत्मा है। क्योंकि जब मृत्यु में उस की एक-एक मनोवृत्तियाँ और प्राण उसके आत्मा में लीन, शोषित या विलीन होते हैं, तो ईश्वर की समस्त मायावृत्तियाँ और प्राण उसके बदले उसी तरह उसमें आ प्रविष्ट होते हैं जैसा कि एक स्थान की वायु की विलीनता में बाहर की वायु बदले में सुफ्त आ जाती है। और उन मायावृत्तियों और प्राण वृत्तियों का महल (अधिष्ठान) हुआ यह ज्ञानी उसी तरह विम्ब होता है जैसा कि जीवन में अपनी एक-एक मनोवृत्तियों और प्राणवृत्तियों की दृष्टि से विम्ब था।

(४४) फिर चूँकि (यतः) प्रति विम्ब और अन्तःकरण का पारस्परिक सम्बन्ध सहोत्पति का वर्णन कर चुके हैं, जब मायावृत्तियाँ और प्राणवृत्तियाँ और ईश्वर की इस में भरती हैं, तो उसी का प्रति बिंब मायावृत्तियों और प्राण-वृत्तियों में प्रकट हुआ वास्तव में ईश्वर है। और ईश्वर के संल्कप उसी के संकल्प कल्पित हो जाते हैं, और ईश्वर का अहंकार उसी का अहंकार हो जाता है। और जिस तरह यहाँ जीवन में उसके व्यष्टि अहंकार, बुद्धि, संकल्प, शक्तियाँ और अङ्ग काम करते हैं, उसी तरह उस के समष्टि अहंकार, ईश्वरीय विचार या बुद्धि, अनादि संकल्प और ईश्वरीय शक्तियां उस में वर्ताव करती हैं। और वह अपने स्वरूप में नित्य मुक्त, असंग-आत्मा रहता है; स्रष्टा, विधाता, हर्ता-कर्त्ता होता है; और पूर्ण स्वाधीन हो जाता है।

(४५) इस ज्ञानी की उपमा जीवन मुक्ति और विदेह-मुक्ति में यों है, जैसा कि एक राजपुत्र बड़ा बुद्धिमान् पहले

कौंसिल में निर्णय हो जाता है, कि यह देखने के योग्य है, यह देखना उचित नहीं; या यह सुनना है, यह नहीं सुनना तो फिर यह भी प्रकृति के अधीन उसी तरह बर्ताव करते हैं; और आत्मा, द्यौलोक का राजकुमार, उनको अपने आराम में देखता रहता है। उसी की दृष्टि में यह सब बर्ताव करते हैं।

(४८) जब ये समस्त (अङ्ग) व्यापार में थकावट पा जाते हैं और थके से हो जाते हैं, तो ज्ञानेंद्रिय उपराम (बेकार) होते अपने-अपने गोलक में, जैसे आँख आँख में, नाक नाक में, कान कान में और उसी तरह प्राण में लय हो जाते हैं, जिस तरह सूर्य के अस्त में सूर्य की किरणें लय होजाती हैं, या अग्नि की ज्वालाएं पानी के कारण अग्नि में लय हो जाती हैं।

(४९) यह प्राण एक बड़ा मंसबदार और इस छोटे-से राज्य का रक्षक है, उन्हें भोजन पहुँचाता और वेतन बाँटता है, क्या जाग्रत् क्या निद्रा सब दशाओं में मृत्यु पर्यंत उनकी नियत आजीविका और वेतन हर समय पहुँचाता रहता है, और दिन-रात नाक-मुँह और रोमकूप के द्वारा श्वास लेता रहता है। किंतु जब यह कर्मेंद्रिय बेकार होते हैं, तो कौंसिल के मेम्बर पूर्ववत् काम करते हैं और उक्त विचित्र दृश्यों और अनुभवों को स्मरण शक्ति के कार्यालय से अहंकार मंत्री के आगे उपस्थित करते हैं, वरन् धरती और आकाश तथा जो कुछ उसमें है, सब का सब दिखाते हैं। यही स्वप्नराज्य है। किंतु जब कौंसिल के मेम्बर भी थकान पाते हैं, तो सब के सब उस हृदय कमल के आवरण में उसी तरह बेकार (निष्क्रिया) और लीन हो जाते हैं जैसे कि कर्म और ज्ञानेंद्रिय। और यह राजकुमार अपने

कौंसिल में निर्णय हो जाता है, कि यह देखने के योग्य है, यह देखना उचित नहीं; या यह सुनना है, यह नहीं सुनना तो फिर यह भी प्रकृति के अधीन उसी तरह बर्ताव करते हैं; और आत्मा, द्यौलोक का राजकुमार, उनको अपने आराम में देखता रहता है। उसी की दृष्टि में यह सब बर्ताव करते हैं।

(४८) जब ये समस्त (अङ्ग) व्यापार में थकावट पा जाते हैं और थके से हो जाते हैं, तो ज्ञानेंद्रिय उपराम (बेकार) होते अपने-अपने गोलक में, जैसे आँख आँख में, नाक नाक में, कान कान में और उसी तरह प्राण में लय हो जाते हैं, जिस तरह सूर्य के अस्त में सूर्य की किरणें लय होजाती हैं, या अग्नि की ज्वालाएं पानी के कारण अग्नि में लय हो जाती हैं।

(४९) यह प्राण एक बड़ा मंसबदार और इस छोटे-से राज्य का रक्षक है, उन्हें भोजन पहुँचाता और वेतन बाँटता है, क्या जाग्रत् क्या निद्रा सब दशाओं में मृत्यु पर्यंत उनकी नियत आजीविका और वेतन हर समय पहुँचाता रहता है, और दिन-रात नाक-मुँह और रोमकूप के द्वारा श्वास लेता रहता है। किंतु जब यह कर्मेंद्रिय बेकार होते हैं, तो कौंसिल के मेम्बर पूर्ववत् काम करते हैं और उक्त विचित्र दृश्यों और अनुभवों को स्मरण शक्ति के कार्यालय से अहंकार मंत्री के आगे उपस्थित करते हैं, बरन धरती और आकाश तथा जो कुछ उसमें है, सब का सब दिखाते हैं। यही स्वप्नराज्य है। किंतु जब कौंसिल के मेम्बर भी थकान पाते हैं, तो सब के सब उस हृदय कमल के आवरण में उसी तरह बेकार (निष्क्रिय) और लीन हो जाते हैं जैसे कि कर्म और ज्ञानेंद्रिय। और यह राजकुमार अपने

का त्यों खास आराम में, जो परमानंद है, रहता है, और उनका साक्षी रहता है।

(४२) अहंकार में जब भाग्य के अनुसार और पुरुषार्थ के अनुकूल हो जाने से भोग मिलते हैं, तो उसके साथ एक आनंद की वृत्ति उदय होती है, और राजकुमार (आत्मा) के खास आराम से प्रतिबिंब की भाँति उसमें आनंद भबकता है। इसलिये अहंकार भी आनंदी हो जाता है। लेकिन जब भोग नहीं मिलते तो चिंता के कारण यह वृत्ति स्थिर नहीं रहती, बरन् उस शीशे के सदृश, जो गति करता हो, चंचल और चिंतित रहती है। इसलिये वह आनंद (अंश-आत्मा) उसमें प्रतिबिंबित नहीं होता। इसी कारण अहंकार व्याकुलता और दुख में दुखी हो जाता है। किंतु जब भोग मिलते हैं, तो अहंकार नहीं जानता कि यह भीतर से मेरे मालिक आत्मा के विशेषानंद का रस आता है, बल्कि वह उसी भोग में आनंद पाता भोग की ओर दौड़ता है; और बुद्धि उसे झिड़कती या धमकाती है कि यह आनंद इस भोग का नहीं, भीतरी आत्मा का है, क्योंकि भोगों में यदि आनंद होता, तो वैराग्यवान् या हृदय के रोगी को भी उनसे आनंद मिलता। इस तरह की लान तान (झिड़क धमकी) से अहंकार भी जानकारी पाता फिर भोगों की ओर कम रुचि करता है, बरन् बुद्धि-रूपी मंत्री के संकेत पर अंतरात्मा में लगता है। तो यह बुद्धि उसे देह के अभिमान से पलटकर तत्काल आत्माभिमान में लगा देती है। और यह तब होता है जब कारोबार (व्यापार) से छुट्टी पाकर एकांत में ध्यान करता है। फिर तो आत्म-अहंकार में देह का अभिमान भी उसके विशेषानंद में सम्मिलित और तद्रूप होता साक्षात्कार में हो जाता है। और यह उसका परमानंद है।

का त्यों खास आराम में, जो परमानंद है, रहता है, और उनका साक्षी रहता है।

(५२) अहंकार में जब भाग्य के अनुसार और पुरुषार्थ के अनुकूल हो जाने से भोग मिलते हैं, तो उसके साथ एक आनंद की वृत्ति उदय होती है, और राजकुमार (आत्मा) के खास आराम से प्रतिबिंब की भाँति उसमें आनंद भवकता है। इसलिये अहंकार भी आनंदी हो जाता है। लेकिन जब भोग नहीं मिलते तो चिंता के कारण यह वृत्ति स्थिर नहीं रहती, बरन् उस शीशे के सदृश, जो गति करता हो, चंचल और चिंतित रहती है। इसलिये वह आनंद (अंश-आत्मा) उसमें प्रतिबिंबित नहीं होता। इसी कारण अहंकार व्याकुलता और दुख में दुखी हो जाता है। किंतु जब भोग मिलते हैं, तो अहंकार नहीं जानता कि यह भीतर से मेरे मालिक आत्मा के विशेषानंद का रस आता है, बल्कि वह उसी भोग में आनंद पाता भोग की ओर दौड़ता है; और बुद्धि उसे झिड़कती या धमकाती है कि यह आनंद इस भोग का नहीं, भीतरी आत्मा का है, क्योंकि भोगों में यदि आनंद होता, तो वैराग्यवान् या हृदय के रोगी को भी उनसे आनंद मिलता। इस तरह की लान तान (झिड़क धमकी) से अहंकार भी जानकारी पाता फिर भोगों की ओर कम रुचि करता है, बरन् बुद्धि-रूपी मंत्री के संकेत पर अंतरात्मा में लगता है। तो यह बुद्धि उसे देह के अभिमान से पलट-कर तत्काल आत्माभिमान में लगा देती है। और यह तब होता है जब कारोबार (व्यापार) से छुट्टी पाकर एकांत में ध्यान करता है। फिर तो आत्म-अहंकार में देह का अभिमान भी उसके विशेषानंद में सम्मिलित और तद्रूप होता साक्षात्कार में हो जाता है। और यह उसका परमानंद है।

सर्व-रूप देखता, सब भोगों को पाता है। क्योंकि फिर तो ईश्वर के अहंकार के भोग उसी के भोग कल्पित होते हैं, और ईश्वर के सत्य काम और सत्य संकल्प में प्रकाश पाया हुआ यही सत्य काम और सत्य संकल्प होता है, और पूर्ण बुद्धिमता में गौरव पाया हुआ संसार का प्रबंध कर्त्ता, सृष्टि का स्रष्टा, और प्राणियों का भोजनदाता होता है। तात्पर्य यह कि पूर्ण स्वतंत्र या स्वच्छन्द स्वरूप होता है।

(५५) यद्यपि जीवनमुक्ति में उसके सैन्य जन (इन्द्रिय इत्यादि) भोग पाने में परतंत्र हैं। यहाँ तो उसके कर्म भी उसके व्यष्टि अहंकार के साथ दूर हो जाते हैं, और वह मुक्ति पाया हुआ ईश्वर के संकल्पों में सत्य काम हुआ जो चाहता है, पाता है। वरन् जो ज़मीन पर उसके खयाल में भी नहीं आते थे, तैयार हैं, जिनका उल्लेख अभी ही ब्रह्म के वादे में आवेगा। इस तरह ऐसा ज्ञानी स्वर्गीय साम्राज्य को मुफ्त और उत्तराधिकार में पा जाता है, मज़दूरी और सेवा से नहीं पाता। अतः ऐ भाइयो! हम भी इसी तरह इस संक्षिप्त राजधानी में राज करके परमानंद में खावकाश और विश्राम संपन्न हैं, और इस शव शरीर को शव की भाँति घसीटते फिरते हैं, और उसी अनादि ईश्वरीय (ब्रह्म के) वादे की प्रतीक्षा में हैं। जब समय आएगा, तो देखो, मुफ्त में उत्तराधिकार की तरह उसे पा जायँगे। अब हम वैदिक श्रुतियों से उस वादे और विज्ञापन का अनुवाद करते हैं जो इस विषय में ब्रह्मा जी ने अनादि में दिया है, जिससे हमारे शिष्यों को विश्वास हो, यही न समझें कि हम अपनी कपोल कल्पना से घमंड और गुमान में हैं।

सर्व-रूप देखता, सब भोगों को पाता है। क्योंकि फिर तो ईश्वर के अहंकार के भोग उसी के भोग कल्पित होते हैं, और ईश्वर के सत्य काम और सत्य संकल्प में प्रकाश पाया हुआ यही सत्य काम और सत्य संकल्प होता है, और पूर्ण बुद्धिमता में गौरव पाया हुआ संसार का प्रबंध कर्त्ता, सृष्टि का स्रष्टा, और प्राणियों का भोजनदाता होता है। तात्पर्य यह कि पूर्ण स्वतंत्र वा स्वच्छन्द स्वरूप होता है।

(५५) यद्यपि जीवनमुक्ति में उसके सैन्य जन (इन्द्रिय इत्यादि) भोग पाने में परतंत्र हैं। यहाँ तो उसके कर्म भी उसके व्यष्टि अहंकार के साथ दूर हो जाते हैं, और वह मुक्ति पाया हुआ ईश्वर के संकल्पों में सत्य काम हुआ जो चाहता है, पाता है। वरन् जो ज़मीन पर उसके ख़याल में भी नहीं आते थे, तैयार हैं, जिनका उल्लेख अभी ही ब्रह्मा के वादे में आवेगा। इस तरह ऐसा ज्ञानी स्वर्गीय साम्राज्य को मुफ़्त और उत्तराधिकार में पा जाता है, मज़दूरी और सेवा से नहीं पाता। अतः ऐ भाइयो! हम भी इसी तरह इस संक्षिप्त राजधानी में राज करके परमानंद में सावकाश और विश्राम संपन्न हैं, और इस शव शरीर को शव की भाँति घसीटते फिरते हैं, और उसी अनादि ईश्वरीय (ब्रह्माके) वादे की प्रतीक्षा में हैं। जब समय आएगा, तो देखो, मुफ़्त में उत्तराधिकार की तरह उसे पा जायँगे। अब हम वैदिक श्रुतियों से उस वादे और विज्ञापन का अनुवाद करते हैं जो इस विषय में ब्रह्मा जी ने अनादि में दिया है, जिससे हमारे शिष्यों को विश्वास हो, यही न समझें कि हम अपनी कपोल कल्पना से घमंड और गुमान में हैं।

है, वास्तव में ब्रह्मका-सिंहासन है। उसके भीतर जो अपने आत्म-ब्रह्म की खोज करता है और उसे जानता है, वह प्रसाद में बुलाया जाता है, यही न्याय है। उसकी करतूतें उसके अङ्गों में रह जाती हैं, उसपर लागू नहीं होतीं, क्योंकि वह तो विवेक से अपने आप को उस सिंहासन में सम्मिलित करता एक हो जाता है, और ब्रह्म न्याय की दृष्टि से पुण्य-पाप से रहित है, क्योंकि वह असंग-आत्मा है।

(३) यदि कोई ख़याल करे कि इस ब्रह्मपुरी में छोटा-सा बँगला ब्रह्म का और उसमें छोटा सा आकाश ब्रह्म का सिंहासन है, क्या उस (आकाश) में कुछ है, जो ब्रह्म कहलाता है? तो उसे समझना चाहिए कि ऐ भाइयो! जितना यह बाहर का आकाश है उतना ही यह हृदयाकाश है, छोटा नहीं, वरन् हृदय के भीतर आ जाने से छोटा-सा दिखाई देता है। जैसा कि महाकाश में एक कुंभ (मटका) धर दें, तो आकाश कोई दोटूक होकर बाहर-भीतर पृथक नहीं हो जाता, वरन् कुंभ के भीतर आया हुआ छोटा-सा कुंभ का पोलापन और बाहर का आकाश महान् आकाश भासमान होता है। इसी तरह यह आकाश हृदय के भीतर आया हुआ हृदय-कमल की आकृति के अनुसार छोटा-सा दिखाई देता है। वास्तव में समूच्चय का समूच्चय महान् आकाश उसके भीतर है, कोई टुकड़े नहीं होगया।

(४) बल्कि यों समझो कि क्या देवलोक और क्या भूलोक दोनों इसी हृदयाकाश के भीतर एकत्रित हैं, और क्या अग्नि और क्या वायु, दोनों यहाँ बसते हैं, और समस्त भूत और समस्त भावनाएँ इसके भीतर विद्यमान हैं। जिस तरह समस्त स्वप्न-संसार सोते हुये के हृदयाकाश

है, वास्तव में ब्रह्मका-सिंहासन है। उसके भीतर जो अपने आत्म-ब्रह्म की खोज करता है और उसे जानता है, वह प्रसाद में बुलाया जाता है, यही न्याय है। उसकी करतूतें उसके अङ्गों में रह जाती हैं, उसपर लागू नहीं होतीं, क्योंकि वह तो विवेक से अपने आप को उस सिंहासन में सम्मिलित करता एक हो जाता है, और ब्रह्म न्याय की दृष्टि से पुण्य-पाप से रहित है, क्योंकि वह असंग-आत्मा है।

(३) यदि कोई ख़याल करे कि इस ब्रह्मपुरी में छोटा-सा बँगला ब्रह्म का और उसमें छोटा सा आकाश ब्रह्म का सिंहासन है, क्या उस (आकाश) में कुछ है, जो ब्रह्म कहलाता है? तो उसे समझना चाहिए कि ऐ भाइयो! जितना यह बाहर का आकाश है उतना ही यह हृदयाकाश है, छोटा नहीं, वरन् हृदय के भीतर आ जाने से छोटा-सा दिखाई देता है। जैसा कि महाकाश में एक कुंभ (मटका) धर दें, तो आकाश कोई दोटूक होकर बाहर-भीतर पृथक नहीं हो जाता, वरन् कुंभ के भीतर आया हुआ छोटा-सा कुंभ का पोलापन और बाहर का आकाश महान् आकाश भासमान होता है। इसी तरह यह आकाश हृदय के भीतर आया हुआ हृदय-कमल की आकृति के अनुसार छोटा-सा दिखाई देता है। वास्तव में समूच्चय का समूच्चय महान् आकाश उसके भीतर है, कोई टुकड़े नहीं होगया।

(४) बल्कि यों समझो कि क्या देवलोक और क्या भूलोक दोनों इसी हृदयाकाश के भीतर एकत्रित हैं, और क्या अग्नि और क्या वायु, दोनों यहाँ बसते हैं, और समस्त भूत और समस्त भावनाएँ इसके भीतर विद्यमान हैं। जिस तरह समस्त स्वप्न-संसार सोते हुये के हृदयाकाश

बिना देवताओं की इच्छा और आज्ञा के नहीं पाते। इसलिये इनके हाथ में उसी तरह विवश होते हैं जिस तरह प्रजा राजपुरुषों के हाथ में विवश होती है।

(७) देखो, वह क्योंकर स्वाधीन होवें? वह तो यहाँ दासता और अधीनता का विश्वास रखते थे और देह को अपना आप जानते थे, और इस अपने आत्मा-ईश्वर को कहीं आकाशों पर पहचानते थे, यद्यपि शुभ कर्म करते थे। मज़दूरी का हक़ मज़दूर अवश्य पाता है, यही इसका न्याय है। इसलिये वह सोमलोक में संतुष्ट तो होते हैं, किंतु दास घर का मालिक नहीं हो जाता, अंततः सेवक ही होता है; और साथ ही दास अनंत समय तक घर पर नहीं रहता, आखिर ढकेल कर निकाल दिया जाता है। जब उनकी नेकियों (शुभकर्मों) के भोग भी परलोक में समाप्त हो जाते हैं, तो फिर वे मृत्युलोक में गिर जाते हैं।

(८) यहाँ भी जो कर्मों से देशों को विजय करते हैं, अंत में वह उन्हें छोड़ते हैं। इसी तरह वह भी जो कर्मों से केवल सोमलोक को पाते हैं, अंत में उससे गिर जाते हैं। यही दैवी-विधान है। क्योंकि जो बनाया जाता है, वह समय पर टूट जाता है। शुभकर्मों से बनाया गया जो सोमलोक है, वह भी अविनाशी नहीं, और यहाँ के चढ़ने वाले स्वाधीन और मुक्त भी नहीं होते।

(९) किंतु वह जो यहाँ अपने आत्मा को जानते हैं और इसी ब्रह्मपुर में जो हृदयाकाश है, पहचानते हैं, और निश्चय करते हैं कि "मैं ही ब्रह्म हूँ, और मैं ही सब का मालिक हूँ, और मैं ही सत्य संकल्प और सत्य काम हूँ; मेरे में न तो पाप-पुण्य स्पर्श पाता है और न उनका फल लगता है; क्या देवलोक, क्या भूलोक, क्या अग्नि, क्या वायु, क्या चन्द्र, क्या सूर्य

बिना देवताओं की इच्छा और आज्ञा के नहीं पाते। इसलिये उनके हाथ में उसी तरह विवश होते हैं जिस तरह प्रजा राजपुरुषों के हाथ में विवश होती है।

(७) देखो, वह क्योंकर स्वाधीन होवें? वह तो यहाँ दासता और अधीनता का विश्वास रखते थे और देह को अपना आप जानते थे, और इस अपने आत्मा-ईश्वर को कहीं आकाशों पर पहचानते थे, यद्यपि शुभ कर्म करते थे। मज़दूरी का हक़ मज़दूर अवश्य पाता है, यही इसका न्याय है। इसलिये वह सोमलोक में संतुष्ट तो होते हैं, किंतु दास घर का मालिक नहीं हो जाता, अंततः सेवक ही होता है; और साथ ही दास अनंत समय तक घर पर नहीं रहता, आखिर ढकेल कर निकाल दिया जाता है। जब उनकी नेकियाँ (शुभकर्मों) के भोग भी परलोक में समाप्त हो जाते हैं, तो फिर वे मृत्युलोक में गिर जाते हैं।

(८) यहाँ भी जो कर्मों से देशों को विजय करते हैं, अंत में वह उन्हें छोड़ते हैं। इसी तरह वह भी जो कर्मों से केवल सोमलोक को पाते हैं, अंत में उससे गिर जाते हैं। यही दैवी-विधान है। क्योंकि जो बनाया जाता है, वह समय पर टूट जाता है। शुभकर्मों से बनाया गया जो सोमलोक है, वह भी अविनाशी नहीं, और यहाँ के चढ़ने वाले स्वाधीन और मुक्त भी नहीं होते।

(९) किंतु वह जो यहाँ अपने आत्मा को जानते हैं और इसी ब्रह्मपुर में जो हृदयाकाश है, पहचानते हैं, और निश्चय करते हैं कि "मैं ही ब्रह्म हूँ, और मैं ही सब का मालिक हूँ, और मैं ही सत्य संकल्प और सत्य काम हूँ; मेरे में न तो पाप-पुण्य स्पर्श पाता है और न उनका फल लगता है; क्या देवलोक, क्या भूलोक, क्या अग्नि, क्या वायु, क्या चन्द्र, क्या सूर्य

उठती हैं, और उनमें भोग पाते गंध-लोक में कृत-कार्य हुए सम्मानित होते हैं।

(१६) जब वे खान-पान की वस्तुएँ माँगते हैं, तो संकल्प-मात्र से खान-पान की वस्तुएँ उठती हैं, और खान-पान लोक में कृत कार्य हुए सम्मानित और सनानंदित होते हैं।

(१७) जब वे राग-रंग और गीत बाजों के सुनने की इच्छा करते हैं, तो संकल्प मात्र से राग-रंग और गायक और वाद्य (बाजे इत्यादि) उठते हैं, और वे गंधर्व-लोक में सफल काम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं।

(१८) जब वे सुंदरी नारियों की इच्छा करते हैं, तो संकल्प मात्र से सुंदरी स्त्रियाँ उठती हैं, और इस तरह वह स्त्री लोक में पूर्ण काम हुए सम्मानित और मुदित होते हैं।

(१९) तात्पर्य यह कि मैं कहाँ तक एक-एक गिनाऊं, जिस-जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, केवल संकल्प से पा जाते हैं, और उन्हीं के लोकों से पूर्ण-काम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं। यह प्रसाद (फ़ज़ल) है। न्याय से निकल कर इस प्रसाद में आओ। देर न करो। फिर गया समय हाथ नहीं आता। और यह इसी ब्रह्मपुर में आत्मा की पहचान से होता है। आत्मा ही को ढूंढो, उसी की खोज करो। जो ढूँढता है, वह पाता है, जो खटखटाता है, उसी के लिये खोला जाता है। यही न्याय है, जो प्रसाद के विरुद्ध है।

(२०) अब भी यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प तुम्हारे आत्मा में केंद्रित हैं, लेकिन झूठे आवरण में छिपे हुए हैं। यद्यपि ये सब तुम्हारे हृदयाकाश में विद्यमान हैं, किंतु इस मिथ्या आवरण से छिपे हुए नहीं उठते हैं, वरन् जो-जो पुत्र,

उठती हैं, और उनमें भोग पाते गंध-लोक में कृत-कार्य हुए सम्मानित होते हैं।

(१६) जब वे खान-पान की वस्तुएँ माँगते हैं, तो संकल्प-मात्र से खान-पान की वस्तुएँ उठती हैं, और खान-पान लोक में कृत कार्य हुए सम्मानित और सनानंदित होते हैं।

(१७) जब वे राग-रंग और गीत बाजों के सुनने की इच्छा करते हैं, तो संकल्प मात्र से राग-रंग और गायक और वाद्य (बाजे इत्यादि) उठते हैं, और वे गंधर्व-लोक में सफल काम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं।

(१८) जब वे सुंदरी नारियों की इच्छा करते हैं, तो संकल्प मात्र से सुंदरी स्त्रियाँ उठती हैं, और इस तरह वह स्त्री लोक में पूर्ण काम हुए सम्मानित और मुदित होते हैं।

(१६) तात्पर्य यह कि मैं कहाँ तक एक-एक गिनाऊँ, जिस-जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, केवल संकल्प से पा जाते हैं, और उन्हीं के लोकों से पूर्ण-काम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं। यह प्रसाद (फ़ज़ल) है। न्याय से निकल कर इस प्रसाद में आओ। देर न करो। फिर गया समय हाथ नहीं आता। और यह इसी ब्रह्मपुर में आत्मा की पहचान से होता है। आत्मा ही को ढूंढो, उसी की खोज करो। जो ढूँढता है, वह पाता है, जो खटखटाता है, उसी के लिये खोला जाता है। यही न्याय है, जो प्रसाद के विरुद्ध है।

(२०) अब भी यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प तुम्हारे आत्मा में केंद्रित हैं, लेकिन झूठे आवरण में छिपे हुए हैं। यद्यपि वे सब तुम्हारे हृदयाकाश में विद्यमान हैं, किंतु इस मिथ्या आवरण से छिपे हुए नहीं उठते हैं, वरन् जो-जो पुत्र,

यही ब्रह्म है, उस समय अविद्या का मिथ्या आवरण पूरा-पूरा उठता है।

(२३) यह आत्मा वास्तव में एक चट्टान के अनुसार है जिसपर क्या लोक, क्या परलोक, क्या ऊर्ध्वगति, क्या अधोगति, सब के ख्याली और संकल्प-जन्य आकार इसी में अंकित और कल्पित हैं। इसी कारण उसे सबका सेतु और विधृति बोलते हैं, क्योंकि सबके रूप भ्रम-जन्य लकीरों के अनुसार इसी चट्टान या विधृति में खिंची हैं, और सबका विवेक और सबका अस्तित्व इसी के कारण से है। वह लकीरें जैसे चट्टान या तख्ती पर से मिटाई जाती हैं, मिट जाती हैं, किंतु निराकार चट्टान को न तो रात दिन काटते हैं, न बुढ़ापा, न मौत दूर कर सकते हैं, न कोई उसे शोक, न कोई नेकी, न कोई बदी असर करती है, वरन् सब पाप उससे दूर रह जाते हैं। यही निष्पाप है, यही ब्रह्मलोक है।

(२४) इसी कारण सुषुप्ति में इसी चट्टान में एक हुआ अंधा अंधा नहीं रहता और बंदी बंदी नहीं रहता, दुखिया दुखिया नहीं रहता, क्योंकि अंधापन और बंध और दुख तो देह के लक्षण हैं। जब वह सुषुप्ति में देह को किसी कारण छोड़ता इस चट्टान रूपी सेतु में एक होता है, क्योंकर अंधापन और बंदीपन और दुख को पावे? वह तो क्या अंधापन, क्या बंदीपन, क्या दुख, सब से स्वतन्त्र, नित्य मुक्त है।

(२५) फिर इस हेतु कि इसी विधृति को पाते रातें दिन हो जाती हैं, अँधेरा उजाला हो जाता है, यह नित्य प्रकाश है और यही ब्रह्मलोक है। जो कोई ब्रह्मचर्य से इसी उजाले में चलता है, ठोकर नहीं खाता, वरन् सीधा ब्रह्मलोक उन्हीं का है जो ब्रह्मचर्य करके अन्वयव्यतिरेक के

यही ब्रह्म है, उस समय अविद्या का मिथ्या आवरण पूरा-पूरा उठता है।

(२३) यह आत्मा वास्तव में एक चट्टान के अनुसार है जिसपर क्या लोक, क्या परलोक, क्या ऊर्ध्वगति, क्या अधोगति, सब के ख्याली और संकल्प-जन्य आकार इसी में अंकित और कल्पित हैं। इसी कारण उसे सबका सेतु और विधृति बोलते हैं, क्योंकि सबके रूप भ्रम-जन्य लकीरों के अनुसार इसी चट्टान या विधृति में खिंची हैं, और सबका विवेक और सबका अस्तित्व इसी के कारण से है। वह लकीरें जैसे चट्टान या तख्ती पर से मिटाई जाती हैं, मिट जाती हैं, किंतु निराकार चट्टान को न तो रात दिन काटते हैं, न बुढ़ापा, न मौत दूर कर सकते हैं, न कोई उसे शोक, न कोई नेकी, न कोई बदी असर करती है, वरन् सब पाप उससे दूर रह जाते हैं। यही निष्पाप है, यही ब्रह्मलोक है।

(२४) इसी कारण सुषुप्ति में इसी चट्टान में एक हुआ अंधा अंधा नहीं रहता और बंदी बंदी नहीं रहता, दुखिया दुखिया नहीं रहता, क्योंकि अंधापन और बंध और दुख तो देह के लक्षण हैं। जब वह सुषुप्ति में देह को किसी कारण छोड़ता इस चट्टान रूपी सेतु में एक होता है, क्योंकर अंधापन और बंदीपन और दुख को पावे? वह तो क्या अंधापन, क्या बंदीपन, क्या दुख, सब से स्वतन्त्र, नित्य मुक्त है।

(२५) फिर इस हेतु कि इसी विधृति को पाते रातें दिन हो जाती हैं, अँधेरा उजाला हो जाता है, यह नित्य प्रकाश है और यही ब्रह्मलोक है। जो कोई ब्रह्मचर्य से इसी उजाले में चलता है, ठोकर नहीं खाता, वरन् सीधा ब्रह्म-लोक उन्हीं का है जो ब्रह्मचर्य करके अन्वयव्यतिरेक के

और यह शव-समान शरीर छूट जाता है, तो फिर अपने ज्योति-स्वरूप में स्थित होता है। फिर नहीं उड़ता, तो भी माया-वृत्तियों के कारण यह सत्यकाम और सत्य संकल्प तो रोंगे-छोंगे में मुफ्त कल्पित मिल जाते हैं। वह नहीं चाहता, लेकिन पाता है। वह नहीं माँगता, मगर वही मालिक है, क्योंकि ये सब उसी की परछाईं या छाया हैं। मनुष्य कब प्रबंध करता है कि मेरा छाया मेरे साथ फिरे, किंतु जहां जाता है, छाया साथ होता है।

(२८) इसी तरह विदेह मुक्त भी नित्यमुक्त, त्रिगुणातीत, माया की ओर दृष्टि भी नहीं करता, तो भी माया बेचारी उसी की छाया कहाँ जाय? बिना उसके आश्रय नहीं देखती, उसीकी शरण उसी की आज्ञाकारिता में संसार से ले ब्रह्म-लोक तक वह उसमें कल्पित करती ब्रह्मलोक और सत्यकाम आदिक आरोपित करती है। इस तरह यह द्यौलोक का साम्राज्य ऐसे ज्ञानी को मुफ्त रोंगे-छोंगे में मिल जाता है, जो कर्मकांडियों को मजदूरी में भी नहीं मिलता। क्योंकि मज़दूर का हक़ मज़दूरी है। जितनी मज़दूरी करता है, उतनी पाता है, अंत में धकेल कर निकाल दिया जाता है। यह ज्ञानी तो घर का और बाग का स्वामी है, अनन्त काल तक घर में और अपनी महिमा में रहता है।

(२९) ऐ लोगों! वह जो आत्मा के इच्छुक हैं और घर-बार छोड़कर ब्रह्मचर्य्य करते हैं, और उस आत्मा को अपने हृदय में ढूँढ़ते हैं, और इस झूठ दरवाज़े को जिसमें यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प बंद किए गए हैं, खट खटाते हैं। यदि उनको पूर्ण गुरु जो उसकी शिक्षा दे सकता है मिल जाय, और नक़्द स्पष्ट कर दिखावे, तो मुक्ति तो उनका अपना निजी स्वभाव है, और ब्रह्मलोक तथा सत्यकाम-

और यह शव-समान शरीर छूट जाता है, तो फिर अपने ज्योति-स्वरूप में स्थित होता है। फिर नहीं उठता, तो भी माया-वृत्तियों के कारण यह सत्यकाम और सत्य संकल्प तो रोंगे-छोंगे में मुफ़्त कल्पित मिल जाते हैं। वह नहीं चाहता, लेकिन पाता है। वह नहीं माँगता, मगर वही मालिक है, क्योंकि ये सब उसी की परछाईं या छाया हैं। मनुष्य कब प्रबंध करता है कि मेरा छाया मेरे साथ फिरे, किंतु जहां जाता है, छाया साथ होता है।

(२८) इसी तरह विदेह मुक्त भी नित्यमुक्त, त्रिगुणातीत, माया की ओर दृष्टि भी नहीं करता, तो भी माया बेचारी उसी की छाया कहाँ जाय? बिना उसके आश्रय नहीं देखती, उसीकी शरण उसी की आज्ञाकारिता में संसार से ले ब्रह्म-लोक तक वह उसमें कल्पित करती ब्रह्मलोक और सत्यकाम आदिक आरोपित करती है। इस तरह यह द्यौलोक का साम्राज्य ऐसे ज्ञानी को मुफ़्त रोंगे-छोंगे में मिल जाता है, जो कर्मकांडियों को मज़दूरी में भी नहीं मिलता। क्योंकि मज़दूर का हक़ मज़दूरी है। जितनी मज़दूरी करता है, उतनी पाता है, अंत में धकेल कर निकाल दिया जाता है। यह ज्ञानी तो घर का और बाग का स्वामी है, अनन्त काल तक घर में और अपनी महिमा में रहता है।

(२९) ऐ लोगों! वह जो आत्मा के इच्छुक हैं और घर-बार छोड़कर ब्रह्मचर्य्य करते हैं, और उस आत्मा को अपने हृदय में ढूँढ़ते हैं, और इस झूठ दरवाज़े को जिसमें यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प बंद किए गए हैं, खट-खटाते हैं। यदि उनको पूर्ण गुरू जो उसकी शिक्षा दे सकता है मिल जाय, और नक़्द स्पष्ट कर दिखावे, तो मुक्ति तो उनका अपना निजी स्वभाव है, और ब्रह्मलोक तथा सत्यकाम-

स्कार के जिज्ञासु को ब्रह्मचर्य्य ही मौन है। क्योंकि आत्मा की पहचान करके ब्रह्मचर्य से ही फिर मनन करता है। इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही मौन है।

(३३) फिर कहते हैं कि अनाशकायन यज्ञ अच्छा है। दर्शनाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही अनाशकायन है। क्योंकि जिस यज्ञ से नाश न हो, वह अनाशकायन कहलाता है। ब्रह्मचर्य से वह अविनाशी आत्मा को जानता और पाता है, इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही 'अनाशकायन' है।

(३४) फिर कहते हैं कि अरण्यायन-यज्ञ उत्तम है। किंतु दर्शनाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही अरण्यायन है। क्योंकि 'अर' द्यौलोक की मदिरा का हौज़ और 'ण्य' सोम सुवन (अमृत का स्रोत) जो ब्रह्मलोक में है, इस यज्ञ के करने से मिलता है जो यहाँ देखा-सुना भी नहीं। पर साक्षात्कार के आकांक्षी को जब ब्रह्मचर्य से आत्मा का साक्षात्कार होता है, तो ब्रह्मलोक और उसके (परं) मदिरा के हौज़ और सोमसुवन (अमृत के सोते) रोंगे-छोंगे में आ जाते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य ही उसे अरण्यायन है।

(३५) 'अर' और 'ण्य', ये दोनों कुंड या स्रोत ब्रह्म-लोक में हैं। 'ऐरं' एक प्रकार का द्यौलोक का अन्न है जो यहाँ देखा-सुना नहीं। उसकी लकड़ी जो ईश्वरीय वा दिव्य मद देनेवाली है, उसे 'अर' मदिरा बोलते हैं, और वहाँ ही द्यौलोक का अर्थात् दिव्य अश्वत्थ का एक वृक्ष है जो यहाँ संसार में देखा सुना नहीं, उसे सोमसुवन बोलते हैं। उससे जो रस निकलता, स्रोत के रूप में बहता है। वही अमृत है, जिसे खाते देवता अमर होते हैं।

(३६) फिर क्योंकि इसी ब्रह्मलोक में जो यज्ञों और

त्कार के जिज्ञासु को ब्रह्मचर्य्य ही मौन है। क्योंकि आत्मा की पहचान करके ब्रह्मचर्य से ही फिर मनन करता है। इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही मौन है।

(३३) फिर कहते हैं कि अनाशकायन यज्ञ अच्छा है। दर्शनाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही अनाशकायन है। क्योंकि जिस यज्ञ से नाश न हो, वह अनाशकायन कहलाता है। ब्रह्मचर्य से वह अविनाशी आत्मा को जानता और पाता है, इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही 'अनाशकायन' है।

(३४) फिर कहते हैं कि अरण्यायन-यज्ञ उत्तम है। किंतु दर्शनाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही अरण्यायन है। क्योंकि 'अर' द्यौलोक की मदिरा का हौज़ और 'पय' सोम स्रुवन (अमृत का स्रोत) जो ब्रह्मलोक में है, इस यज्ञ के करने से मिलता है जो यहाँ देखा-सुना भी नहीं। पर साक्षात्कार के आकांक्षी को जब ब्रह्मचर्य से आत्मा का साक्षात्कार होता है, तो ब्रह्मलोक और उसके (परं) मदिरा के हौज़ और सोमस्रुवन (अमृत के सोते) रोंगे-छोंगे में आ जाते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य ही उसे अरण्यायन है।

(३५) 'अर' और 'पय', ये दोनों कुंड या स्रोत ब्रह्मलोक में हैं। 'ऐरं' एक प्रकार का द्यौलोक का अन्न है जो यहाँ देखा-सुना नहीं। उसकी लकड़ी जो ईश्वरीय वा दिव्य मद देनेवाली है, उसे 'अर' मदिरा बोलते हैं, और वहाँ ही द्यौलोक का अर्थात् दिव्य अश्वत्थ का एक वृक्ष है जो यहाँ संसार में देखा सुना नहीं, उसे सोमस्रुवन बोलते हैं। उससे जो रस निकलता, स्रोत के रूप में बहता है। वही अमृत है, जिसे खाते देवता अमर होते हैं।

(३६) फिर क्योंकि इसी ब्रह्मलोक में जो यहाँ और

उसकी किरणें सात रंगों की मिलावट से चित मदलाथी रूप होकर मनुष्य की नाड़ियों के भीतर भी फैली हुई हैं और उन्हें गरम करती और रंगीन बनाती हैं।

(३६) यह मत समझो कि जब सूर्य अस्त होता है, तो किरणें लय हो जाती हैं। निस्संदेह प्रत्यक्ष में किरणें सूर्य की लय हो जाती हैं, तो भी उसकी प्राण-शक्ति, जो संसार की जीवनी है, संसार में उसी तरह फैली रहती है, इसलिये हम जो यहाँ मनुष्य की नाड़ियों में सूर्य की किरणें प्रविष्ट हुई विज्ञापन में वर्णन करते हैं, वही किरणें प्राण-शक्ति की हैं जिससे मनुष्य जीवित रहता है। और जब प्राण-शक्ति की किरणें सूर्य में लय हो जाती हैं, तो यहाँ शरीर में भी प्राण-शक्ति बुझ जाती या लय हो जाती है, और शरीर मृतक हो जाता है, और चिकित्सक चिकित्सा से हाथ उठा लेता है। ऐसी उष्णता की किरणों से रात-दिन नाड़ियाँ गति करती, बाहर की वायु को अपने आहार के लिये खींचती हैं।

(४०) ये प्राण-शक्ति की किरणें जो सूर्य से नाड़ियों में हृदय तक और हृदय से रगों की राह सूर्य तक तार-तार तनी हुई हैं, उसी तरह तानी गई हैं जैसे एक बिजली का तार लाहौर से दिल्ली तक ताना जाता है, और उस बिजली के तार द्वारा आँख की झपक में खबर दी जाती है, और फिर रेल लोहे की पटरियों पर चलती है।

(४१) जब यह आत्मा का श्रद्धालु (निश्चय करनेवाला), जो ब्रह्मचर्य का पालन करता उसी में आचरण करता है और अंत तक उसी में वृद्ध होजाता है, और मृत्यु का समय आता है, तो पहले अपनी इन्द्रियों को दिल में एक करता है, और फिर दिल में उन छिद्रों से जो दिल के कान कहलाते हैं, दाहिने कान के द्वारा देवलोक में चलने को तत्पर होता है,

उसकी किरणें सात रंगों की मिलावट से चित महताबी रूप होकर मनुष्य की नाड़ियों के भीतर भी फैली हुई हैं और उन्हें गरम करती और रंगीन बनाती हैं।

(३९) यह मत समझो कि जब सूर्य अस्त होता है, तो किरणें लय हो जाती हैं। निस्संदेह प्रत्यक्ष में किरणें सूर्य की लय हो जाती हैं, तो भी उसकी प्राण-शक्ति, जो संसार की जीवनी है, संसार में उसी तरह फैली रहती है, इसलिये हम जो यहाँ मनुष्य की नाड़ियों में सूर्य की किरणें प्रविष्ट हुई विज्ञापन में वर्णन करते हैं, यही किरणें प्राण-शक्ति की हैं जिससे मनुष्य जीवित रहता है। और जब प्राण-शक्ति की किरणें सूर्य में लय हो जाती हैं, तो यहाँ शरीर में भी प्राण-शक्ति बुझ जाती या लय हो जाती है, और शरीर मृतक हो जाता है, और चिकित्सक चिकित्सा से हाथ उठा लेता है। ऐसी उष्णता की किरणों से रात-दिन नाड़ियाँ गति करती, बाहर की वायु को अपने आहार के लिये खींचती हैं।

(४०) ये प्राण-शक्ति की किरणें जो सूर्य से नाड़ियों में हृदय तक और हृदय से रगों की राह सूर्य तक तार-तार तनी हुई हैं, उसी तरह तानी गई हैं जैसे एक बिजली का तार लाहौर से दिल्ली तक ताना जाता है, और उस बिजली के तार द्वारा आँख की झपक में खबर दी जाती है, और फिर रेल लोहे की पटरियों पर चलती है।

(४१) जब यह आत्मा का श्रद्धालु (निश्चय करनेवाला), जो ब्रह्मचर्य का पालन करता उसी में आचरण करता है और अंत तक उसी में वृद्ध होजाता है, और मृत्यु का समय आता है, तो पहले अपनी इन्द्रियों को दिल में एक करता है, और फिर दिल में उन छिद्रों से जो दिल के कान कहलाते हैं, दाहिने कान के द्वारा देवलोक में चलने को तत्पर होता है,

पर सवार होगया है, अब क्योंकर इस ब्रह्मपुरि में गति हो? क्योंकर आँखें खुलें? घर का मालिक तो रकाब पर पैर रक्खे हुए है, उसकी बला से घर को कोई कुछ करे, जलाओ चाहे तोप दो। और फिर यह ब्रह्मपुरि (अर्थात् देह) मल और विष्ठा का घर होजाता है, और सड़ान्द का खाद रह जाता है। यदि उसको अग्नि में न होम किया जाय, तो उसी प्राण-रूप रेल के चलने से, जो उसकी असली मूर्त्तियों का तत्त्व-रूप रस साथ ले जाती है, वह फूल जाता और गंदा बदबूदार हो जाता है।

(४४) वह जो उसकी सवारी का हाल जानते हैं, देर नहीं करते, उसे अग्नि में होम कर देते हैं और उसकी असली तरलता (रस) अग्नि में अग्नि और फिर दिन में दिन होती चली जाती है। यही एक लोहे की पटरी प्राण-रूप रेल की है जिसे संस्कृत में देवयान सड़क बोलते हैं, जिसका उल्लेख हम कर्मकांड में कर चुके हैं। और इसी तरह यह स्टेशन-स्टेशन करके सूर्य के स्टेशन में आ पहुँचता है। और फिर स्टेशन पर उससे भेंट करने के लिये देवता आते स्वागत-शुभागमन बोलते हैं, और अग्नि देवता उसके रेल के इंजिन में ड्राइवर होता सूर्य में ले जाता है। और सूर्य में ब्रह्मलोक से ब्रह्मदूत उसके स्वागत के लिये आता और ऊपर के लोकों को ले जाता है। इस तरह यह सूर्य आत्मा के श्रद्धालुओं (निश्चयात्माओं) का ऊपर जाने का पहला बड़ा स्टेशन है और मूर्खों को रोकने वाला है। बिना इस बुद्धि के यहाँ कोई नहीं जाता।

(४५) वरन् वह जो आत्मा की ईश्वरता पर संशयात्मा हैं और शुभकर्म भी करते हैं, उनको टेढ़ी रगों से, क्या आँख, क्या नाक, उत्क्रांति होती है, और अग्नि से उनका

पर सवार होगया है, अब क्योंकर इस ब्रह्मपुरि में गति हो? क्योंकर आँखें खुलें? घर का मालिक तो रकाब पर पैर रक्खे हुए है, उसकी बला से घर को कोई कुछ करे, जलाओ चाहे तोप दो। और फिर यह ब्रह्मपुरि (अर्थात् देह) मल और विष्टा का घर होजाता है, और सड़ान्द का खाद रह जाता है। यदि उसको अग्नि में न होम किया जाय, तो उसी प्राण-रूप रेल के चलने से, जो उसकी असली मूर्तियों का तत्त्व-रूप रस साथ ले जाती है, वह फूल जाता और गंदा बदबूदार हो जाता है।

(४४) वह जो उसकी सवारी का हाल जानते हैं, देर नहीं करते, उसे अग्नि में होम कर देते हैं और उसकी असली तरलता (रस) अग्नि में अग्नि और फिर दिन में दिन होती चली जाती है। यही एक लोहे की पटरी प्राण-रूप रेल की है जिसे संस्कृत में देवयान सड़क बोलते हैं, जिसका उल्लेख हम कर्मकांड में कर चुके हैं। और इसी तरह यह स्टेशन-स्टेशन करके सूर्य के स्टेशन में जा पहुँचता है। और फिर स्टेशन पर उससे भेंट करने के लिये देवता आते स्वागत-शुभागमन बोलते हैं, और अग्नि देवता उसके रेल के इंजिन में ड्राइवर होता सूर्य में ले जाता है। और सूर्य में ब्रह्मलोक से ब्रह्मदूत उसके स्वागत के लिये आता और ऊपर के लोकों को ले जाता है। इस तरह यह सूर्य आत्मा के श्रद्धालुओं (निश्चयात्माओं) का ऊपर जाने का पहला बड़ा स्टेशन है और भूखों को रोकने वाला है। बिना इस बुद्धि के यहाँ कोई नहीं जाता।

(४५) वरन् वह जो आत्मा की ईश्वरता पर संशयात्मा हैं और शुभकर्म भी करते हैं, उनको टेढ़ी रगों से, क्या आंख, क्या नाक, उत्क्रांति होती है, और अग्नि ले उनका

का मंत्र भी देते हैं। लिखा है कि हृदय कमल में एक सौ एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक नाड़ी है जो मस्तिष्क की खोपड़ी (कपाल) में जा लगी है। उससे उत्क्रांत होता अमृत होता है। दूसरी नाड़ियां टेढ़ी दूसरे छिद्रों में हैं। वह दूसरे लोकों के जाने में उत्क्रांति के मार्ग हैं। किंतु ज़बर्दस्त लोग स्वयं नहीं जाते और न उन के प्राण उत्क्रांत होते हैं। उनके प्राण तो आत्मः में जाते हैं और बाहर के प्राण वहीं भर जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा ने आरंभ में सर्व-साधारण में विज्ञापन करके विज्ञापित कर दिया और लोक परलोक अथवा स्वप्न-जागृत में इसी विज्ञापन का ढिंढोरा पिटवा दिया जिसमें किसी को इस प्रसाद (फ़ज़ल) और प्रतिज्ञा से बेखबरी का बहाना न रहे, और ऐसा ही होगया।

(४६) † जब यह विज्ञापन सब में विज्ञापित होगया और घोषणा करने वाले इस बड़े वादे की घोषणा करते थे और सबको न्याय (कर्मकांड मार्ग) से निकालकर प्रसाद (ज्ञानकांड) की ओर बुलाते थे, तो परलोक वा देवलोक (इन्द्रलोक) में एक कोलाहल मचगया। देवता सुरलोक में और असुर राक्षस लोक में सुनते संकल्प करते थे कि चलो हम इस प्रसाद में प्रवृष्ट हों, हम इस प्रसाद में प्रवेश करें। अंत में देवताओं ने मिलकर अपने राजा देवराज इंद्र के पास सभा की और इधर असुरों ने अपने राजा असुर-राज विरोचन के पास सभा की।

(५०) देवताओं ने कहा कि यदि हम प्रसाद में प्रविष्ट हों, तो हमारी जय है, और असुरों ने कहा कि यदि हम इस प्रसाद में प्रविष्ट हों तो, हमारी विजय है। किंतु इधर

---

† यहाँ तक छांदोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक के छः खंड समाप्त होगए, अब सातवां खंड आरंभ हुआ।

का मंत्र भी देते हैं। लिखा है कि हृदय कमल में एक सौ एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक नाड़ी है जो मस्तिष्क की खोपड़ी (कपाल) में जा लगी है। उससे उत्क्रांत होता अमृत होता है। दूसरी नाड़ियां टेढ़ी दूसरे छिद्रों में हैं। वह दूसरे लोकों के जाने में उत्क्रांति के मार्ग हैं। किंतु ज़बर्दस्त लोग स्वयं नहीं जाते और न उन के प्राण उत्क्रांत होते हैं। उनके प्राण तो आत्मा में जाते हैं और बाहर के प्राण वहीं भर जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा ने आरंभ में सर्व-साधारण में विज्ञापन करके विज्ञापित कर दिया और लोक परलोक अथवा स्वप्न-जागृत में इसी विज्ञापन का ढिंढोरा पिटवा दिया जिसमें किसी को इस प्रसाद (फज़ल) और प्रतिज्ञा से बेखबरी का बहाना न रहे, और ऐसा ही होगया।

(४६) † जब यह विज्ञापन सब में विज्ञापित होगया और घोषणा करने वाले इस बड़े वादे की घोषणा करते थे और सबको न्याय (कर्मकांड मार्ग) से निकालकर प्रसाद (ज्ञानकांड) की ओर बुलाते थे, तो परलोक वा देवलोक (इन्द्रलोक) में एक कोलाहल मचगया। देवता सुरलोक में और असुर राक्षस लोक में सुनते संकल्प करते थे कि चलो हम इस प्रसाद में प्रवृष्ट हों, हम इस प्रसाद में प्रवेश करें। अंत में देवताओं ने मिलकर अपने राजा देवराज इंद्र के पास सभा की और इधर असुरों ने अपने राजा असुर-राज विरोचन के पास सभा की।

(५०) देवताओं ने कहा कि यदि हम प्रसाद में प्रविष्ट हों, तो हमारी जय है, और असुरों ने कहा कि यदि हम इस प्रसाद में प्रविष्ट हों तो, हमारी विजय है। किंतु इधर

† यहाँ तक छांदोग्योपनिषद के आठवें प्रपाठक के छः खंड समाप्त होगए, अब सातवां खंड आरंभ हुआ।

से सब मनोरथ मुफ्त मिलते हैं और सब लोकों में कामाचार और पूर्ण स्वतंत्र हो जाते हैं, उसी को पूछने और पहचानने के लिये हम आए हैं। कृपा करके हमको वह आत्मा दिखा दो।

(५४) जब ब्रह्मा ने कहा कि मेरी आँख में देखो, जो यहाँ इस समय आँख में बैठा है, वही आत्मा है और यही अमृत है, यही ऐश्वर्यवान् है, यही ब्रह्म है। उन्होंने जो आँख की ओर दृष्टि की, तो एक पुतली पाई जिसके कारण मनुष्य का प्रतिबिंब नेत्र में दिखाई देता है और जिसे आँख की पुतली बोलते हैं।

(५५) प्रजापति का तात्पर्य तो यह था कि जो जाग्रत् के समय आँख में बैठ कर देखता है, वह आत्मा है। क्योंकि देखनेवाला केवल आत्मा है, जो दिखाई देता है वह आत्मा नहीं हुआ करता। किंतु उन्हों ने यह तात्पर्य तो नहीं पाया, उसकी आँख में दृष्टि की, तो आँख की पुतली के दर्पण में अपने शरीर के प्रतिबिंब को देखा और शरीर को ही आत्मा समझ लिया। यह नहीं खयाल किया कि जो हृदय-कमल के भीतर हृदयाकाश के सिंहासन पर देखनेवाला कारण-कार्य से रहित (निरुपाधि) आत्मा है, वही नेत्र में प्रतिबिंब की भाँति आया सब को देख रहा है, अन्यथा आँख की क्या शक्ति है जो देखे। यदि आँख देखती होती, तो अंधा भी देखता, वरन् देखनेवाला जो शरीर में दीप्तमान है, वह आत्म-पुरुष है।

(५६) जब उन्होंने इस रहस्य को न समझा, वरन् इसके विरुद्ध अपने शरीर के प्रतिबिंबको जो आँख की पुतली में है, पाया, तो उन्हें ने पूछा—"भगवन्! क्या यह जो साफ़ पानियों में और साफ़ शीशे में दिखाई दिया करता है, आत्मा

से सब मनोरथ मुफ्त मिलते हैं और सब लोकों में कामा-चार और पूर्ण स्वतंत्र हो जाते हैं, उसी को पूछने और पहचानने के लिये हम आए हैं। कृपा करके हमको वह आत्मा दिखा दो।

(५४) जब ब्रह्मा ने कहा कि मेरी आँख में देखो, जो यहाँ इस समय आँख में बैठा है, वही आत्मा है और यही अमृत है, यही ऐश्वर्यवान् है, यही ब्रह्म है। उन्होंने जो आँख की ओर दृष्टि की, तो एक पुतली पाई जिसके कारण मनुष्य का प्रतिबिंब नेत्र में दिखाई देता है और जिसे आँख की पुतली बोलते हैं।

(५५) प्रजापति का तात्पर्य तो यह था कि जो जाग्रत् के समय आँख में बैठ कर देखता है, वह आत्मा है। क्योंकि देखनेवाला केवल आत्मा है, जो दिखाई देता है वह आत्मा नहीं हुआ करता। किंतु उन्हों ने यह तात्पर्य तो नहीं पाया, उसकी आँख में दृष्टि की, तो आँख की पुतली के दर्पण में अपने शरीर के प्रतिबिंब को देखा और शरीर को ही आत्मा समझ लिया। यह नहीं ख़याल किया कि जो हृदय-कमल के भीतर हृदयाकाश के सिंहासन पर देखनेवाला कारण-कार्य से रहित (निरुपाधि) आत्मा है, वही नेत्र में प्रतिबिंब की भाँति आया सब को देख रहा है, अन्यथा आँख की क्या शक्ति है जो देखे। यदि आँख देखती होती, तो अंधा भी देखता, बरन् देखनेवाला जो शरीर में दीप्तमान है, वह आत्म-पुरुष है।

(५६) जब उन्होंने इस रहस्य को न समझा, बरन् इसके विरुद्ध अपने शरीर के प्रतिबिंबको जो आँख की पुतली में है, पाया, तो उन्हें ने पूछा—"भगवन्! क्या यह जो साफ़ पानियों में और साफ़ शीशे में दिखाई दिया करता है, आत्मा

उन प्रतिबिंबों में घेरा करता दिखाई देता है, देखकर कहा कि हाँ यही आत्मा जो मैंने अपनी आँखों में देखनेवाला बतलाया है, इन सभों में एक होता देखता है, वही तुम देखो। किंतु उन्होंने उन्हीं लोगों की तरह जो दीवाल तो देखते हैं, उसके साथ दिन के प्रकाश को देखते हुए भी नहीं देखते, इस देखने वाले आत्मा को न देखा, वरन् यही निश्चय किया कि यही शरीर जिसकी परिछाईं आँख या निर्मल जलों या दर्पण में दिखाई देती है, आत्मा है, जो अमृत है। और इसी पर मुक्ति अवलंबित है, और इसी से वह सत्य-संकल्प होता है।

(६०) इस लिये ब्रह्मा ने जान लिया कि यद्यपि ३२ वर्ष उन्होंने मेरे पास ब्रह्मचर्य किया है, किंतु भोगी राजा हैं और बड़े-बड़े पापों की वासना उनके मनों में है जिसके कारण उनकी अंतर्दृष्टि मलिन हो रही है। इसी कारण वह आत्म-ज्योति को देखते हुए भी नहीं देखते और मेरी वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनते, और मेरे तात्पर्य को समझते हुए भी नहीं समझते। उन्हें अभी अधिक ब्रह्मचर्य करना चाहिए। किंतु यदि मैं इस प्रकार कहता हूँ कि तुम अयोग्य हो, मेरे तात्पर्य को नहीं समझते, तो राजा होने अथवा विद्या की अधिकता के अभिमान से अप्रसन्न होंगे। संभवतः इसी अप्रसन्नताके कारण इनका चित्त आत्माकी जिज्ञासा की ओर से हट जाय। इस लिये इन्हें ऐसे ढंग से कहना चाहिए कि अपने आप अपनी भूल को समझ लें और दुबारा ब्रह्मचर्य करें।

(६१) शोक! कि प्रथम तो भाषा जाननेवाले इसकी कामना नहीं करते, यदि करते हैं, तो साधुओं का वचन नहीं समझते। और शोक है कि साधु भी उन्हें अयोग्य और निर्बुद्धि कहते हैं। और वह अपने पाश्चात्य विद्या के घमंड

उन प्रतिबिंबों में घेरा करता दिखाई देता है, देखकर कहा कि हाँ यही आत्मा जो मैंने अपनी आँखों में देखनेवाला बतलाया है, इन सभों में एक होता देखता है, वही तुम देखो। किंतु उन्होंने उन्हीं लोगों की तरह जो दीवाल तो देखते हैं, उसके साथ दिन के प्रकाश को देखते हुए भी नहीं देखते, इस देखने वाले आत्मा को न देखा, वरन् यही निश्चय किया कि यही शरीर जिसकी परिछाईं आँख या निर्मल जलों या दर्पण में दिखाई देती है, आत्मा है, जो अमृत है। और इसी पर मुक्ति अवलंबित है, और इसी से वह सत्य-संकल्प होता है।

(६०) इस लिये ब्रह्मा ने जान लिया कि यद्यपि ३२ वर्ष उन्होंने मेरे पास ब्रह्मचर्य किया है, किंतु भोगी राजा हैं और बड़े-बड़े पापों की वासना उनके मनों में है जिसके कारण उनकी अंतर्दृष्टि मलिन हो रही है। इसी कारण यह आत्म-ज्योति को देखते हुए भी नहीं देखते और मेरी वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनते, और मेरे तात्पर्य को समझते हुए भी नहीं समझते। उन्हें अभी अधिक ब्रह्मचर्य करना चाहिए। किंतु यदि मैं इस प्रकार कहता हूँ कि तुम अबोध हो, मेरे तात्पर्य को नहीं समझते, तो राजा होने अथवा विद्या की अधिकता के अभिमान से अप्रसन्न होंगे। संभवतः इसी अप्रसन्नताके कारण इनका चित्त आत्माकी जिज्ञासा की ओर से हट जाय। इस लिये इन्हें ऐसे ढँग से कहना चाहिए कि अपने आप अपनी भूल को समझ लें और दुबारा ब्रह्मचर्य करें।

(६१) शोक! कि प्रथम तो भाषा जाननेवाले इसकी कामना नहीं करते, यदि करते हैं, तो साधुओं का वचन नहीं समझते। और शोक है कि साधु भी उन्हें अयोग्य और निर्बुद्धि कहते हैं। और वह अपने पाश्चात्य विद्या के घमंड

हुए नग्न थे, वैसे ही दिखाई दिये। इस लिये यह शरीर हमारा आत्मा है। यही अमृत है और यही सम्पन्न है। और यही ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्मा ने उनसे उपहास वा उपालम्भ की भांति कहा कि ऐ बुद्धि के अंधो! यदि यही आत्मा है, तो वह हर किसी को ज्ञात है, फिर क्यों उसकी जिज्ञासा के लिये ब्रह्मचर्य करते हो? सोचो कि यह आत्मा नहीं; किंतु उन्हों ने यह नहीं समझा, बरन् उल्टा ढाढ़स पाया समझ कर चले आए।

(६५) जब वह दूर निकल गए और आनंद के मारे फूले जाते थे, तो श्री ब्रह्माजी ने टेढ़ी दृष्टि से उन्हें देखकर कहा कि यह मुझे मिलते हुए भी नहीं मिलते जाते हैं और आत्माको नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। यही केवल गूढ़ अन्धकार वा अज्ञान में नहीं रहेंगे, बरन् जो मुझसे सुना है, उसी को अपनी जाति में भी सिखावेंगे। और यही स्वर्गीय वचन उनके लिये प्रतिज्ञापत्र होगा। आप तो खाद में हैं, दूसरों को भी खाद में गिरा देंगे। जैसा कि अंधा अंध को ले जाता है, तो खाद में दोनों गिरते हैं। इसी तरह दूसरे भी डबल अज्ञान में फँसेंगे, जिसकी फिर चिकित्सा कठिन है।

(६६) यह न मान लेना चाहिए कि सत्यवक्ता ब्रह्मा ने क्यों कह दिया कि यही जो उन्हों ने समझा है आत्मा है, और यही अमृत है और यही पूर्ण है। बरन् जैसा पिता मुहाविरे में अपने पुत्र को, जो शत्रुओं के पास जाता है और वह बार-बार मना करता है और नहीं मना होता है, तो उसे कहता है कि जा उन्हीं के घर भख मार, और फिर चुप हो जाता है, कुछ नहीं कहता। इसी तरह ब्रह्मा ने भी कह दिया कि यही आत्मा है, यही पूर्ण है, यही

हुए नग्न थे, वैसे ही दिखाई दिये। इस लिये यह शरीर हमारा आत्मा है। यही अमृत है और यही सम्पन्न है। और यही ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्मा ने उनसे उपहास वा उपालम्भ की भांति कहा कि ये बुद्धि के अंधो! यदि यही आत्मा है, तो वह हर किसी को ज्ञात है, फिर क्यों उसकी जिज्ञासा के लिये ब्रह्मचर्य करते हो? सोचो कि यह आत्मा नहीं; किंतु उन्हों ने यह नहीं समझा, वरन् उल्टा ढाढ़स पाया समझ कर चले आए।

(६५) जब वह दूर निकल गए और आनंद के मारे फूले जाते थे, तो श्री ब्रह्माजी ने टेढ़ी दृष्टि से उन्हें देखकर कहा कि यह मुझे मिलते हुए भी नहीं मिलते जाते हैं और आत्माको नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। यही केवल गूढ़ अन्धकार वा अज्ञान में नहीं रहेंगे, वरन् जो मुझसे सुना है, उसी को अपनी जाति में भी सिखावेंगे। और यही स्वर्गीय वचन उनके लिये प्रतिज्ञापत्र होगा। आप तो खाद में हैं, दूसरों को भी खाद में गिरा देंगे। जैसा कि अंधा अंध को ले जाता है, तो खाद में दोनों गिरते हैं। इसी तरह दूसरे भी डबल अज्ञान में फँसेंगे, जिसकी फिर चिकित्सा कठिन है।

(६६) यह न मान लेना चाहिए कि सत्यवक्ता ब्रह्मा ने क्यों कह दिया कि यही जो उन्हों ने समझा है आत्मा है, और यही अमृत है और यही पूर्ण है। वरन् जैसा पिता मुहल्ले में अपने पुत्र को, जो शत्रुओं के पास जाता है और वह बार-बार मना करता है और नहीं मना होता है, तो उसे कहता है कि जा उन्हीं के घर झख मार, और फिर चुप हो जाता है, कुछ नहीं कहता। इसी तरह ब्रह्मा ने भी कह दिया कि यही आत्मा है, यही पूर्ण है, यही

प्रकाश है, क्या वाह्य शरीर क्या अंतर मनुष्य सबसे नग्न है। यही आत्मा है।

(६६) किंतु उन्होंने न तो इस रोप को समझा और न इस विवेक को पाया, वरन् उल्टा शिशुवत् धैर्य पाते हुए घर को चले आए। तो ब्रह्मा जी ने समक्ष नहीं, वरन् पीछे कहा कि मुझे मिले भी नहीं मिले जाते हैं। आत्मा को नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। क्योंकि यदि सम्मुख ऐसा कहता, तो अहंकार के कारण दुखित होते और सामना करने को भी उठते, पीछे इसलिये आदेश किया कि जिस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा का विज्ञापन उन्होंने सुना है, मेरा यह वचन भी चलोचल उनके कान तक पहुँच जायगा और अपनी अज्ञानता का परिचय पाकर फिर ब्रह्मचर्य करेंगे और मेरा वचन समझेंगे।

(७०) हा शोक! जब कि देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन को भी पापों के कारण ब्रह्मलोक के वचन समझ में नहीं आते, तो बेचारा भाषा जानने वाला, जो दिन रात पापों में डूबा है किस प्रकार समझ पावे। कोई पूर्व जन्म का पुण्य यदि उठे, तो शास्त्रीय बंधन में रहे और कर्म उपासना करे, तब वचन का भेद पावे।

(७१) अंततः संक्षेप में यह कि दोनों देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन शिशुवत् धैर्य पाकर घर को लौट गए। उनमें असुरराज विरोचन तो महान् पापों से लिप्त था, इस धैर्य को पाता शीघ्र पग खुशी खुशी उठाता अपनी राजधानी में आ गया, और असुरों से मिल कर उन्हें इस ब्रह्मवचन की शिक्षा दी कि "यही देह अपना आप है, इसी को अच्छे साबुनों से साफ़ करना चाहिए, इसी की पालना करनी चाहिए और उत्तमोत्तम वस्त्र और भूषण पहनाने

प्रकाश है, क्या बाह्य शरीर क्या अंतर मनुष्य सबसे नग्न है। वही आत्मा है।

(६९) किंतु उन्होंने न तो इस रोष को समझा और न इस विवेक को पाया, वरन् उल्टा शिशुवत् धैर्य पाते हुए घर को चले आए। तो ब्रह्मा जी ने समक्ष नहीं, वरन् पीछे कहा कि मुझे मिले भी नहीं मिले जाते हैं। आत्मा को नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। क्योंकि यदि सम्मुख ऐसा कहता, तो अहंकार के कारण दुखित होते और सामना करने को भी उठते, पीछे इसलिये आदेश किया कि जिस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा का विज्ञापन उन्होंने सुना है, मेरा यह वचन भी चलोचल उनके कान तक पहुँच जायगा और अपनी अज्ञानता का परिचय पाकर फिर ब्रह्मचर्य करेंगे और मेरा वचन समझेंगे।

(७०) हा शोक! जब कि देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन को भी पापों के कारण ब्रह्मलोक के वचन समझ में नहीं आते, तो बेचारा भाषा जानने वाला, जो दिन रात पापों में डूबा है किस प्रकार समझ पावे। कोई पूर्व जन्म का पुण्य यदि उठे, तो शास्त्रीय बंधन में रहे और कर्म उपासना करे, तब वचन का भेद पावे।

(७१) अंततः संक्षेप में यह कि दोनों देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन शिशुवत् धैर्य पाकर घर को लौट गए। उनमें असुरराज विरोचन तो महान् पापों से लिप्त था, इस धैर्य को पाता शीघ्र पग खुशी खुशी उठाता अपनी राजधानी में आ गया, और असुरों से मिल कर उन्हें इस ब्रह्मवचन की शिक्षा दी कि "यही देह अपना आप है, इसी को अच्छे साबुनों से साफ़ करना चाहिए, इसी की पालना करनी चाहिए और उत्तमोत्तम वस्त्र और भूषण पहनाने

इसके लंगड़े होने से यह भी लँगड़ा हो जाता है। बल्कि नाश होने से यह भी नाश हो जाता है। मैं तो इस में कुछ भी भोग नहीं देखता।

(८१) तब ब्रह्माजी ने आदेश किया कि शाबाश देवराज इंद्र! इसी तरह है जैसा तुम ने सोचा। इस आत्मा को न तुमने जाना था, न विरोचन ने। अच्छा हुआ जो तुम लौट आगए हो। इस आत्मा को जिस पर मुक्त सब कुछ मिलता है, दुबारा तुम्हें सिखाऊंगा। परंतु ३२ वर्ष फिर मेरे पास रहो और ब्रह्मचर्य करो, तब समझ में आवेगा। और यह इस लिये कहा कि ब्रह्मचर्य से जो पापों का लेश है, वह दूर हो जायगा। तब आत्मदर्शन सुगम हो जायगा। और इंद्र ने ऐसा ही किया और ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य किया।

(८२) जब देवराज इंद्र ने दूसरी बार भी ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य किया तो श्री ब्रह्माजीने उसे योग्य पाकर कहा कि ऐ बेटा! जो जगत् में नेत्र के भीतर विराजमान हुआ दिखाई देता है वही स्वप्न में नेत्र से निकलता हुआ बिना नेत्रों के सब स्वप्न के प्रपंच को देखता है। इसलिये वह जो स्वप्न में आया अपनी महिमा को प्रकट करता है, वह आत्मा है। प्रतिबिंब आत्मा नहीं। और यह अमृत है। यही सम्पन्न या पूर्ण है, यही ब्रह्म है। उसके साक्षात्कार पर नक़द मोक्ष मिलता है और मुक्त सब मनोरथ पूरे होते हैं। तब इंद्र संतुष्ट होकर फिर लौट गया।

(८३) श्रीब्रह्माजी के वाक्य का तात्पर्य यह है कि जब जाग्रत् अवस्था होती है, तो वह आँख में बैठ कर देखता है, और जब स्वप्न होता है, तो आँख को भी वस्त्र के समान उतार देता है और नग्न हुआ बिना नेत्र के स्वप्न के राज्य को देखता है। यहाँ बिना आँखों के देखता है, बिना कानों

इसके लंगड़े होने से यह भी लँगड़ा हो जाता है। बल्कि नाश होने से यह भी नाश हो जाता है। मैं तो इस में कुछ भी भोग नहीं देखता।

(८१) तब ब्रह्माजी ने आदेश किया कि शाबाश देवराज इंद्र! इसी तरह है जैसा तुम ने सोचा। इस आत्मा को न तुमने जाना था, न विरोचन ने। अच्छा हुआ जो तुम लौट आगए हो। इस आत्मा को जिस पर मुफ्त सब कुछ मिलता है, दुबारा तुम्हें सिखाऊंगा। परंतु ३२ वर्ष फिर मेरे पास रहो और ब्रह्मचर्य करो, तब समझ में आवेगा। और यह इस लिये कहा कि ब्रह्मचर्य से जो पापों का लेश है, वह दूर हो जायगा। तब आत्मदर्शन सुगम हो जायगा। और इंद्र ने ऐसा ही किया और ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य किया।

(८२) जब देवराज इंद्र ने दूसरी बार भी ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य किया तो श्री ब्रह्माजीने उसे योग्य पाकर कहा कि ऐ बेटा! जो जगत् में नेत्र के भीतर विराजमान हुआ दिखाई देता है वही स्वप्न में नेत्र से निकलता हुआ बिना नेत्रों के सब स्वप्न के प्रपंच को देखता है। इसलिये वह जो स्वप्न में आया अपनी महिमा को प्रकट करता है, वह आत्मा है। प्रतिबिंब आत्मा नहीं। और यह अमृत है। यही सम्पन्न वा पूर्ण है, यही ब्रह्म है। उसके साक्षात्कार पर नक़्द मोक्ष मिलता है और मुफ्त सब मनोरथ पूरे होते हैं। तब इंद्र संतुष्ट होकर फिर लौट गया।

(८३) श्रीब्रह्माजी के वाक्य का तात्पर्य यह है कि जब जाग्रत् अवस्था होती है, तो वह आँख में बैठ कर देखता है, और जब स्वप्न होता है, तो आँख को भी वस्त्र के समान उतार देता है और नग्न हुआ बिना नेत्र के स्वप्न के राज्य को देखता है। यहाँ बिना आँखों के देखता है, बिना कानों

कान वाला नहीं, वरन् कानवाला-सा होता है। अहंकार में आते को देखकर अहंकारवाला ख़याल करता है, किंतु वह अहंकारवाला-सा होता है। शरीर में आते को वह शरीरवाला-सा ख़याल करता है, किंतु वह शरीरवाला-सा होता है। जिस तरह मुँह दिखानेवाले दर्पण में वह मुँह शीशे के भीतर नहीं आ जाता किंतु भीतर आया-सा ख़याल होता है; इसी तरह वह आँख, कान, नाक, शरीर और अहंकार में कभी नहीं उतरा, किंतु उनमें उतरा सा ख़याल होता है। अतः वह नेत्रों में उतरा नहीं वरन् भाषा जानने वालों के दर्शन के लिये उस में प्रकट हुआ है, जिससे दर्शनाभिलाषी वहाँ उसका दर्शन पावे और प्रसाद में प्रविष्ट हो जाय।

(८६) वह जो इस तरह आँख कान नाक मुँह शरीर में प्रकट होते को भी क्यों कब से रहित नहीं देख सकता, उसे चाहिए कि जाग्रत् स्वप्न में अन्वय-व्यतिरेक के नियम से उसे पहचान लेवे, क्योंकि जब वह जाग्रत् में आता है, तो आँख नाक मुँह वरन् सारे शरीर के आकार में आता है। किंतु ये रूप उसके अपने नहीं, वरन् भिन्न हैं, क्योंकि जब वह स्वप्न में आता है, तो ये आकृतियाँ वस्त्र की भाँति उससे उतर जाती हैं और स्वप्न प्रपंच के काल्पनिक रूप उसमें प्रकट हो जाते हैं। और फिर स्वप्न की आकृतियाँ भी उसकी अपनी आकृतियाँ नहीं, सब भिन्न हैं, क्योंकि जब स्वप्न से निकलता जाग्रत् में आता है, तो स्वप्न की आकृतियाँ भी इसी तरह उतर जाती हैं जिस तरह जाग्रत् की उतर जाती हैं। और जो वस्तुएँ जिस वस्तु से पृथक् हो जाती हैं, वह उसका आत्मा नहीं होतीं, वरन् भिन्न अनात्म होती है।

(८७) इसलिये कि जाग्रत और स्वप्न के आकार सब

कान वाला नहीं, बरन् कानवाला-सा होता है। अहंकार में आते को देखकर अहंकारवाला खयाल करता है, किंतु वह अहंकारवाला-सा होता है। शरीर में आते को वह शरीरवाला-सा खयाल करता है, किंतु वह शरीरवाला-सा होता है। जिस तरह मुँह दिखानेवाले दर्पण में वह मुँह शीशे के भीतर नहीं आ जाता किंतु भीतर आया-सा ख़याल होता है; इसी तरह वह आँख, कान, नाक, शरीर और अहंकार में कभी नहीं उतरा, किंतु उनमें उतरा सा खयाल होता है। अतः वह नेत्रों में उतरा नहीं बरन् भाषा जानने वालों के दर्शन के लिये उस में प्रकट हुआ है, जिससे दर्शनाभिलाषी यहाँ उसका दर्शन पावे और प्रसाद में प्रविष्ट हो जाय।

(८६) वह जो इस तरह आँख कान नाक मुँह शरीर में प्रकट होते को भी क्यों कब से रहित नहीं देख सकता, उसे चाहिए कि जाग्रत् स्वप्न में अन्वय-व्यतिरेक के नियम से उसे पहचान लेवे, क्योंकि जब वह जाग्रत् में आता है, तो आँख नाक मुँह बरन् सारे शरीर के आकार में आता है। किंतु ये रूप उसके अपने नहीं, बरन् भिन्न हैं, क्योंकि जब वह स्वप्न में जाता है, तो वे आकृतियाँ वस्त्र की भाँति उससे उतर जाती हैं और स्वप्न प्रपंच के काल्पनिक रूप उसमें प्रकट हो जाते हैं। और फिर स्वप्न की आकृतियाँ भी उसकी अपनी आकृतियाँ नहीं, सब भिन्न हैं, क्योंकि जब स्वप्न से निकलता जाग्रत् में आता है, तो स्वप्न की आकृतियाँ भी उसी तरह उतर जाती हैं जिस तरह जाग्रत् की उतर जाती हैं। और जो वस्तुएँ जिस वस्तु से पृथक् हो जाती हैं, वह उसका आत्मा नहीं होती, बरन् भिन्न अनात्म होती है।

(८७) इसलिये कि जाग्रत् और स्वप्न के आकार सब

होता, यह तो सच है। परन्तु स्वप्न में भी उसे मारते से हैं और धकेलते-से हैं, और अप्रिय को देखता भयभीत व कष्ट सा होता है बरन् रोता-सा होता है। इसलिये मैं इसमें भी भोग नहीं देखता।

(६०) इन्द्र के सोच का परिणाम यह है कि निस्संदेह आत्मा जो जाग्रत् और स्वप्न में आता जाता है, जाग्रत् के शरीर और स्वप्न के रूपों से पृथक, परम शांत, अविनाशी, नित्य है, न तो शरीर के मरने से मर जाता है न किसी आँख आदि के टूट जाने से अंधा काना हो जाता है, क्योंकि अंधापन वास्तव में आँख का टूट जाना है। तो भी स्वप्न में यह विना आँखों के देखता सिद्ध होता है। इसलिये आँख के अंधेपन से वह अंधा नहीं होता, न तो कान के टूट जाने से वह बहरा होता है, न टाँग के कट जाने से वह लँगड़ा होता है, न शरीर मरने से वह मर जाता है, बरन शरीरके किसी गुणसे भी वह लिप्त नहीं होता, तो भी स्वप्न में भयभीत-सा होता है। हाथी देखता है, तो भागता है, और गड्ढे में गिरता है; कोई बलवान् देखता है, तो उससे मार खाता-सा और धकेला जाता-सा होता है। यद्यपि वास्तव में रोता नहीं किंतु रोता और गिड़गिड़ाता-सा होता है, इसीलिये पूर्ण वा सम्पन्न नहीं है।

(६१) यद्यपि स्वप्न में मार नहीं खाता, किंतु मार खाता-सा होता है; धकेला नहीं जाता किंतु धकेला जाता-सा होता है; और रोता नहीं किंतु क्रंदन विलाप करता-सा होता है। यह भी स्वप्न में उसे एक दोष है। वह पूर्ण नहीं। इसलिये मैं इसमें भी भोग नहीं देखता। यह सोचकर फिर लकड़ियों का बोझ उठाकर दुबारा ब्रह्मचर्य और पूछने के लिये ब्रह्माजी के पास लौट आया।

होता, यह तो सच है। परन्तु स्वप्न में भी उसे मारते से हैं और धकेलते-से हैं, और अप्रिय को देखता भयभीत वा कष्ट सा होता है वरन् रोता-सा होता है। इसलिये मैं इसमें भी भोग नहीं देखता।

(६०) इन्द्र के सोच का परिणाम यह है कि निस्संदेह आत्मा जो जाग्रत् और स्वप्न में आता जाता है, जाग्रत् के शरीर और स्वप्न के रूपों से पृथक, परम शांत, अविनाशी, नित्य है, न तो शरीर के मरने से मर जाता है न किसी आँख आदि के टूट जाने से अंधा काना हो जाता है, क्योंकि अंधापन वास्तव में आँख का टूट जाना है। तो भी स्वप्न में यह विना आँखों के देखता सिद्ध होता है। इसलिये आँख के अंधेपन से वह अंधा नहीं होता, न तो कान के टूट जाने से वह बहरा होता है, न टाँग के कट जाने से वह लँगड़ा होता है, न शरीर मरने से वह मर जाता है, वरन् शरीरके किसी गुणसे भी वह लिप्त नहीं होता, तो भी स्वप्न में भयभीत-सा होता है। हाथी देखता है, तो भागता है, और गढ़े में गिरता है; कोई बलवान् देखता है, तो उससे मार खाता-सा और धकेला जाता-सा होता है। यद्यपि वास्तव में रोता नहीं किंतु रोता और गिड़गिड़ाता-सा होता है, इसीलिये पूर्ण वा सम्पन्न नहीं है।

(६१) यद्यपि स्वप्न में मार नहीं खाता, किंतु मार खाता-सा होता है; धकेला नहीं जाता किंतु धकेला जाता-सा होता है; और रोता नहीं किंतु क्रंदन विलाप करता-सा होता है। यह भी स्वप्न में उसे एक दोष है। वह पूर्ण नहीं। इसलिये मैं इसमें भी भोग नहीं देखता। यह सोचकर फिर लकड़ियों का बोझ उठाकर दुबारा ब्रह्मचर्य और पूछने के लिये ब्रह्माजी के पास लौट आया।

(६५) रहस्य की बात यहाँ यह है कि पहिली शिक्षा में जो श्री ब्रह्माजी ने आत्मा को जाग्रत् के समय आँख में दिखलाया था, तो क्या शरीर, क्या इंद्रिय, क्या मन, क्या अहंकार, सब मे सब वाला-सा था, किंतु स्वप्न में फिर दूसरी बार शिक्षा दी तो क्या आँख, क्या नाक, क्या कान, वरन् सब शरीर सब इन्द्रिय उससे बाधित (दूर) होगए थे, केवल मन बुद्धि चित् अहंकार में प्रकट हुआ स्वप्न में लीला करता-सा रह गया था, और इस मन बुद्धि चित् अहंकार के लक्षण उसमें कल्पित होते थे जिससे इन्द्र को मार खाता-सा, धकेला जाता-सा और रोता-सा दिखाई दिया। वरन् भय और डर जो सब मन के धर्म हैं और बलवान् चिन्हों को देखकर अहँकार के कारण मार खाता-सा, रोता-सा धकेला-जाता सा, सब उसमें मानता था, अब उसे घोर निद्रा में दिखाया और उसी की शिक्षा दी, जहाँ मन बुद्धि चित् अहंकार भी उस से उसी तरह उतर गए जिस तरह स्वप्न में शरीर और इंद्रिय उतर गए थे।

(६६) यहां घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जब मन बुद्धि चित् अहंकार भी उतर गए, तो न यहाँ कुछ सोचता है, क्योंकि सोचना मन का धर्म है, न किसी को जानता है, क्योंकि जानना बुद्धि का धर्म है, न यह किसी को याद करता है, क्योंकि अभिमान का निश्चय अहंकार करता है, आत्मा नहीं करता।

(६७) ऐ भाइयो! वह क्योंकर सोचे? क्योंकर जाने? क्योंकर याद करे? किस प्रकार निश्चय करे? वह जो सोच, ज्ञान, स्मरण, निश्चय के कारण थे, भिन्न थे। सब के सब यहाँ वस्त्र की भाँति उससे उतर गए, तो वह समस्त इन्द्रियों की खानि ज्यों का त्यों निरुपाधि रह गया, जहाँ मन

(६५) रहस्य की बात यहाँ यह है कि पहिली शिक्षा में जो श्री ब्रह्माजी ने आत्मा को जाग्रत् के समय आँख में दिखलाया था, तो क्या शरीर, क्या इंद्रिय, क्या मन, क्या अहंकार, सब मे सब वाला-सा था, किंतु स्वप्न में फिर दूसरी बार शिक्षा दी तो क्या आँख, क्या नाक, क्या कान, वरन् सब शरीर सब इन्द्रिय उससे बाधित (दूर) होगए थे, केवल मन बुद्धि चित् अहंकार में प्रकट हुआ स्वप्न में लीला करता-सा रह गया था, और इस मन बुद्धि चित् अहंकार के लक्षण उसमें कल्पित होते थे जिससे इन्द्र को मार खाता-सा, धकेला जाता-सा और रोता-सा दिखाई दिया। वरन् भय और डर जो सब मन के धर्म हैं और बलवान् चित्रों को देखकर अहँकार के कारण मार खाता-सा, रोता-सा धकेला-जाता सा, सब उसमें मानता था, अब उसे घोर निद्रा में दिखाया और उसी की शिक्षा दी, जहाँ मन बुद्धि चित् अहंकार भी उस से उसी तरह उतर गए जिस तरह स्वप्न में शरीर और इंद्रिय उतर गए थे।

(६६) यहां घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जब मन बुद्धि चित् अहंकार भी उतर गए, तो न यहाँ कुछ सोचता है, क्योंकि सोचना मन का धर्म है, न किसी को जानता है, क्योंकि जानना बुद्धि का धर्म है, न यह किसी को याद करता है, क्योंकि अभिमान का निश्चय अहंकार करता है, आत्मा नहीं करता।

(६७) ऐ भाइयो! वह क्योंकर सोचे? क्योंकर जाने? क्योंकर याद करे? किस प्रकार निश्चय करे? वह जो सोच, ज्ञान, स्मरण, निश्चय के कारण थे, भिन्न थे। सब के सब यहाँ वस्त्र की भाँति उससे उतर गए, तो वह समस्त इन्द्रियों की खानि ज्यों का त्यों निरुपाधि रह गया, जहाँ मन

सब मिला कर १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य किया। इसलिये वेदों में प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने १०१ वर्ष ब्रह्मा के पास ब्रह्मचर्य किया था।

(१०१) जब देवराज इंद्रने फिर ५ वर्ष ब्रह्मचर्य किया, तो श्री ब्रह्माजी ने उसे योग्य जिज्ञासु पाकर कहा—ऐ इंद्र! आंख देखती है, किंतु अपने देखने का निश्चय नहीं करती। इसी तरह कान सुनते हैं किंतु अपने सुनने का निश्चय नहीं करते। जिह्वा चखती है किंतु अपने चखने का निश्चय नहीं करती। क्योंकि क्या आँख का देखना, क्या कान का सुनना, क्या जिह्वा का चखना। सब का निश्चय मन करता है।

(१०२) देखो, कभी-कभी मनुष्य सोच में होता है और उसकी आँखों के सामने चीज़ें निकल जाती हैं, यद्यपि आँख उनको देखती है मगर मन दूसरे सोच में होता है, इसलिये उनके देखने का निश्चय नहीं करता, बरन् यों निश्चय करता है कि मैं सोच में था। मैं ने तो नहीं देखा, मेरी आँखों के सामने निकल गया।

(१०३) फिर जब कोई बात कहता है और सुनने वाले के कान बात सुनते भी हैं, किंतु मन कहीं सोच में होता है, तो फिर तक़ाज़ा करता है कि जो कुछ आपने कहा, मैं ने सुना नहीं, मेरा मन उपस्थित न था, आप दुबारा वर्णन करें। यद्यपि उसके कानमें शब्द पड़ा था और अवश्य सुना जाता था। पर इस हेतु कि कान अपने सुने हुए को निश्चय नहीं करते, बरन् उनके सुने हुए को निश्चय करने वाला मन उसके सुनने में शामिल (प्रवृत्त) न था, इसलिये कान बिना निश्चय सुनते हैं और आँख बिना निश्चय देखती है।

(१०४) इसी तरह निद्रा में भी आत्मा जो आनन्दस्वरूप है अपने आप को पाता और देखता है परंतु उस समय अपने आनंद को और अपने अहंकार को निश्चय नहीं करता, क्यों

सब मिला कर १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य किया। इसलिये वेदों में प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने १०१ वर्ष ब्रह्मा के पास ब्रह्मचर्य किया था।

(१०१) जब देवराज इंद्रने फिर ५ वर्ष ब्रह्मचर्य किया, तो श्री ब्रह्माजी ने उसे योग्य जिज्ञासु पाकर कहा—ऐ इंद्र! आंख देखती है, किंतु अपने देखने का निश्चय नहीं करती। इसी तरह कान सुनते हैं किंतु अपने सुनने का निश्चय नहीं करते। जिह्वा चखती है किंतु अपने चखने का निश्चय नहीं करती। क्योंकि क्या आँख का देखना, क्या कान का सुनना, क्या जिह्वा का चखना। सब का निश्चय मन करता है।

(१०२) देखो, कभी-कभी मनुष्य सोच में होता है और उसकी आँखों के सामने चीज़ें निकल जाती हैं, यद्यपि आँख उनको देखती है मगर मन दूसरे सोच में होता है, इसलिये उनके देखने का निश्चय नहीं करता, वरन् यों निश्चय करता है कि मैं सोच में था। मैं ने तो नहीं देखा, मेरी आँखों के सामने निकल गया।

(१०३) फिर जब कोई बात कहता है और सुनने वाले के कान बात सुनते भी हैं, किंतु मन कहीं सोच में होता है, तो फिर तक़ाज़ा करता है कि जो कुछ आपने कहा, मैं ने सुना नहीं, मेरा मन उपस्थित न था, आप दुबारा वर्णन करें। यद्यपि उसके कानमें शब्द पड़ा था और अवश्य सुना जाता था। पर इस हेतु कि कान अपने सुने हुए को निश्चय नहीं करते, वरन् उनके सुने हुए को निश्चय करने वाला मन उसके सुनने में शामिल (प्रवृत्त) न था, इसलिये कान बिना निश्चय सुनते हैं और आँख बिना निश्चय देखती है।

(१०४) इसी तरह निद्रा में भी आत्मा जो आनन्दस्वरूप है अपने आप को पाता और देखता है परंतु उस समय अपने आनंद को और अपने अहंकार को निश्चय नहीं करता, क्यों

तो कहता है कि मुझे ऐनक बिना दिखाई नहीं देता। तो यद्यपि वास्तव में वह अंधा नहीं होता, तो भी ऐनक के द्वारा देखने का अभ्यास उसे हो जाता है, इसलिये उसके द्वारा जो कुछ देखता है, निश्चय करता है।

(१०९) यदि विचार किया जाय, तो देखना काम आँख का है, ऐनक का नहीं। क्योंकि अंधे के पक्ष में ऐनक भी क्या कर सकती है। तो भी अभ्यास के कारण जब ऐनक नहीं पाता, तो बिना उसके कहता है कि मैं अंधा सा हूँ, ऐनक मिलेगी, तो पत्र पढ़ा जायगा, और ऐनक को खोजता फिरता है। इसी तरह मनुष्य भी प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक पहचान, का निश्चय मन से करता है और यही उसका अभ्यास है। किंतु जब मन नहीं होता, तो यद्यपि देखता या सुनता है, पर उसका निश्चय नहीं करता, बरन् कहता है, न मैंने देखा न सुना।

(११०) तुम भी मन के निश्चय के अभ्यासी हो। इसलिये सुषुप्ति में अपने आपको जानते-पहचानते और परमानंद को पाते हुए भी कहते हो कि यहाँ तो कुछ भी भोग नहीं (यद्यपि आँख भी देखती है, तो इसी आत्मा के कारण; कान भी सुनते हैं, तो इसी आत्मा के कारण; जिह्वा भी चखती है, तो इसी आत्मा के कारण; मन भी निश्चय करता है, तो इसी आत्मा के कारण), तो क्या यह आत्मा, जो अपना निजी देखना, निजी सुनना, निजी चखना और निजी निश्चय करना रखता है, अंधा बहरा भूठा हो सकता है? कदापि नहीं।

(१११) बरन् उसकी उपमा तो ऐसी है जैसा कि कोई ढेज़ गरम पानी में हाथ लगाए और कहे कि पानी गरम है आग गरम नहीं, तो उसके ज्ञान में अंतर है, क्योंकि पानी

तो कहता है कि मुझे ऐनक बिना दिखाई नहीं देता। तो यद्यपि वास्तव में वह अंधा नहीं होता, तो भी ऐनक के द्वारा देखने का अभ्यास उसे हो जाता है, इसलिये उसके द्वारा जो कुछ देखता है, निश्चय करता है।

(१०९) यदि विचार किया जाय, तो देखना काम आँख का है, ऐनक का नहीं। क्योंकि अंधे के पक्ष में ऐनक भी क्या कर सकती है। तो भी अभ्यास के कारण जब ऐनक नहीं पाता, तो बिना उसके कहता है कि मैं अंधा सा हूँ, ऐनक मिलेगी, तो पत्र पढ़ा जायगा, और ऐनक को खोजता फिरता है। इसी तरह मनुष्य भी प्रत्येक दृश्य; प्रत्येक पहचान, का निश्चय मन से करता है और यही उसका अभ्यास है। किंतु जब मन नहीं होता, तो यद्यपि देखता या सुनता है, पर उसका निश्चय नहीं करता, वरन् कहता है, न मैंने देखा न सुना।

(११०) तुम भी मन के निश्चय के अभ्यासी हो। इस लिये सुषुप्ति में अपने आपको जानते-पहचानते और परमानंद को पाते हुए भी कहते हो कि यहाँ तो कुछ भी भोग नहीं (यद्यपि आँख भी देखती है, तो इसी आत्मा के कारण; कान भी सुनते हैं, तो इसी आत्मा के कारण; जिह्वा भी चखती है, तो इसी आत्मा के कारण; मन भी निश्चय करता है, तो इसी आत्मा के कारण), तो क्या यह आत्मा, जो अपना निजी देखना, निजी सुनना, निजी चखना और निजी निश्चय करना रखता है, अंधा बहरा भूठा हो सकता है ? कदापि नहीं।

(१११) वरन् उसकी उपमा तो ऐसी है जैसा कि कोई तेज़ गरम पानी में हाथ लगाए और कहे कि पानी गरम है आग गरम नहीं, तो उसके ज्ञान में अंतर है, क्योंकि पानी

दृष्टि स्वरूप, श्रवण स्वरूप और निश्चय (वा तसदीक) स्वरूप है, जिस प्रकार कि अग्नि भी गरमी-रूप है।

(११६) ऐ इंद्र! उक्ति में दो प्रकार के वाक्य होते हैं। यों भी वाक्य होता है कि पानी गरम है, और यों भी बोलते हैं कि आग गरम है, किंतु विवेकी जानता है कि "पानी गरम है," इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि पानी वास्तव में गरम नहीं, वरन् बाह्य गरमी से गरम है; और "आग गरम है", इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि वह अपनी गरमी से गरम है। वरन् सत्य तो यों है कि उसे गरम भी तब कहें, जब बाह्य गरमी उसमें आई हुई हो। उसे तो यों कहना चाहिए कि वह गरम-रूप या ताप स्वरूप है।

(११७) इसी तरह आँख भी जो देखती है तो दूसरे की दृष्टि से देखती है; कान भी सुनते हैं, तो भिन्न श्रवण से सुनते हैं, जिह्वा भी आस्वादन करती है, तो भिन्न स्वाद से स्वाद लेती है; मन भी निश्चय करता है, तो भिन्न निश्चय से निश्चय करता है; किंतु आत्मा तो भिन्न दृष्टि से नहीं देखता, वरन् अपनी दृष्टि से देखता है, इसलिये दृष्टि-रूप वरन् ठीक दृष्टि स्वरूप है।

(११८) फिर इस हेतु कि आत्मा भिन्न श्रवण से नहीं सुनता, वरन् अपने ही श्रवण से सुनता है, इसलिये श्रवण स्वरूप है। इसी तरह आत्मा भिन्न निश्चय से निश्चय नहीं करता, वरन् अपने निश्चय से निश्चय करता है, इस-लिये निश्चय स्वरूप ही है। बहुत क्या कहें, सब शरीर इसी के अस्तित्व से अस्तित्व में हैं। वास्तव में कुछ भी विद्यमान नहीं, वरन् सब भिन्न अस्तित्व से विद्यमान हैं, इसलिये कल्पित और मिथ्या है। किंतु आत्मा तो भिन्न अस्तित्व से अस्तित्व नहीं रखता, वरन् अपने अस्तित्व से

दृष्टि स्वरूप, श्रवण स्वरूप और निश्चय (वा तसदीक) स्वरूप है, जिस प्रकार कि अग्नि भी गरमी-रूप है।

(११६) ऐ इंद्र! उक्ति में दो प्रकार के वाक्य होते हैं। यों भी वाक्य होता है कि पानी गरम है, और यों भी बोलते हैं कि आग गरम है, किंतु विवेकी जानता है कि "पानी गरम है," इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि पानी वास्तव में गरम नहीं, वरन् बाह्य गरमी से गरम है; और "आग गरम है", इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि वह अपनी गरमी से गरम है। वरन् सत्य तो यों है कि उसे गरम भी तब कहें, जब बाह्य गरमी उसमें आई हुई हो। उसे तो यों कहना चाहिए कि वह गरम-रूप या ताप स्वरूप है।

(११७) इसी तरह आँख भी जो देखती है तो दूसरे की दृष्टि से देखती है; कान भी सुनते हैं, तो भिन्न श्रवण से सुनते हैं, जिह्वा भी आस्वादन करती है, तो भिन्न स्वाद से स्वाद लेती है; मन भी निश्चय करता है, तो भिन्न निश्चय से निश्चय करता है; किंतु आत्मा तो भिन्न दृष्टि से नहीं देखता, वरन् अपनी दृष्टि से देखता है, इसलिये दृष्टि-रूप वरन् ठीक दृष्टि स्वरूप है।

(११८) फिर इस हेतु कि आत्मा भिन्न श्रवण से नहीं सुनता, वरन् अपने ही श्रवण से सुनता है, इसलिये श्रवण स्वरूप है। इसी तरह आत्मा भिन्न निश्चय से निश्चय नहीं करता, वरन् अपने निश्चय से निश्चय करता है, इस-लिये निश्चय स्वरूप ही है। बहुत क्या कहें, सब शरीर इसी के अस्तित्व से अस्तित्व में हैं। वास्तव में कुछ भी विद्यमान नहीं, वरन् सब भिन्न अस्तित्व से विद्यमान हैं, इसलिये कल्पित और मिथ्या है। किंतु आत्मा तो भिन्न अस्तित्व से अस्तित्व नहीं रखता, वरन् अपने अस्तित्व से

(१२२) निदान यही आत्मा सत है; क्योंकि अस्तित्व-स्वरूप है; यही आत्मा चित् है, क्योंकि दृष्टि-स्वरूप है; यही आत्मा आनंद है, क्योंकि आनंद-स्वरूप है। इसी कारण से वेदांतियों में इसकी निजी उपमा सच्चिदानंद है। जिस तरह सूर्य की धूप भी रक्त-स्वरूप, श्वेत-स्वरूप, पीत स्वरूप है किंतु उसका प्रमाण त्रिकोण शीशे के द्वारा होता है, इसी तरह इस आत्मा का भी प्रमाण इस शरीर और मनमें होता है, क्योंकि जिस तरह त्रिकोण शीशे में धूप आती हुई अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न रंग दिखाती है, इसी तरह यह चेतन भी आंख में देखता, कान में सुनता, जिह्वा में चखता, मनमें जानता समझता सोचता निश्चय करता सिद्ध होता है।

(१२३) किंतु जिस तरह त्रिकोण शीशा वास्तव में न तो लाल है, न सफ़ेद, न पीला, उसी तरह न आँख देखती है, न कान सुनते हैं, न जिह्वा स्वाद लेती है, न मन जानता है, न निश्चय करता है, वरन् सब के सब उसके निजी चमत्कारों के द्योतक हैं और प्रत्येक आविष्कार में (दृश्य वा व्याप्ति) में उसके एक-एक चमत्कार का प्रादुर्भाव है, किंतु घोर निद्रा में तो वह आविष्कार से भी पवित्र, अपने समस्त चमत्कारों में अपने ही स्वरूप में स्पष्टतर है। यही ब्रह्म है। यही समस्त मनोरथों (आशयों) की खान है। क्योंकि उसी के चमत्कार प्रत्येक अव्यक्त में आप उसे पूर्ण (व्यक्त) करते हैं।

(१२४) जब यह प्रत्यक्ष (दृश्य) को छोड़ता है, तो वह सब के सब उसके निजी चमत्कारों के प्रतिबिंबों से रिक्त हो जाते हैं, और यह बिंब जिसके निजी चमत्कार हैं, सब चमत्कारों से तद्रूप हुआ एक अद्वितीय, सब चमत्कारों

(१२२) निदान यही आत्मा सत है; क्योंकि अस्तित्व-स्वरूप है; यही आत्मा चित् है, क्योंकि दृष्टि-स्वरूप है; यही आत्मा आनंद है, क्योंकि आनंद-स्वरूप है। इसी कारण से वेदांतियों में इसकी निजी उपमा सच्चिदानंद है। जिस तरह सूर्य की धूप भी रक्त-स्वरूप, श्वेत-स्वरूप, पीत स्वरूप है किंतु उसका प्रमाण त्रिकोण शीशे के द्वारा होता है, इसी तरह उस आत्मा का भी प्रमाण इस शरीर और मनमें होता है, क्योंकि जिस तरह त्रिकोण शीशे में धूप आती हुई अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न रंग दिखाती है, इसी तरह यह चेतन भी आंख में देखता, कान में सुनता, जिह्वा में चखता, मनमें जानता समझता सोचता निश्चय करता सिद्ध होता है।

(१२३) किंतु जिस तरह त्रिकोण शीशा वास्तव में न तो लाल है, न सफ़ेद, न पीला, उसी तरह न आँख देखती है, न कान सुनते हैं, न जिह्वा स्वाद लेती है, न मन जानता है, न निश्चय करता है, वरन् सब के सब उसके निजी चमत्कारों के द्योतक हैं और प्रत्येक आविष्कार में (दृश्य या व्यक्ति) में उसके एक-एक चमत्कार का प्रादुर्भाव है, किंतु घोर निद्रा में तो वह आविष्कार से भी पवित्र, अपने समस्त चमत्कारों में अपने ही स्वरूप में स्पष्टतर है। यही ब्रह्म है। यही समस्त मनोरथों (आशयों) की खान है। क्योंकि उसी के चमत्कार प्रत्येक अव्यक्त में आए उसे पूर्ण (व्यक्त) करते हैं।

(१२४) जब यह प्रत्यक्ष (दृश्य) को छोड़ता है, तो वह सब के सब उसके निजी चमत्कारों के प्रतिबिंबों से रिक्त हो जाते हैं, और यह बिंब जिसके निजी चमत्कार हैं, सब-चमत्कारों से तद्रूप हुआ एक अद्वितीय, सब चमत्कारों

उतने ही संक्षिप्त चमत्कार प्रकट होते हैं। पितरों के शरीरों में उससे बढ़कर चमत्कारों के साधन (करण) हैं, इसलिये उसके अधिक चमत्कार प्रकट होते हैं। और फिर गंधर्व तथा देवताओं के शरीर उनसे भी अधिक साधन रखते हैं, उनमें उनकी अपेक्षा भी अधिक उसके चमत्कार प्रकट होते हैं। ब्रह्मलोक में सबसे बढ़कर साधन है जिससे बढ़कर दूसरों में नहीं। इसलिये ब्रह्म शरीर में सत्य संकल्प, सत्य-काम, सर्वशक्तिमान् उसके-चमत्कार प्रकट होते हैं।

(१२८) यद्यपि मनुष्य से लेकर ब्राह्म तक भिन्न-भिन्न शरीर है, किंतु यह आत्मा अकेला समस्तगुणों का पुञ्ज-स्वरूप सब में एक है। इसी कारण उसको इकलौता बोलते हैं। और प्रत्यक्ष में मनुष्य जिस-जिस उपाधि (व्यक्ति) में उसका ज्यों-ज्यों चमत्कार देखता है, उसे उसी उपाधि का कमाल गुमान करता नाना प्रकार के चमत्कार देखता है। और एक लोक को दूसरे लोक से न्यूनाधिक ख़याल करता, निकम्मे लोक, निकम्मे भोग में हानि देखता, बड़े लोक, बड़े भोग की कामना करता उसके मिलने के लिये कर्म करता है।

(१२९) लेकिन वह जो बुद्धिमान हैं और इस सांक्षिप्त मानवी शरीर में इस इकलौते, समस्त चमत्कारों के पुञ्ज को जानते हैं और उसी में स्थित होते हैं, सब मनोरथों, सब चमत्कारों को पा जाते हैं। क्योंकि वह निश्चय करते हैं कि जब यही आत्मा नेत्र में प्रकट हुआ देखता है तो क्या सुनने वाला नहीं? यदि वह सुनने वाला न होता, तो क्योंकर कानों में आया सुनता। और यदि कानों में सुनता है, तो क्या देखने वाला नहीं? बल्कि है। क्योंकि यदि देखनेवाला न होता, तो क्योंकर आँख में आया देख सकता।

(१३०) निदान क्या आँख क्या कान क्या नाक क्या

उतने ही संक्षिप्त चमत्कार प्रकट होते हैं। पितरों के शरीरों में उससे बढ़कर चमत्कारों के साधन (करण) हैं, इसलिये उसके अधिक चमत्कार प्रकट होते हैं। और फिर गंधर्व तथा देवताओं के शरीर उनसे भी अधिक साधन रखते हैं, उनमें उनकी अपेक्षा भी अधिक उसके चमत्कार प्रकट होते हैं। ब्रह्मलोक में सबसे बढ़कर साधन है जिससे बढ़कर दूसरों में नहीं। इसलिये ब्रह्म शरीर में सत्य संकल्प, सत्य-काम, सर्वशक्तिमान् उसके-चमत्कार प्रकट होते हैं।

(१२८) यद्यपि मनुष्य से लेकर ब्राह्म तक भिन्न-भिन्न शरीर है, किंतु यह आत्मा अकेला समस्तगुणों का पुञ्ज-स्वरूप सब में एक है। इसी कारण उसको इकलौता बोलते हैं। और प्रत्यक्ष में मनुष्य जिस-जिस उपाधि (व्यक्ति) में उसका ज्यों-ज्यों चमत्कार देखता है, उसे उसी उपाधि का कमाल गुमान करता नाना प्रकार के चमत्कार देखता है। और एक लोक को दूसरे लोक से न्यूनाधिक ख़याल करता, निकम्मे लोक, निकम्म भोग में हानि देखता, बड़े लोक, बड़े भोग की कामना करता उसके मिलने के लिये कर्म करता है।

(१२९) लेकिन वह जो बुद्धिमान हैं और इस संक्षिप्त मानवी शरीर में इस इकलौते, समस्त चमत्कारों के पुञ्ज को जानते हैं और उसी में स्थित होते हैं, सब मनोरथों, सब चमत्कारों को पा जाते हैं। क्योंकि वह निश्चय करते हैं कि जब यही आत्मा नेत्र में प्रकट हुआ देखता है तो क्या सुनने वाला नहीं? यदि वह सुनने वाला न होता, तो क्योंकर कानों में आया सुनता। और यदि कानों में सुनता है, तो क्या देखने वाला नहीं? बल्कि है। क्योंकि यदि देखनेवाला न होता, तो क्योंकर आँख में आया देख सकता।

(१३०) निदान क्या आँख क्या कान क्या नाक क्या

हो जाता है, किंतु ज्ञानी दूसरे के दोषों को विलुप्त (अप्रकट) देखता हुआ और अपने सब कमालों का निश्चय करता हुआ भी विश्वास करता है कि "मैं पूर्ण हूँ," और अनजान मनुष्य उसके निश्चय में व्याकुल होता है।

(१३३) फिर इस हेतु कि यह आत्म-पुरुष जब जाग्रत् से स्वप्न में जाता है, तो स्वप्न के कमाल उस में प्रकट होते हैं, किंतु स्वप्नके भिन्न दोष भी उसमें प्रकट हो जाते हैं। यही कारण है कि तुम्हें मार खाता-सा, धकेला जाता-सा भान हुआ था, क्योंकि मार खाता-सा धकेला जाता-सा वहाँ अन्यके ख्यालके लक्षण थे,जो घोर निद्रा (सुषुप्ति में नहीं रहे।

(१३४) फिर उसी तरह जब वह सुषुप्ति में जाता है, तो सुषुप्ति के लक्षण (दूसरे की बेखबरी और अंधकार के) उस में विद्यमान होते हैं, किंतु उस का मुख्य आनन्द जो परमानन्द और निजी कमाल है, स्पष्ट रहता है, इसी कारण जाग कर यह निश्चय करता है कि मैं ऐसा आनंद से सोया कि कुछ भी खबर न रही।

(१३५) इस निश्चय में आनंद का निश्चय तो अपने कमाल का है, और बेखबरी का निश्चय भिन्न निद्रा का है, क्योंकि यदि बेखबरी और अंधकार भी उसके निज के लक्षण होते, तो जाग्रत् में दूर (अभाव) न होते। वह आनंद तो जाग्रत् में भी सिद्ध है, इसलिये ऐ इंद्र! उस भिन्न सुषुप्ति -दोष से तुझे भान हुआ है कि "वहाँ सुषुप्ति में न तो अपने आप को जानता है न दूसरे को,' वरन् मृतक-सा होता है। इस में भी कुछ भोग नहीं देखता।"

(१३६) तुम को चाहिए कि अन्वय व्यतिरेक के नियम से अंधकार और बेखबरी के दोष को भी उसी तरह भिन्न निश्चय करो जिस तरह जाग्रत् में कानापन, अंधापन,

हो जाता है, किंतु ज्ञानी दूसरे के दोषों को विलुप्त (अप्रकट) देखता हुआ और अपने सब कमालों का निश्चय करता हुआ भी विश्वास करता है कि "मैं पूर्ण हूँ," और अनजान मनुष्य उसके निश्चय में व्याकुल होता है।

(१३३) फिर इस हेतु कि यह आत्म-पुरुष जब जाग्रत् से स्वप्न में जाता है, तो स्वप्न के कमाल उस में प्रकट होते हैं, किंतु स्वप्नके भिन्न दोष भी उसमें प्रकट हो आते हैं। यही कारण है कि तुम्हें मार खाता-सा, धकेला जाता-सा भान हुआ था, क्योंकि मार खाता-सा धकेला जाता-सा वहाँ अन्यके ख्यालके लक्षण थे,जो घोर निद्रा (सुषुप्ति में नहीं रहे।

(१३४) फिर उसी तरह जब वह सुषुप्ति में जाता है, तो सुषुप्ति के लक्षण (दूसरे की बेखबरी और अंधकार के) उस में विद्यमान होते हैं, किंतु उस का मुख्य आनन्द जो परमानन्द और निजी कमाल है, स्पष्ट रहता है, इसी कारण जाग कर यह निश्चय करता है कि मैं ऐसा आनंद से सोया कि कुछ भी खबर न रही।

(१३५) इस निश्चय में आनंद का निश्चय तो अपने कमाल का है, और बेखबरी का निश्चय भिन्न निद्रा का है, क्योंकि यदि बेखबरी और अंधकार भी उसके निज के लक्षण होते, तो जाग्रत् में दूर (अभाव) न होते। वह आनंद तो जाग्रत् में भी सिद्ध है, इसलिये ऐ इंद्र! उस भिन्न सुषुप्ति-दोष से तुझे भान हुआ है कि "वहाँ सुषुप्ति में न तो अपने आप को जानता है न दूसरे को,' वरन् मृतक-सा होता है। इस में भी कुछ भोग नहीं देखता।"

(१३६) तुम को चाहिए कि अन्वय व्यतिरेक के नियम से अंधकार और बेखबरी के दोष को भी इसी तरह भिन्न निश्चय करो जिस तरह जाग्रत् में कानापन, अंधापन,

नहीं करता, क्योंकि पहचान से तो केवल भ्रांति दूर होती है, कोई विद्यमान वस्तु दूर नहीं होती। यही ईश्वरीय नियम है।

(१५०) जब यह भ्रान्ति युक्त सम्बन्ध इस तरह ज्ञान से दूर हो जाता है, तो इस सम्बन्ध के पराजय से वह अशरीरी होता है। यद्यपि व्यवहारिक सम्बन्ध के कारण इसी शरीर में यावज्जीवन सैर करता है। क्योंकि जब तक व्यवहारिक सम्बन्ध है तब तक वह जीवित है, और फिर चूँकि प्रतिबिंब का अन्तःकरण से सहोदरता का सम्बन्ध है, अतः जब तक अन्तःकरण है तब तक उस का प्रतिबिंब इस में पड़ेगा। इसी प्रतिबिंब के कारण वह इस शरीर में सैर भी करता है), किन्तु प्रतिबिंब की दृष्टि से वह अशरीरी और नित्यमुक्त रहता है।

(१५१) जब यहाँ के भोग समाप्त हो लेते हैं, तो फिर यह व्यवहारिक सम्बन्ध भी दूर हो जाता है, और मृत्यु हो जाती है। उस समय क्या बाह्य-इंद्रियाँ, क्या अन्तरिंद्रियाँ, क्या अन्तःकरण सब, जो समष्टि-रूप से शरीर कहा जाता है अथवा मनुष्य बोला जाता है, मरणशील हो जाते हैं। उस समय वह दूसरी तरह का अशरीरी हो जाता है। किन्तु हम लिख चुके हैं कि उस में स्वाभाविक ईश्वरीय सम्बन्ध हो जाता है, फिर ईश्वर के अहंकार मन और बुद्धि में इसी का प्रतिबिंब पड़ता, ईश्वर के सत्यकाम और सत्य-संकल्प की सैर करता है।

(१५२) तो भी विवेक और ज्ञान से उस (ईश्वर) के खयाल से जो माया-वृत्तियाँ हैं, कुछ लगावट नहीं पाता। जब यह अन्वय व्यतिरेक के नियम से इस आत्मा में अन्य के लोप (भिन्न जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के) देखता है, और

नहीं करता, क्योंकि पहचान से तो केवल भ्रांति दूर होती है, कोई विद्यमान वस्तु दूर नहीं होती। यही ईश्वरीय नियम है।

(१५०) जब यह भ्रान्ति युक्त सम्बन्ध इस तरह ज्ञान से दूर हो जाता है, तो इस सम्बन्ध के पराजय से वह अशरीरी होता है। यद्यपि व्यवहारिक सम्बन्ध के कारण इसी शरीर में यावज्जीवन सैर करता है (क्योंकि जब तक व्यवहारिक सम्बन्ध है तब तक वह जीवित है, और फिर चूँकि प्रतिबिंब का अन्तःकरण से सहोदरता का सम्बन्ध है, अतः जब तक अन्तःकरण है तब तक उस का प्रतिबिंब इस में पड़ेगा। इसी प्रतिबिंब के कारण वह इस शरीर में सैर भी करता है), किन्तु प्रतिबिंब की दृष्टि से वह अशरीरी और नित्यमुक्त रहता है।

(१५१) जब यहाँ के भोग समाप्त हो लेते हैं, तो फिर यह व्यवहारिक सम्बन्ध भी दूर हो जाता है, और मृत्यु हो जाती है। उस समय क्या बाह्य-इंद्रियाँ, क्या अन्तरिंद्रियाँ, क्या अन्तःकरण सब, जो समष्टि-रूप से शरीर कहा जाता है अथवा मनुष्य बोला जाता है, मरणशील हो जाते हैं। उस समय वह दूसरी तरह का अशरीरी हो जाता है। किन्तु हम लिख चुके हैं कि उस में स्वाभाविक ईश्वरीय सम्बन्ध हो जाता है, फिर ईश्वर के अहंकार मन और बुद्धि में इसी का प्रतिबिंब पड़ता, ईश्वर के सत्यकाम और सत्य-संकल्प की सैर करता है।

(१५२) तो भी विवेक और ज्ञान से उस (ईश्वर) के ख्याल से जो माया-वृत्तियाँ हैं, कुछ लगावट नहीं पाता। जब यह अन्वय व्यतिरेक के नियम से इस आत्मा में अन्य के दोष (भिन्न जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के) देखता है, और

सूर्य के तेज से तपे हुए ये सब इस आकाश से उठते अपने-अपने वास्तविक स्वरूप को पाते हैं, उसी तरह जब पूर्ण गुरु मिलता है, तो ज्ञानाग्नि से यह आत्मा भी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से विवेक पाया हुआ इस देह से उठता अपने परम ज्योति रूप साक्षी स्वरूप में प्राप्त होता है और अपने ही रूप में स्थिर हो जाता है। यही उत्तम पुरुष है।

(१४६) जब यह उत्तम पुरुष इस प्रकार ज्ञान की शक्ति से इस शरीर से उठता है, तो फिर उस का मनुष्य लोक से ब्रह्मलोक तक उजाला होता है, और वहाँ तक उसकी सैर होती है, जैसा कि हमने विज्ञापन में लिखा है कि हँसता हुआ, लीला करता हुआ, स्त्रियों से छेड़ छाड़ करता, कुटुंबियों से मिलता, बिरादरी से बातें करता, परम स्वतन्त्र होता है। फिर इस दूषित शरीर के जो पड़ोसी हैं, उन्हें स्मरण भी नहीं करता।

(१४७) इस बात को यों समझो कि क्या मनुष्य का शरीर, क्या पितरों का शरीर, क्या देवताओं का शरीर, क्या प्रजापति, क्या ब्रह्मा का शरीर, सब के सब शीशों की भाँति होते हैं, और यह उत्तम पुरुष ज्योति की तरह इन सब से पृथक्, दूर, अपने परम ज्योति-स्वरूप में धड़ाधड़ जलता है, किन्तु सब में उसी तरह प्रतिबिंबित होता है जिस तरह ज्योति शीशों में प्रतिबिंबित होती है। प्रत्येक में अपने कमालों की महिमा दान करता है, और इसी के उजाले में ये सब अपने-अपने विशेष भाग पाते हैं, जो सब इसी के कल्पित भोग खयाल किए जाते हैं।

(१४८) दूसरा कारण यह है कि शरीर एक गाड़ी के समान है और इंद्रियां घोड़ों के समान हैं जो उस में जुते हुए हैं, और अहंकार अपने समस्त लश्कर के साथ उस में

सूर्य के तेज से तपे हुए ये सब इस आकाश से उठते अपने-अपने वास्तविक स्वरूप को पाते हैं, उसी तरह जब पूर्ण गुरु मिलता है, तो ज्ञानाग्नि से यह आत्मा भी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से विवेक पाया हुआ इस देह से उठता अपने परम ज्योति रूप साक्षी स्वरूप में प्राप्त होता है और अपने ही रूप में स्थिर हो जाता है। यही उत्तम पुरुष है।

(१४६) जब यह उत्तम पुरुष इस प्रकार ज्ञान की शक्ति से इस शरीर से उठता है, तो फिर उस का मनुष्य लोक से ब्रह्मलोक तक उजाला होता है, और वहाँ तक उसकी सैर होती है, जैसा कि हमने विज्ञापन में लिखा है कि हँसता हुआ, लीला करता हुआ, स्त्रियों से छेड़ छाड़ करता, कुटुंबियों से मिलता, बिरादरी से बातें करता, परम स्वतन्त्र होता है। फिर इस दूषित शरीर के जो पड़ोसी हैं, उन्हें स्मरण भी नहीं करता।

(१४७) इस बात को यों समझो कि क्या मनुष्य का शरीर, क्या पितरों का शरीर, क्या देवताओं का शरीर, क्या प्रजापति, क्या ब्रह्मा का शरीर, सब के सब शीशों की भाँति होते हैं, और यह उत्तम पुरुष ज्योति की तरह इन सब से पृथक्, दूर, अपने परम ज्योति-स्वरूप में धड़ाधड़ जलता है, किन्तु सब में उसी तरह प्रतिबिंबित होता है जिस तरह ज्योति शीशों में प्रतिबिंबित होती है। प्रत्येक में अपने कमालों की महिमा दान करता है, और इसी के उजाले में ये सब अपने-अपने विशेष भाग पाते हैं, जो सब इसी के कल्पित भोग ख़याल किए जाते हैं।

(१४८) दूसरा कारण यह है कि शरीर एक गाड़ी के समान है और इंद्रियां घोड़ों के समान हैं जो उस में जुते हुए हैं, और अहंकार अपने समस्त लश्कर के साथ उस में

कि अपनी दातव्यता का कुछ बदला चाहता है, कदापि नहीं। वरन् जिस को जो कुछ अभीष्ट होता है मुफ्त विना माँगे देता है। और ऐसे दाता को परमदानी बोलते हैं। और परमदानी वास्तव में यही उत्तम पुरुष हैं, दूसरा नहीं।

(१५२) यद्यपि इस मनुष्य में प्रत्येक अंग क्या आँख, क्या कान, क्या नाक, सब किसी न किसी कारणसे सेवक हैं, और उसके जांच पड़ताल और गति के कारण वा साधन हैं, और उसी उत्तम पुरुष के कुशलेच्छा और बकसीस के पाने वाले हैं, किंतु मन तो इस की दिव्य आँख हो जाता है, क्योंकि जब यह मन अपने व्यवहारिक संबंध के कारण, जो अब तक दूर नहीं हुआ, शरीर के प्रतिकूल या अनूकूल को पाता है, तो प्रतिकूल को दूर करने के लिये और अनुकूल भोग देने के लिये प्रमाद के कारण सोच करता है, और शरीर में अहंकार के रूप (वा भाव) में बदलता है, और यही उत्तम पुरुष उस में आया मूढ़ पुरुष होता भोग पाता-सा और शरीर की रक्षा करता सा होता है।

(१५३) जब यह मन किसी प्रतिकूल या अनुकूल को नहीं पाता, वरन् छुट्टी पाता है, तो उसके ज्ञान के स्मरण में तरंगायित होता ब्रह्मा से ले च्यूँटी तक और आकाश से ले पृथिवी पर्यन्त अहंकार के भाव वा ख्याल में बदलता है और यही उत्तम पुरुष उस में आया हुआ पूर्ण ज्ञानी सा होता है, और ब्रह्मलोक के भोग भी अपने में ही निश्चय करता है, और दुखों को स्मरण भी नहीं करता। इस तरह यही मन उसकी दिव्य आँख हो जाता है।

(१५४) फलतः इस ज्ञानवान की मनो वृत्तियाँ दो प्रकार की हो जाती हैं-या तो काम-काज में प्रमादके कारण शरीरमें अहंकार का भान करता मूढ़ों के समान वर्ताव करता है,

कि अपनी दातव्यता का कुछ बदला चाहता है, कदापि नहीं। वरन् जिस को जो कुछ अभीष्ट होता है मुफ्त बिना माँगे देता है। और ऐसे दाता को परमदानी बोलते हैं। और परमदानी वास्तव में यही उत्तम पुरुष हैं, दूसरा नहीं।

(१५२) यद्यपि इस मनुष्य में प्रत्येक अंग क्या आँख, क्या कान, क्या नाक, सब किसी न किसी कारणसे सेवक हैं, और उसके जांच पड़ताल और गति के कारण वा साधन हैं, और उसी उत्तम पुरुष के कुशलच्छा और बकसीस के पाने वाले हैं, किंतु मन तो इस की दिव्य आँख हो जाता है, क्योंकि जब यह मन अपने व्यवहारिक संबंध के कारण, जो अब तक दूर नहीं हुआ, शरीर के प्रतिकूल या अनूकूल को पाता है, तो प्रतिकूल को दूर करने के लिये और अनु-कूल भोग देने के लिये प्रमाद के कारण सोच करता है, और शरीर में अहंकार के रूप (वा भाव) में बदलता है, और यही उत्तम पुरुष उस में आया मूढ़ पुरुष होता भोग पाता-सा और शरीर की रक्षा करता सा होता है।

(१५३) जब यह मन किसी प्रतिकूल या अनुकूल को नहीं पाता, वरन् छुट्टी पाता है, तो उसके ज्ञान के स्मरण में तरंगायित होता ब्रह्मा से ले च्यूँटी तक और आकाश से ले पृथिवी पर्यन्त अहंकार के भाव वा ख्याल में बदलता है और यही उत्तम पुरुष उस में आया हुआ पूर्ण ज्ञानी सा होता है, और ब्रह्मलोक के भोग भी अपने में ही निश्चय करता है, और दुखों को स्मरण भी नहीं करता। इस तरह यही मन उसकी दिव्य आँख हो जाता है।

(१५४) फलतः इस ज्ञानवान की मनो वृत्तियाँ दो प्रकार की हो जाती हैं-या तो काम-काज में प्रमादके कारण शरीरमें अहंकार का भान करता मूढ़ों के समान वर्ताव करता है,

हैं, और ईश्वरीय मनोवृत्तियाँ जो वास्तव में मायावृत्तियाँ हैं, अपने आप उसमें आ जाती हैं। फिर तो ईश्वर के अहंकार से अहंताभाव निश्चय करता ऐश्वर्य को भुक्त पाता है। फिर इस शरीर की याद भी नहीं करता। इस लिये सत्यसंकल्प सत्यकाम हो जाता है।

(१५८) जीवनमुक्ति में यद्यपि ब्रह्मलोक के भोग उसी समय ईश्वरी अहंकार से पाता है, किन्तु उसकी मायावृत्तियों से निश्चय नहीं करता, वरन् इसी मानवी मनोवृत्ति से निश्चय करता है। वह भी स्मरण के रूप में नहीं वरन् ज्ञान के रूप में। किन्तु जब व्यावहारिक संबंध छूट जाता है, तो फिर यह परिच्छिन्न अहंकार इत्यादि और शरीर तो जाते रहते हैं और ईश्वर की स्वाभाविक मायावृत्तियां संबंध पा जाती हैं, जिस का उल्लेख अनेक बार किया गया है। फिर तो वह मायावृत्तियों से भोग पाया हुआ उन्हीं का निश्चय करता द्युलोक के राज्य का स्वामी हो जाता है। यही प्राप्तव्य था।

(१५६) आदेश यह हुआ है कि ईश्वर की देह में जो सत्यसंकल्प और सत्यकामों का संबंध है व्यावहारिक नहीं, स्वाभाविक है, जैसा कि छाया का संबंध शरीर से स्वाभाविक है, और यह ईश्वर अपने शुद्ध सतोगुण प्रधान संकल्पों से पुरु व्यक्ति की मनोवृत्तियों और शरीरों में जो सुख है भोगता है और दुःखों का बिछौना हो जाता है, और विवेक के कारण अपने स्वरूप में स्थित नित्य मुक्त रहता है। यही वेदांतियों का सिद्धान्त है।

(१६०) पूर्ण ज्ञानी भी जीवनमुक्ति में अपने परमज्योति-स्वरूप में स्थित होता है, जो ईश्वर का परमपद है। किन्तु कर्मों के संबंध तक अपनी संक्षिप्त मनोवृत्तियों में सैर करता है। जब यह संबंध टूट जाता है, तो ईश्वर की माया वृत्तियाँ भी

हैं, और ईश्वरीय मनोवृत्तियाँ जो वास्तव में मायावृत्तियाँ हैं, अपने आप उसमें आ जाती हैं। फिर तो ईश्वर के अहंकार से अहंताभाव निश्चय करता ऐश्वर्य को भुक्त पाता है। फिर इस शरीर की याद भी नहीं करता। इस लिये सत्यसंकल्प सत्यकाम हो जाता है।

(१५८) जीवनमुक्ति में यद्यपि ब्रह्मलोक के भोग उसी समय ईश्वरी अहंकार से पाता है, किन्तु उसकी मायावृत्तियों से निश्चय नहीं करता, वरन् इसी मानवी मनोवृत्ति से निश्चय करता है। वह भी स्मरण के रूप में नहीं वरन् ज्ञान के रूप में। किन्तु जब व्यावहारिक संबंध छूट जाता है, तो फिर यह परिच्छिन्न अहंकार इत्यादि और शरीर तो जाते रहते हैं और ईश्वर की स्वाभाविक मायावृत्तियां संबंध पा जाती हैं, जिस का उल्लेख अनेक बार किया गया है। फिर तो वह मायावृत्तियों से भोग पाया हुआ उन्हीं का निश्चय करता द्युलोक के राज्य का स्वामी हो जाता है। यही प्रासव्य था।

(१५९) आदेश यह हुआ है कि ईश्वर की देह में जो सत्यसंकल्प और सत्यकामों का संबंध है व्यावहारिक नहीं, स्वाभाविक है, जैसा कि छाया का संबंध शरीर से स्वाभाविक है, और यह ईश्वर अपने शुद्ध सतोगुण प्रधान संकल्पों से हर व्यक्ति की मनोवृत्तियों और शरीरों में जो सुख है भोगता है और दुःखों का बिछौना हो जाता है, और विवेक के कारण अपने स्वरूप में स्थित नित्य मुक्त रहता है। यही वेदांतियों का सिद्धान्त है।

(१६०) पूर्ण ज्ञानी भी जीवनमुक्ति में अपने परमज्योति-स्वरूप में स्थित होता है, जो ईश्वर का परमपद है। किन्तु कर्मों के संबंध तक अपनी संक्षिप्त मनोवृत्तियों में सैर करता है। जब यह संबंध टूट जाता है, तो ईश्वर की माया वृत्तियाँ को

दुःख भी देती है और कर्मों के बंधन में भोग देती है, संकल्प के अनुसार नहीं देती। इसलिये वही आत्मा उसके भीतर आया जीव कहलाता है और दुख सुख का भोक्ता संसारी होता है।

(१६४) क्योंकि शास्त्राज्ञा व सिद्धान्त यही है कि अविद्या ज्ञान से नाश हो जाती है, जिस तरह अंधेरा दीपक से नाश हो जाता है। इसलिये पूर्ण ज्ञानी की अविद्या, जो उसके वास्तविक स्वरूप को ढांपती थी, दूर हो जाती है। परन्तु उस का एक भाग जब व्यावहारिक संबंध के कारण इस तरह स्थापित रहता है जिस तरह दीपक के तले अँधेरा रहता है, तो ज्ञानी को यद्यपि निज स्वरूप के अनुभव से जिसकी छाया माया है, आवरण नहीं होता, किंतु सत्यसंकल्प आदिक मनोरथों में, जो माया के धर्म हैं, व्यावहारिक आवरण के कारण मार्ग नहीं मिलता। जब यह कर्मों का संबंध समाप्त होता है, तो यह आवरण भी मृत्यु में अपने आप जाता रहता है। और माया भी छाया की भांति अपने आप उपस्थित प्राप्त होती है।

(१६५) और यही जीवनमुक्त आत्मा, विदेहमुक्त होता हुआ घटाकाश के समान महाकाश में प्राप्त होता है, क्योंकि घट को उपर्युक्त उदाहरण में तोड़ दें तो घटाकाश महाकाश में लीन होगा। इसी तरह जीवनमुक्त को मृत्यु में ईश्वराप्ति होती है, और यही ईश्वराप्ति शुद्धाप्ति है। और इसी ईश्वराप्ति का अनुवाद ईश्वर से मिलाप व अभेदता करते हैं। इस तरह ज्ञान से यह ईश्वरानुभव पाता है और फिर माया में जो कल्पित भोग हैं, उस में भी मुफ्त राह पाता है। इसी कारण ज्ञान प्रसाद का पद है, न्याय (जैसी करनी वैसी भरनी) का नहीं। क्योंकि इसमें केवल आत्मा की पहचान होती है, कुछ कर्म करना नहीं पड़ता।

(१६६) चूंकि अविद्या ज्ञान से दूर होती है कर्म से दूर

दुःख भी देती है और कर्मों के बंधन में भोग देती है, संकल्प के अनुसार नहीं देती। इसलिये वही आत्मा उसके भीतर आया जीव कहलाता है और दुख सुख का भोक्ता संसारी होता है।

(१६४) क्योंकि शास्त्राज्ञा व सिद्धान्त यही है कि अविद्या ज्ञान से नाश हो जाती है, जिस तरह अंधेरा दीपक से नाश हो जाता है। इसलिये पूर्ण ज्ञानी की अविद्या, जो उसके वास्तविक स्वरूप को ढांपती थी, दूर हो जाती है। परन्तु उस का एक भाग जब व्यावहारिक संबंध के कारण इस तरह स्थापित रहता है जिस तरह दीपक के तले अंधेरा रहता है, तो ज्ञानी को यद्यपि निज स्वरूप के अनुभव से जिसकी छाया माया है, आवरण नहीं होता, किंतु सत्यसंकल्प आदिक मनोरथों में, जो माया के धर्म हैं, व्यावहारिक आवरण के कारण मार्ग नहीं मिलता। जब यह कर्मों का संबंध समाप्त होता है, तो यह आवरण भी मृत्यु में अपने आप जाता रहता है। और माया भी छाया की भांति अपने आप उपस्थित प्राप्त होती है।

(१६५) और यही जीवनमुक्त आत्मा, विदेहमुक्त होता हुआ घटाकाश के समान महाकाश में प्राप्त होता है, क्योंकि घट को उपर्युक्त उदाहरण में तोड़ दें तो घटाकाश महाकाश में लीन होगा। इसी तरह जीवनमुक्त को मृत्यु में ईश्वराप्ति होती है, और यही ईश्वराप्ति शुद्धाप्ति है। और इसी ईश्वराप्ति का अनुवाद ईश्वर से मिलाप व अभेदता करते हैं। इस तरह ज्ञान से यह ईश्वरानुभव पाता है और फिर माया में जो कल्पित भोग हैं, उस में भी मुफ्त राह पाता है। इसी कारण ज्ञान प्रसाद का पद है, न्याय (जैसी करनी वैसी भरनी) का नहीं। क्योंकि इसमें केवल आत्मा की पहचान होती है, कुछ कर्म करना नहीं पड़ता।

(१६६) चूंकि अविद्या ज्ञान से दूर होती है कर्म से दूर

हुआ सर्व शक्तिमान होता है। अस्तु, ऐसा ब्रह्मा ने कहा।

(१६६) यही शिक्षा फिर ब्रह्मा ने अपने पुत्र कश्यप को द और कश्यप ने मनुजी को सिखलाया। और मनुजी ने भारत क प्रजा को सिखाया जो हम तक चली आती है। और इसी शिक्ष को बाबा नगीनासिंह ने उर्दू जानने वालों की शिक्षा के लि वेद से भाषा में किया। अब जो कोई इस शिक्षा को पूर्णज्ञान और ब्रह्मवेत्ताओं से सुनता है, मुफ्त में मुक्त होता है, फि लौटता नहीं, हाँ फिर लौटता नहीं।

सातवां अध्याय।

(१) ऊपर के अध्याय में यह जतलाया गया है कि ब्रह्म-लोक में संकल्प से भोग उठते हैं। यह नहीं जतलाया गया कि यह भोग बाहिर के हैं, या भीतर (मन) के। इस लिये अब जत-लाया जाता है कि जो भोग संकल्प से ब्रह्मलोक में उठते हैं वे कल्पना मात्र या मानसिक होते हैं, जैसे कि स्वप्न में भोग उठते हैं। यद्यपि इतना अंतर है कि स्वप्न में जो भोग उठते हैं, उनको स्थिरता नहीं होती और साथ ही वे संकल्प के अधीन नहीं, वरन् कर्मों के अधीन होते हैं।

(२) ब्रह्मलोक में भी यद्यपि स्वप्न के अनुसार काल्पनिक भोग उठते हैं, तो भी वह बाह्य वस्तुओं के अनुसार स्थिर हैं, और संकल्प के अधीन हैं, कर्म के अधीन नहीं। और यह हो सकता है कि यदि स्वप्न के भोग भी चिरस्थायी होजायँ तो वे भी बाहिर के समझे जायँ, किंतु उनकी दशा चूंकि ऐसी है कि एक क्षण में हाथी उठता है और दूसरे क्षण में वही हाथी ऊँट हो जाता है, और साथ ही नींद के कारण उनकी पहचान पूरी पहचान

हुआ सर्व शक्तिमान होता है। अस्तु, ऐसा ब्रह्मा ने कहा।

(१६६) यही शिक्षा फिर ब्रह्मा ने अपने पुत्र कश्यप को दी और कश्यप ने मनुजी को सिखलाया। और मनुजी ने भारत की प्रजा को सिखाया जो हम तक चली आती है। और इसी शिक्षा को बाबा नगीनासिंह ने उर्दू जानने वालों की शिक्षा के लिये वेद से भाषा में किया। अब जो कोई इस शिक्षा को पूर्णज्ञानी और ब्रह्मदर्शी से सुनता है, मुफ्त में मुक्त होता है, फिर लौटता नहीं, हाँ फिर लौटता नहीं।

सातवाँ अध्याय।

(१) ऊपर के अध्याय में यह जतलाया गया है कि ब्रह्म-लोक में संकल्प से भोग उठते हैं। यह नहीं जतलाया गया कि यह भोग बाहिर के हैं, या भीतर (मन) के। इस लिये अब जत-लाया जाता है कि जो भोग संकल्प से ब्रह्मलोक में उठते हैं वे कल्पना मात्र या मानसिक होते हैं, जैसे कि स्वप्न में भोग उठते हैं। यद्यपि इतना अंतर है कि स्वप्न में जो भोग उठते हैं, उनको स्थिरता नहीं होती और साथ ही वे संकल्प के अधीन नहीं, वरन् कर्मों के अधीन होते हैं।

(२) ब्रह्मलोक में भी यद्यपि स्वप्न के अनुसार काल्पनिक भोग उठते हैं, तो भी वह बाह्य वस्तुओं के अनुसार स्थिर हैं, और संकल्प के अधीन हैं, कर्म के अधीन नहीं। और यह हो सकता है कि यदि स्वप्न के भोग भी चिरस्थायी होजायँ तो वे भी बाहिर के समझे जायँ, किंतु उनकी दशा चूंकि ऐसी है कि एक क्षण में हाथी उठता है और दूसरे क्षण में वही हाथी ऊँट हो जाता है, और साथ ही नींद के कारण उनकी पहचान पूरी पहचान

ऐश्वर्य के लिये हैं या प्राणियों के भोग के लिये। वह संकल्प जो उसके अपने भोग के लिये हैं वह तो पूर्ण स्वतंत्र हैं, और जो प्राणियों के भोग के लिये हैं वे कर्मों के अधीन हैं. जैसे उन प्राणियोंके कर्म होते हैं; वैसे भोग देने के संकल्प उठते हैं। इसी कारण कर्म-कांड में यह निश्चय है "जैसा करता है वैसा पाता है," और यही उसके सङ्कल्पों का ईश्वरीय नियम है।

(७) जब कल्प हो चुकता है, तो ईश्वर के संकल्प भी उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह हमारे सङ्कल्प भी घनसुषुप्ति में नष्ट हो जाते हैं, परंतु जिस प्रकार घनसुषुप्ति से निकलते समय हमारे सङ्कल्प कर्मों के अधीन उठते हैं और जाग्रत में आते हैं, उसी तरह ईश्वर के सङ्कल्प भी संसार की पुनरुत्पत्ति के लिये कर्मों के अधीन उठते हैं और सृष्टि उत्पन्न करके प्रत्येक प्राणी के भोग के लिये एक एक संकल्प, जो उनके कर्मों के अनुसार उठता है, कल्प तक स्थिर रहता है।

(८) चूंकि वह सत्य संकल्प है, इसलिये बिना यंत्र और बिना कर्म के क्या धरती क्या आकाश, जो कुछ उनमें है, उसी क्रम से जैसा कि श्रुतियाँ वर्णन करती हैं, आँख की झपक में उसमें काल्पनिक (ख्याली) उत्पन्न होजाते हैं जैसा कि मनुष्य के ख्याल में स्वप्न का लोक स्वप्न में उत्पन्न होता है। और यह सब यद्यपि काल्पनिक या ईश्वरीय संकल्पमय हैं, तो भी मनुष्य का ख्याल ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा निकलता ईश्वर की संकल्प-जन्य सृष्टि में लगता हुआ उसी के अधीन आकार पकड़ता उन्हें देखता और भोग पाता है।

(९) इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जो जाग्रत में दिखाई देती है दोहरे ख्याल वा संकल्प से उत्पन्न हुई है, एक असलीयत तो उसकी ईश्वर के ख्याल व संकल्प से है, और दूसरी तह उसकी प्राणियों के ख्याल वा संकल्प से है। इस कारण स्वप्न से उठते

ऐश्वर्य के लिये हैं या प्राणियों के भोग के लिये। वह संकल्प जो उसके अपने भोग के लिये हैं वह तो पूर्ण स्वतंत्र हैं, और जो प्राणियों के भोग के लिये हैं वे कर्मों के अधीन हैं. जैसे उन प्राणियोंके कर्म होते हैं; वैसे भोग देने के संकल्प उठते हैं। इसी कारण कर्म-कांड में यह निश्चय है "जैसा करता है वैसा पाता है," और यही उसके सङ्कल्पों का ईश्वरीय नियम है।

(७) जब कल्प हो चुकता है, तो ईश्वर के संकल्प भी उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह हमारे सङ्कल्प भी घनसुषुप्ति में नष्ट हो जाते हैं, परंतु जिस प्रकार घनसुषुप्ति से निकलते समय हमारे सङ्कल्प कर्मों के अधीन उठते हैं और जाग्रत में आते हैं, उसी तरह ईश्वर के सङ्कल्प भी संसार की पुनरुत्पत्ति के लिये कर्मों के अधीन उठते हैं और सृष्टि उत्पन्न करके प्रत्येक प्राणी के भोग के लिये एक एक संकल्प, जो उनके कर्मों के अनुसार उठता है, कल्प तक स्थिर रहता है।

(८) चूंकि वह सत्य संकल्प है, इसलिये बिना यंत्र और बिना कर्म के क्या धरती क्या आकाश, जो कुछ उनमें है, उसी क्रम से जैसा कि श्रुतियाँ वर्णन करती हैं, आँख की झपक में उसमें काल्पनिक (ख्याली) उत्पन्न होजाते हैं जैसा कि मनुष्य के ख्याल में स्वप्न का लोक स्वप्न में उत्पन्न होता है। और यह सब यद्यपि काल्पनिक या ईश्वरीय संकल्पमय हैं, तो भी मनुष्य का ख्याल ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा निकलता ईश्वर की संकल्प-जन्य सृष्टि में लगता हुआ उसी के अधीन आकार पकड़ता उन्हें देखता और भोग पाता है।

(९) इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जो जाग्रत में दिखाई देती है दोहरे ख्याल वा संकल्प से उत्पन्न हुई है, एक असलीयत तो उसकी ईश्वर के ख्याल व संकल्प से है, और दूसरी तह उसकी प्राणियों के ख्याल वा संकल्प से है। इस कारण स्वप्न से उठते

विश्वास से मानवी उत्पत्ति कहलाती है। इस ईश्वरीय उत्पत्ति को ईश्वर-सृष्टि और मानवी उत्पत्ति को जीव-सृष्टि कहते हैं।

(१३) फिर इस हेतु कि जीव-सृष्टि यद्यपि ईश्वर-सृष्टि के अधीन है, तो भी इस (ईश्वर) का संकल्प तो शुद्ध सतोगुण का है और उस (जीव) का संकल्प तमोगुण-रजोगुण मिश्रित सतोगुण का है, इसलिये शुद्ध नहीं। इस (ईश्वर) के संकल्प में जो शुद्ध और स्पष्ट तर सृष्टि होती है, ज्ञान और न्याय से होती है, उस (जीव) के संकल्प में जो तह उत्पन्न होती है, कुछ तो ज्ञान और न्याय से होती है कुछ अज्ञान और अन्याय से। वरन् इस (ईश्वर) की अधीनता से निकलते हुए वह एक नवीन सृष्टि भी उसमें कर लेता है।

(१४) कल्पना करो कि ईश्वर के ख्याल वा संकल्प में; जो संकल्प कि शुद्ध, ज्ञान और न्याययुक्त है, एक स्त्री उठती है जिससे वह अपने कर्मों के अनुसार भोग पावे, और जीवों के ख्याल भी उसके रूप के अनुसार दूसरी तह उस में उत्पन्न करते उसे दूने रूप में स्त्री देखते हैं, जिससे पिता तो लड़की और भाई उसे बहन और पति उसे स्त्री और भाई के लड़के उसे बूआ और देवर के लड़के चची इत्यादि अलग नई सृष्टि उत्पन्न करते हैं।

(१५) ईश्वर के शुद्ध ख्यालमें तो उस स्त्री की आकृति जैसा कि स्वाभाविक रूप रखती है, उत्पन्न हुई है, लड़कीपन, बहनपन, स्त्री-पन, तो कभी उसमें नहीं बनाया गया, तो भी जीवों ने उसमें यह नवीन कल्पना कर ली है, यही इस जीव की ख्याली सृष्टि एक तह है और वे उस तह के अनुसार बर्ताव करते हैं।

(१६) जो सृष्टि ईश्वर के संकल्प की है, वह तो दुख-सुख नहीं देती, वरन् जीव-सृष्टि, दुख-सुख का कारण होती है। क्योंकि कल्पना करो कि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त के पुत्र दूर कहीं व्यापार के लिये चले गये, ब्रह्मदत्त का पुत्र तो किसी राज्य

विश्वास से मानवी उत्पत्ति कहलाती है। इस ईश्वरीय उत्पत्ति को ईश्वर-सृष्टि और मानवी उत्पत्ति को जीव-सृष्टि कहते हैं।

(१३) फिर इस हेतु कि जीव-सृष्टि यद्यपि ईश्वर-सृष्टि के अधीन है, तो भी इस (ईश्वर) का संकल्प तो शुद्ध सतोगुण का है और उस (जीव) का संकल्प तमोगुण-रजोगुण मिश्रित सतोगुण का है, इसलिये शुद्ध नहीं। इस (ईश्वर) के संकल्प में जो शुद्ध और स्पष्ट तर सृष्टि होती है, ज्ञान और न्याय से होती है, उस (जीव) के संकल्प में जो तह उत्पन्न होती है, कुछ तो ज्ञान और न्याय से होती है कुछ अज्ञान और अन्याय से। वरन् इस (ईश्वर) की अधीनता से निकलते हुए वह एक नवीन सृष्टि भी उसमें कर लेता है।

(१४) कल्पना करो कि ईश्वर के ख्याल वा संकल्प में; जो संकल्प कि शुद्ध, ज्ञान और न्याययुक्त है, एक स्त्री उठती है, जिससे वह अपने कर्मों के अनुसार भोग पावे, और जीवों के ख्याल भी उसके रूप के अनुसार दूसरी तह उस में उत्पन्न करते उसे दूने रूप में स्त्री देखते हैं, जिससे पिता तो लड़की और भाई उसे बहन और पति उसे स्त्री और भाई के लड़के उसे बूआ और देवर के लड़के चची इत्यादि अलग नई सृष्टि उत्पन्न करते हैं।

(१५) ईश्वर के शुद्ध ख्यालमें तो उस स्त्री की आकृति जैसा कि स्वाभाविक रूप रखती है, उत्पन्न हुई है, लड़की पन, बहनपन, स्त्री-पन, तो कभी उसमें नहीं बनाया गया, तो भी जीवों ने उसमें यह नवीन कल्पना कर ली है, यही इस जीव की ख्याली सृष्टि एक तह है और वे उस तह के अनुसार बर्ताव करते हैं।

(१६) जो सृष्टि ईश्वर के संकल्प की है, वह तो दुख-सुख नहीं देती, वरन् जीव-सृष्टि, दुख-सुख का कारण होती है। क्योंकि कल्पना करो कि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त के पुत्र दूर कहीं व्यापार के लिये चले गये, ब्रह्मदत्त का पुत्र तो किसी राज्य

सृष्टि में मोह करता हुआ शोक और हर्ष पाता है।

(२०) फलतः समस्त सृष्टि, क्या जाग्रत क्या स्वप्न क्या ब्रह्मलोक, सबही सब काल्पनिक हैं, परन्तु प्रजापति के संकल्प की सृष्टि पहली तह है और कर्मविधान और न्याय से रची हुई है, और उसमें दूसरी तह मनुष्य के संकल्प की है। इसलिये जाग्रत का संसार तो सत्य ज्ञात होता है और स्वप्न का केवल ख्याल। और फिर इस कारण कि ब्रह्मलोक के भोग केवल प्रजापति के खयाल के हैं, शुद्ध सतोगुण के बनाये गए हैं, और संकल्प से उत्पन्न हुए कल्प तक बने करते हैं और यह संसार कल्प तक नहीं वरन् निश्चय समय तक स्थिर रहता है, इस लिये ब्रह्मलोक के भोग सत हैं और यहां के मिथ्या व असत।

(२१) तो भी क्या ब्रह्मलोक, क्या जाग्रत, क्या स्वप्न सबके सब उचित नहीं। उचित तो यही आत्मा है, और यही सत है, यह सब तो ख्याली कल्पित हैं। यद्यपि इस संसार की अपेक्षा ब्रह्मलोक भी एक दृष्टि से अमृत कहलाता है और शुभकर्मों का फल रूप है, किंतु ये सबके सब इसी आत्मा की छाया या विभूतियाँ हैं। जिस प्रकार मनुष्य की छाया असत, मिथ्या ज्ञात है, उसी तरह यह सब आत्मा के आगे छाया की भाँति असत वा मिथ्या हैं।

(२२) मायाविदों की पूरी समझ के लिये हम यहाँ इसको विस्तार से लिखते हैं। क्योंकि जब तक उसे यह समझ में न आयेगा कि यह जो कुछ दिखाई देता है, कल्पित है, और जब तक यह आत्मज्ञान भावातीत नहीं हो जाता, तब तक उसके बंधन से निकलना और छुटकारा पाना कठिन है। क्योंकि यह विचित्र जादू-घर है जो अनहुआ दिखाई देता है और मृगतृष्णा के जल में यों ही गोते खाता है।

सृष्टि में मोह करता हुआ शोक और हर्ष पाता है।

(२०) फलतः समस्त सृष्टि, क्या जाग्रत क्या स्वप्न क्या ब्रह्मलोक, सबही सब काल्पनिक हैं, परन्तु प्रजापति के संकल्प की सृष्टि पहली तह है और क्रमविधान और न्याय से रची हुई है, और उसमें दूसरी तह मनुष्य के संकल्प की है। इसलिये जाग्रत का संसार तो सत्य ज्ञात होता है और स्वप्न का केवल ख्याल। और फिर इस कारण कि ब्रह्मलोक के भोग केवल प्रजापति के खयाल के हैं, शुद्ध सतोगुण के बनाये गए हैं, और संकल्प से उत्पन्न हुए कल्प तक बने करते हैं और यह संसार कल्प तक नहीं बरन् निश्चित समय तक स्थिर रहता है, इस लिये ब्रह्मलोक के भोग सत हैं और यहां के मिथ्या व असत।

(२१) तो भी क्या ब्रह्मलोक, क्या जाग्रत, क्या स्वप्न सबके सब उचित नहीं। उचित तो यही आत्मा है, और यही सत है, वह सब तो ख्याली कल्पित हैं। यद्यपि इस संसार की अपेक्षा ब्रह्मलोक भी एक दृष्टि से अमृत कहलाता है और शुभकर्मों का फल रूप है, किंतु ये सबके सब इसी आत्मा की छाया या विभूतियाँ हैं। जिस प्रकार मनुष्य की छाया असत, मिथ्या ज्ञात है, उसी तरह यह सब आत्मा के आगे छाया की भाँति असत वा मिथ्या है।

(२२) भाषाविदों की पूरी समझ के लिये हम यहाँ इसको विस्तार से लिखते हैं। क्योंकि जब तक उसे यह समझ में न आयेगा कि यह जो कुछ दिखाई देता है, कल्पित है, और जब तक यह आत्मभान भावातीत नहीं हो जाता, तब तक उसके बंधन से निकलना और छुटकारा पाना कठिन है। क्योंकि यह विचित्र जादू-घर है जो अनहुआ दिखाई देता है और मृगतृष्णा के जल में योंही गोते खाता है।

न्यूनाधिक, प्रसन्न अप्रसन्न, अनुकूल व नरम होकर जमा हुई हैं। इसलिये एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् प्रकट होती है। वास्तव में यही पञ्च तन्मात्रा हैं।

(२६) जब ये तन्मात्रा संसार की असलीयत ज्ञात हुई, तो अब विवेचक के लिये आवश्यक है कि इन तन्मात्रा की जड़ (निकास) का पता लगावे कि वे क्या हैं। बुद्धिमान् मनुष्य थोड़े ग़ौर से जान सकता है कि रंग-रूप का स्रोत या निकास वास्तव में नेत्र हैं, क्योंकि विना आँख के रंग-रूप के प्रमाण कुछ भी नहीं मिलते, वरन् यदि कल्पना करें कि संसार में नेत्र न होते, तो कोई भी तत्ववेत्ता रंग-रूप का प्रमाण न दे सकता। अब भी विना आँख के कोई रंग रूप का प्रमाण बतलावे, तो नहीं मिलेगा। इससे ज्ञात हुआ कि रंग-रूप का स्रोत वास्तव में नेत्र हैं, और यह सब रूप क्या लाल क्या नीला क्या पीला आँख की छाया और आँख की विभूतियां हैं, जैसे धूप सूर्य की और प्रकाश की विभूतियाँ हैं।

(२७) जिस प्रकार धूप सूर्य की विभूति और छाया वा किरण है, उसी तरह संसार का रंग-रूप नेत्र की विभूति और छाया वा किरण है। वरन् जिस तरह सूर्य धूप का स्रोत है और उससे धूप उत्पन्न होती है। उसी तरह संसार का रङ्ग-रूप नीला-पीला जो कुछ है, सबका स्रोत आंख है। और ये सब आँखों से उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह धूप सूर्य से उत्पन्न होती है।

(२८) फिर इसलिये कि सुगंध-दुर्गंध संसार की दूसरी सत्ता भी नाक की विभूतियां हैं। इसलिये नासिका ही उनका स्रोत है। क्योंकि नाक न हो तो क्या खुशबू (सुगन्ध) क्या बदबू (दुर्गन्ध), क्या इन्तेयात क्या सड़ांद कुछ भी विद्यमान न हों, वरन् ये सब नाक की किरणें नाक रूप हैं जैसे सर्य

न्यूनाधिक, प्रसन्न अप्रसन्न, अनुकूल व नरम होकर जमा हुई हैं। इसलिये एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् प्रकट होती है। वास्तव में यही पञ्च तन्मात्रा हैं।

(२६) जब ये तन्मात्रा संसार की असलीयत ज्ञात हुईं, तो अब विवेचक के लिये आवश्यक है कि इन तन्मात्रा की जड़ (निकास) का पता लगावे कि ये क्या हैं। बुद्धिमान् मनुष्य थोड़े ग़ौर से जान सकता है कि रंग-रूप का स्रोत वा निकास वास्तव में नेत्र हैं, क्योंकि बिना आँख के रंग-रूप के प्रमाण कुछ भी नहीं मिलते, वरन् यदि कल्पना करें कि संसार में नेत्र न होते, तो कोई भी तत्ववेत्ता रंग-रूप का प्रमाण न दे सकता। अब भी बिना आँख के कोई रंग रूप का प्रमाण बतलावे, तो नहीं मिलेगा। इससे ज्ञात हुआ कि रंग-रूप का स्रोत वास्तव में नेत्र हैं, और यह सब रूप क्या लाल क्या नीला क्या पीला आँख की छाया और आँख की विभूतियां हैं, जैसे धूप सूर्य की और प्रकाश की विभूतियाँ हैं।

(२७) जिस प्रकार धूप सूर्य की विभूति और छाया वा किरण है, उसी तरह संसार का रंग-रूप नेत्र की विभूति और छाया वा किरण है। वरन् जिस तरह सूर्य धूप का स्रोत है और उससे धूप उत्पन्न होती है। उसी तरह संसार का रङ्ग-रूप नीला-पीला जो कुछ है, सबका स्रोत आंख है। और ये सब आँखों से उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह धूप सूर्य से उत्पन्न होती है।

(२८) फिर इसलिये कि सुगंध-दुर्गंध संसार की दूसरी सत्ता भी नाक की विभूतियां हैं। इसलिये नासिका ही उनका स्रोत है। क्योंकि नाक न हो तो क्या खुशबू (सुगन्ध) क्या बदबू (दुर्गन्ध), क्या इत्रेयात क्या सड़ांद कुछ भी विद्यमान न हो; वरन् ये सब नाक की किरणें नाक रूप हैं जैसे सूर्य

(३२) जब ज्ञात हुआ कि संसार की सत्यता मिश्रित पञ्च तन्मात्रा (रङ्ग, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श) से बनी है और ये पञ्च तन्मात्रा आँख कान जिह्वा नाक और त्वक् की विभूतियाँ वही रूप हैं और यही उनकी सत्यता है, तो सिद्ध हुआ कि बाहिर में वास्तव में कुछ भी विद्यमान नहीं, वरन् पंच विधि इंद्रियाँ ही मनुष्य की विद्यमान है, और मनुष्य के अतिरिक्त संसार कुछ भी सत्यता नहीं रखता, वरन् मनुष्य ही संसार का स्रोत है और मनुष्य ही संसार का रूप होकर फैला है जैसा कि, सूर्य धूप होकर फैला है।

(३३) अब हम इन में भी विचार करते हैं कि ये पंचइन्द्रियाँ जो संसार की स्रोत हैं वास्तव में विद्यमान हैं या कि यह भी कोई दूसरा स्रोत अपना रखती हैं, तो थोड़े गौर से परिज्ञात हो सकता है कि यह भी वास्तव में विद्यमान नहीं हैं। इनका स्रोत भी मन है।

(३४) क्योंकि जब मन होता है, तब यह पंचविध ज्ञानेन्द्रिय भी होते हैं, जब मन नहीं होता, तो ये भी नहीं होते। देखो जब नींद होती है, तो ये सब ज्ञानेन्द्रिय मनमें उसी तरह लय हो जाते हैं जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्यास्त के समय सूर्य में लय हो जाती हैं। जब संसार के पञ्चविध तन्मात्रा क्या रंग क्या शब्द क्या रस क्या गंध क्या स्पर्श नींद के समय इंद्रियों में लय हो जाते हैं और ज्ञानेन्द्रिय मनमें, तो ज्ञात हुआ कि सब संसार का स्रोत वास्तव में मन है और मनही फैलकर इन्द्रिय और विषय रूप होकर संसार हो जाता है, सिवाय मनके कुछ भी विद्यमान नहीं।

(३५) जबकि सारा संसार मनही का फैलाव है और मनही की फैलावट वास्तव में ख्याल वा संकल्प है, तो सिद्ध हुआ कि संसार ख्याली वा संकल्पजन्य है, सिवाय स्वप्न और कल्पना के

(३२) जब ज्ञात हुआ कि संसार की सत्यता मिश्रित पञ्च तन्मात्रा (रङ्ग, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श) से बनी है और ये पञ्च तन्मात्रा आँख कान जिह्वा नाक और त्वक् की विभूतियाँ वही रूप हैं और यही उनकी सत्यता है, तो सिद्ध हुआ कि बाहिर में वास्तव में कुछ भी विद्यमान नहीं, वरन् पंचविधि इंद्रियाँ ही मनुष्य की विद्यमान है, और मनुष्य के अतिरिक्त संसार कुछ भी सत्यता नहीं रखता, वरन् मनुष्य ही संसार का स्रोत है और मनुष्य ही संसार का रूप होकर फैला है जैसा कि, सूर्य धूप होकर फैला है।

(३३) अब हम इन में भी विचार करते हैं कि ये पंचइन्द्रियाँ जो संसार की स्रोत हैं वास्तव में विद्यमान हैं या कि यह भी कोई दूसरा स्रोत अपना रखती हैं, तो थोड़े गौर से परिज्ञात हो सकता है कि यह भी वास्तव में विद्यमान नहीं हैं। इनका स्रोत भी मन है।

(३४) क्योंकि जब मन होता है, तब यह पंचविध ज्ञानेन्द्रिय भी होते हैं, जब मन नहीं होता, तो ये भी नहीं होते। देखो जब नींद होती है, तो ये सब ज्ञानेन्द्रिय मनमें उसी तरह लय हो जाते हैं जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्यास्त के समय सूर्य में लय हो जाती हैं। जब संसार के पञ्चविध तन्मात्रा क्या रंग क्या शब्द क्या रस क्या गंध क्या स्पर्श नींद के समय इंद्रियों में लय हो जाते हैं और ज्ञानेन्द्रिय मनमें, तो ज्ञात हुआ कि सब संसार का स्रोत वास्तव में मन है और मनही फैलकर इन्द्रिय और विषय रूप होकर संसार हो जाता है, सिवाय मनके कुछ भी विद्यमान नहीं।

(३५) जबकि सारा संसार मनही का फैलाव है और मनही की फैलावट वास्तव में ख्याल वा संकल्प है, तो सिद्ध हुआ कि संसार ख्याली वा संकल्पजन्य है, सिवाय स्वप्न और कल्पना के

आत्मा अपनी निजी महिमा में अवस्थित होता है, तो मनभी उसी तरह आत्मा में लय हो जाता है जिस तरह कि सूर्य में उसकी किरणें लय हो जाती हैं।

(३९) और जब आत्मा जाग्रत व स्वप्न में होता है, तो वह मन उसी तरह उस में से निकल आता है जैसा कि सूर्य की किरणें भी सूर्य से निकल आती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि क्या संसार, क्या इन्द्रियाँ, क्या मन, सबका स्रोत दर स्रोत, जिस का दूसरा कोई स्रोत नहीं, आत्मा है, और यह सब आत्मा की विभूतियाँ आत्म-रूप हैं। आत्मा ही प्रत्येक विभूति में आया देखता और दिखाई देता है, आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं। और यही नित्य [स्वयंभू] और यही ब्रह्म है। और इस हेतु कि सब मुरादें इसी की विभूतियाँ हैं, यही आप्तकाम, यही स्वतंत्र वा वेपरवाह है।

(४०) अब समझो कि मन एक खयाल है, क्योंकि जब मन में तरंग और परिवर्तन होता है तो उसी को खयाल बोलते हैं, और जब यह खयाल स्थिर होता है, तो उसी को मन बोलते हैं, वास्तव में यह केवल खयाल है। और यह स्पष्ट है कि खयाल भी कुछ सत्ता नहीं रखता वरन् अनहुआ होता है। इसी कारण जो वस्तुएँ अनहुई दिखाई दिया करती हैं उसे "योंही खयाल है" ऐसा निश्चय किया करते हैं।

(४१) देखो, जब रस्सी में सर्प और सीप में रजत की भ्रांति होती है, तो वास्तव में रस्सी या सीप विद्यमान होती है, परंतु खयाल सर्प या रजत पर पड़ता है। असली रस्सी और सीप का खयाल नहीं करता, वरन् सर्प और रजत का खयाल पकड़ता और रज्जु और सीप से एक हुआ सर्प और रजत को दिखाता है, रज्जु और सीप को ढाँप लेता है, इसी कारण से मनुष्य निश्चय करता है कि यह सर्प है, यह रजत है।

आत्मा अपनी निजी महिमा में अवस्थित होता है, तो मनभी उसी तरह आत्मा में लय हो जाता है जिस तरह कि सूर्य में उसकी किरणें लय हो जाती हैं।

(३६) और जब आत्मा जाग्रत व स्वप्न में होता है, तो यह मन उसी तरह उस में से निकल आता है जैसा कि सूर्य की किरणें भी सूर्य से निकल आती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि क्या संसार, क्या इन्द्रियाँ, क्या मन, सबका स्रोत दर स्रोत, जिस का दूसरा कोई स्रोत नहीं, आत्मा है, और यह सब आत्मा की विभूतियाँ आत्म-रूप हैं। आत्मा ही प्रत्येक विभूति में आया देखता और दिखाई देता है, आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं। और यही नित्य [स्वयंभू] और यही ब्रह्म है। और इस हेतु कि सब मुरादें इसी की विभूतियाँ हैं, यही आप्तकाम, यही स्वतंत्र वा बेपरवाह है।

(४०) अब समझो कि मन एक ख़याल हैं, क्योंकि जब मन में तरंग और परिवर्तन होता है तो उसी को ख़याल बोलते हैं, और जब यह ख़याल स्थिर होता है, तो उसी को मन बोलते हैं, वास्तव में यह केवल ख़याल है। और यह स्पष्ट है कि ख़याल भी कुछ सत्ता नहीं रखता बरन् अनहुआ होता है। इसी कारण जो वस्तुएँ अनहुई दिखाई दिया करती हैं उसे "योंही ख़याल है" ऐसा निश्चय किया करते हैं।

(४१) देखो, जब रस्सी में सर्प और सीप में रजत की भ्रांति होती है, तो वास्तव में रस्सी या सीप विद्यमान होती है, परंतु ख़याल सर्प या रजत पर पड़ता है। असली रस्सी और सीप का ख़याल नहीं करता, बरन् सर्प और रजत का ख़याल पकड़ता और रज्जु और सीप से एक हुआ सर्प और रजत को दिखाता है, रज्जु और सीप को ढाँप लेता है, इसी कारण से मनुष्य निश्चय करता है कि यह सर्प है, यह रजत है।

रहता है, बदलता नहीं, ख़्याल बदलता है।

(४५) इस हेतु कि ख़्याल वास्तव में अस्तित्वहीन वा केवल देखने मात्र वस्तु है, इसलिये आत्मा का गुण नहीं और न उसमें आरोपित वा शामिल है। इसलिये आत्मा का गुण ख़्याल नहीं और न ख्याल उसमें आरोपित है। वरन् जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में सर्प का ख्याल असतमात्र है, उसी तरह यह ख़्याल या मन भी असतमात्र है, इसे संस्कृत में कल्पित और मिथ्या बोलते हैं। और जिस तरह सर्प की भ्रांति का रज्जु अधिष्ठान वा आश्रय है, उसी तरह इस ख्याल का भी अधिष्ठान आत्मा है, तो भी जिस तरह सर्प की भ्रान्ति का अधिष्ठान वा आधार (रज्जु) उसे स्पर्श नहीं पाता, उसी तरह आत्मा भी ख़्याल से स्पर्श नहीं पाता वरन् ज्यों का त्यों निर्मल (निर्लिप्त) रहता है।

(४६) अब यों समझो कि संसार के संकल्प में इस ख़्याल की द्विगुण तरंग है। पहली तरंग तो उसकी तत्व या भूतों और मनुष्यों की उत्पत्ति है। किंतु जब मनुष्य का विकाश हुआ, तो वही ख़्याल उसके हृदय कमल में संबंधित हुआ, दूसरी तरंग संसार के रूपमें मारता है जैसा कि स्वप्न में भली भाँति दिखाई देता है। परंतु जब यह ख़्याल इंद्रियों के मार्गसे फैलता अपनी पहली तरंग के संसार में उसी रूपमें तरंगायित होता है, तो संसार को दुगने संकल्प से बनाता है और मनुष्य की दृष्टि का कारण होता है। इस प्रकार ईश्वर-कृत और जीव-कृत सृष्टि से द्विगुण बना हुआ संसार सत दिखाई देता है, वास्तवमें ख़्याली है कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् केवल दिखावे का है, अस्तित्व कुछ भी नहीं।

(४७) इसी ख़्याल को पहली तरंग की दृष्टि से माया बोलते हैं और इसी ख़्याल को दूसरी तरंग की दृष्टि से मन बोलते

रहता है, बदलता नहीं, खयाल बदलता है।

(४५) इस हेतु कि खयाल वास्तव में अस्तित्वहीन वा केवल देखने मात्र वस्तु है, इसलिये आत्मा का गुण नहीं और न उसमें आरोपित वा शामिल है। इसलिये आत्मा का गुण खयाल नहीं और न खयाल उसमें आरोपित है। वरन् जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में सर्प का ख्याल असतमात्र है, उसी तरह यह खयाल या मन भी असतमात्र है, इसे संस्कृत में कल्पित और मिथ्या बोलते हैं। और जिस तरह सर्प की भ्रांति का रज्जु अधिष्ठान वा आश्रय है, उसी तरह इस ख्याल का भी अधिष्ठान आत्मा है, तो भी जिस तरह सर्प की भ्रान्ति का अधिष्ठान वा आधार (रज्जु) उसे स्पर्श नहीं पाता, उसी तरह आत्मा भी खयाल से स्पर्श नहीं पाता वरन् ज्यों का त्यों निर्मल (निर्लिप्त) रहता है।

(४६) अब यों समझो कि संसार के संकल्प में इस खयाल की द्विगुण तरंग है। पहली तरंग तो उसकी तत्व या भूतों और मनुष्यों की उत्पत्ति है। किंतु जब मनुष्य का विकाश हुआ, तो वही खयाल उसके हृदय कमल में संबंधित हुआ, दूसरी तरंग संसार के रूपमें मारता है जैसा कि स्वप्न में भली भाँति दिखाई देता है। परंतु जब यह खयाल इंद्रियों के मार्गसे फैलता अपनी पहली तरंग के संसार में उसी रूपमें तरंगायित होता है, तो संसार को दुगने संकल्प से बनाता है और मनुष्य की दृष्टि का कारण होता है। इस प्रकार ईश्वर-कृत और जीव-कृत सृष्टि से द्विगुण बना हुआ संसार सत दिखाई देता है, वास्तवमें खयाली है कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् केवल दिखावे का है, अस्तित्व कुछ भी नहीं।

(४७) इसी खयाल को पहली तरंग की दृष्टि से माया बोलते हैं और इसी खयाल को दूसरी तरंग की दृष्टि से मन बोलते

अकेले ख़याल का होता है, अतः विशृङ्खलित (वे तरतीब) और अनियमित होता है, क्योंकि मनुष्य का ख़याल प्रत्येक क्षण बदलता रहता है और इसके अतिरिक्त मनुष्य का ख़याल कर्मों के बन्धन में होता है, जैसा उसके कर्म स्वप्न के भोग में होते हैं, वैसा ख़याल संकल्प और निश्चय में उठता है।

(५१) जब यह जागता है तो उसका ख़याल आँखों से बाहर निकलता है और ईश्वर की ख़याली रचित दुनियाँ में फैलता है। जिस तरह का वह (संसार) होता है, उसी तरह पर वह ख़याल करता उसे द्विगुण बनाता है। और यह हम लिख आए हैं कि ईश्वर का ख़याल कल्प तक होता है, इसलिये ईश्वर-कल्पित वस्तुएँ चिरस्थायिनी होती हैं। और इस हेतु कि उसका ख़याल न्याय के अधीन है, विधा और क्रम से उसे रचता है। मनुष्य का ख़याल जाग्रत में उसी के अनुसार होता उसे सत देखता है, क्योंकि एक तो यह माया की पहली तह के कारण स्वप्न की अपेक्षा अधिक क्रम और विधा के साथ होता है, दूसरे जब यह सो जाता है, तो उसके अपने ख़याल की तह उतर जाती है, किंतु पहले (ईश्वर के) ख़याल के रूप बने रहते हैं।

(५२) जब यह नींद से निकलता है, तो फिर ख़याल उन्हीं आकृतियों पर पड़ता, उन्हीं की आकृति पर उठता, उसे डबल बना लेता है और वही देखता हुआ उसे सत् मानता है। किंतु जिस तरह पर नींद में मन के दूर होने से एक तह उसकी दूर हो जाती है, उसी तरह कल्प में या निश्चित समय पर जो नियत है, पहली तहें भी दूर हो जाती हैं। इसलिये क्या मन, क्या माया, ख़याल ही उसका स्रोत है, और ख़याल वास्तव में आत्मा की विभूति (महिमा)-या छाया है। इसलिये आत्मा समस्त प्राप्तव्य है और मनोरथ का स्रोत है। किंतु माया की अवस्था में तो सत्य संकल्प सत्य काम होता है, क्योंकि यहाँ

अकेले खयाल का होता है, अतः विशृङ्खलित (बे तरतीब) और अनियमित होता है, क्योंकि मनुष्य का खयाल प्रत्येक क्षण बदलता रहता है और इसके अतिरिक्त मनुष्य का खयाल कर्मों के बन्धन में होता है, जैसा उसके कर्म स्वप्न के भोग में होते हैं, वैसा खयाल संकल्प और निश्चय में उठता है।

(५१) जब यह जागता है तो उसका खयाल आँखों से बाहर निकलता है और ईश्वर की खयाली रचित दुनियाँ में फैलता है। जिस तरह का वह (संसार) होता है, उसी तरह पर वह खयाल करता उसे द्विगुण बनाता है। और यह हम लिख आए हैं कि ईश्वर का खयाल कल्प तक होता है, इसलिये ईश्वर-कल्पित वस्तुएँ चिरस्थायिनी होती हैं। और इस हेतु कि उसका खयाल न्याय के अधीन है, विद्या और क्रम से उसे रचता है। मनुष्य का खयाल जाग्रत में उसी के अनुसार होता उसे सत देखता है, क्योंकि एक तो यह माया की पहली तह के कारण स्वप्न की अपेक्षा अधिक क्रम और विद्या के साथ होता है, दूसरे जब यह सो जाता है, तो उसके अपने खयाल की तह उतर जाती है, किंतु पहले (ईश्वर के) खयाल के रूप बने रहते हैं।

(५२) जब यह नींद से निकलता है, तो फिर खयाल उन्हीं आकृतियों पर पड़ता, उन्हीं की आकृति पर उठता, उसे डबल बना लेता है और वही देखता हुआ उसे सत् मानता है। किंतु जिस तरह पर नींद में मन के दूर होने से एक तह उसकी दूर हो जाती है, उसी तरह कल्प में या निश्चित समय पर जो नियत है, पहली तहें भी दूर हो जाती हैं। इसलिये क्या मन, क्या माया, खयाल ही उसका स्रोत है, और खयाल वास्तव में आत्मा की विभूति (महिमा) या छाया है। इसलिये आत्मा समस्त प्रारब्ध है और मनोरथ का स्रोत है। किंतु माया की अवस्था में तो सत्य संकल्प सत्य काम होता है, क्योंकि यहाँ

पहचान से मुक्त मिल जाते हैं, तो मनुष्य को चाहिये कि आत्मा को ही जाने और उसी में प्यार करे, और उसी की जिज्ञासा करे। भोग तो उसे छाया की तरह प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण पिछले ब्राह्मण आत्मा को जान कर संसार के भोगों से उपराम होते सन्यास लेते थे।

(५६) क्या यह सच नहीं जो दीपक प्राप्त करता है, वास्तव में समस्त प्रकाश को प्राप्त करता है, या सूर्य को पाता है, तो सारे दिनों और वर्षों का स्वामी हो जाता है, क्योंकि क्या प्रकाश, क्या दिन, क्या वर्ष, क्या मास, सबका स्रोत सूर्य है। किंतु वह जो एक संक्षिप्त किरण को चाहता है और पाता है, दूसरी किरणों का स्वामी नहीं हो जाता, और वह भी उस की सार्व कालिक सम्पत्ति नहीं हो जाती।

(५७) इसी तरह मनुष्य भी कर्म करके बिना आत्मा की पहचान के किसी एक सांसारिक मुराद या परलोक को प्राप्त करता है, तो दूसरे मनोरथों या मुरादों का स्वामी नहीं हो जाता, और यह भी उसकी सार्वकालिक संपत्ति में नहीं आ जाता, क्योंकि बनावटी अन्ततः दूर हो जाता है। किंतु वह जो इस आत्मा को पा जाता है, जो समस्त मनोरथों का स्रोत है, सचमुच सारे मनोर्थों या मुरादों का उत्तराधिकारी और स्वामी होता है। वह स्वयं जैसे अविनाशी जीवित होता है वैसे उस की सफलता भी अविनाशिनी होती है।

(५८) ऐ प्यारे! ये बातें हमारी कपोल-कल्पना नहीं, वरन् सचमुच हैं। भरोसा करो, अपने आत्मा को पहचानो और उसी में गौर करो और उसी को पाओ कि यही सब पदार्थों का कोष है। यदि हमारे पर आपको भरोसा (विश्वास) नहीं, तो हम इस का प्रमाण वेदों से देते हैं। कान धर कर सुनो कि पिछले ब्राह्मण किस प्रकार इसको जानते हुए संन्यास लेते थे और किस तरह

पहचान से मुफ्त मिल जाते हैं, तो मनुष्य को चाहिये कि आत्मा को ही जाने और उसी में प्यार करे, और उसी की जिज्ञासा करे। भोग तो उसे छाया की तरह प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण पिछले ब्राह्मण आत्मा को जान कर संसार के भोगों से उपराम होते सन्यास लेते थे।

(५६) क्या यह सच नहीं जो दीपक प्राप्त करता है, वास्तव में समस्त प्रकाश को प्राप्त करता है, या सूर्य को पाता है, तो सारे दिनों और वर्षों का स्वामी हो जाता है, क्योंकि क्या प्रकाश, क्या दिन, क्या वर्ष, क्या मास, सबका स्रोत सूर्य है। किंतु वह जो एक संक्षिप्त किरण को चाहता है और पाता है, दूसरी किरणों का स्वामी नहीं हो जाता, और वह भी उस की सार्व कालिक सम्पत्ति नहीं हो जाती।

(५७) इसी तरह मनुष्य भी कर्म करके बिना आत्मा की पहचान के किसी एक सांसारिक मुराद या परलोक को प्राप्त करता है, तो दूसरे मनोरथों या मुरादों का स्वामी नहीं हो जाता, और यह भी उसकी सार्वकालिक संपत्ति में नहीं आ जाता, क्योंकि बनावटी अन्ततः दूर हो जाता है। किंतु वह जो इस आत्मा को पा जाता है, जो समस्त मनोरथों का स्रोत है, सचमुच सारे मनोरथों या मुरादों का उत्तराधिकारी और स्वामी होता है। वह स्वयं जैसे अविनाशी जीवित होता है वैसे उस की सफलता भी अविनाशिनी होती है।

(५८) ऐ प्यारे! ये बातें हमारी कपोल-कल्पना नहीं, वरन् सचमुच हैं। भरोसा करो, अपने आत्मा को पहचानो और उसी में सैर करो और उसी को पाओ कि यही सब पदार्थों का कोष है। यदि हमारे पर आपको भरोसा (विश्वास) नहीं, तो हम इस का प्रमाण वेदों से देते हैं। कान धर कर सुनो कि पिछले ब्राह्मण किस प्रकार इसको जानते हुए संन्यास लेते थे और किस तरह

पूर्ण हो जाय और तुझे मिल जावे, तो भी अमर जीवन नहीं मिलेगा, उसी तरह जीवन निर्वाह करोगी जैसे कि धनवान लोग करते हैं। धनसे अमर जीवन की आशा मत करो।

(६२) तब मैत्रेयी बोली—जब कि धन से मुझे अमर जीवन की आशा नहीं है, तो मैं धन का भाग लेकर क्या करूँगी? सब कात्यानी को छोड़ दो। मुझे तो अपनी उस संपत्तिका भाग दो जिसे पाते हुए मैं अमर जीवन पाऊं और जिसे आप पाकर यह संपत्ति यांही छोड़े जाते हो और तुच्छ जानते हो।

(६३) तब याज्ञवल्क्य बोला—ऐ प्यारी! तूने अच्छा कहा और अच्छा मांगा। तू पहले भी मुझे इसी कारण आनन्द और प्यारी लगती थी। अब मेरे निकट आओ मैं तुझे अमर जीवन की शिक्षा देता हूँ। भली भांति मन लगाकर इस सम्पत्ति को लो जिसको पा कर मैं यह संसार की सम्पत्ति तुच्छ विष्टा की तरह छोड़ता हूँ। जो कुछ मैं सिखाऊं उसमें निदिध्यासन करना।

(६४) फिर ऋषि ने उसे यों सिखाया—ऐ प्यारी! पति के लिये पति प्यारा नहीं होता, अपने लिये पति भी प्यारा होता है। ऐ प्यारी! स्त्री के लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, अपने लिये स्त्री भी प्यारी होती है।

(६५) ऐ प्यारी! सन्तान भी सन्तान के लिये प्यारी नहीं होती, अपने लिये सन्तान भी प्यारी होती है। ऐ प्यारी! धन भी धन के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये धन भी प्यारा होता है।

(६६) अरी मैत्रेयी! ब्रह्म-धर्म भी ब्रह्म-धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, वरन् अपने लिये ब्रह्म-धर्म भी प्यारा लगता है। ऐ प्यारी! क्षत्री-धर्म भी क्षत्री धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, वरन् अपने लिये क्षत्री-धर्म भी प्यारा होता है।

(६७) अरी मैत्रेयी! लोक भी लोकों के लिये प्यारा नहीं

पूर्ण हो जाय और तुझे मिल जावे, तो भी अमर जीवन नहीं मिलेगा, उसी तरह जीवन निर्वाह करोगी जैसे कि धनवान लोग करते हैं। धनसे अमर जीवन की आशा मत करो।

(६२) तब मैत्रेयी बोली—जब कि धन से मुझे अमर जीवन की आशा नहीं है, तो मैं धन का भाग लेकर क्या करूं-गी? सब कात्यानी को छोड़ दो। मुझे तो अपनी उस संपत्तिका भाग दो जिसे पाते हुए मैं अमर जीवन पाऊं और जिसे आप पाकर यह संपत्ति यांही छोड़े जाते हो और तुच्छ जानते हो।

(६३) तब याज्ञवल्क्य बोला—ऐ प्यारी! तूने अच्छा कहा और अच्छा मांगा। तू पहले भी मुझे इसी कारण आनन्द और प्यारी लगती थी। अब मेरे निकट आओ मैं तुझे अमर जीवन की शिक्षा देता हूं। भली भांति मन लगाकर इस सम्पत्तिको लो जिसको पा कर मैं यह संसार की सम्पत्ति तुच्छ विष्ठा की तरह छोड़ता हूं। जो कुछ मैं सिखाऊं उसमें निदिध्यासन करना।

(६४) फिर ऋषि ने उसे यों सिखाया—ऐ प्यारी! पति के लिये पति प्यारा नहीं होता, अपने लिये पति भी प्यारा होता है। ऐ प्यारी! स्त्री के लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, अपने लिये स्त्री भी प्यारी होती है।

(६५) ऐ प्यारी! सन्तान भी सन्तान के लिये प्यारी नहीं होती, अपने लिये सन्तान भी प्यारी होती है। ऐ प्यारी! धन भी धन के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये धन भी प्यारा होता है।

(६६) अरी मैत्रेयी! ब्रह्म-धर्म भी ब्रह्म-धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, बरन् अपने लिये ब्रह्म-धर्म भी प्यारा लगता है। ऐ प्यारी! क्षत्री-धर्म भी क्षत्री धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, बरन् अपने लिये क्षत्री-धर्म भी प्यारा होता है।

(६७) अरी मैत्रेयी! लोक भी लोकों के लिये प्यारा नहीं

यह लोक, यह देवता, यह भूत, यह शरीर, यह सब क्या भीतरी क्या बाहरी, क्या यहाँ क्या वहाँ, सबका सब आत्मा है। जैसा क्या इधर की धूप क्या उधर की धूप, क्या दाएं क्या बाएँ, क्या नीचे क्या ऊपर, सबकी सब धूप सूर्य है। इसी तरह क्या ब्रह्म, क्या क्षत्र, क्या लोक क्या परलोक, क्या देवता क्या गंधर्व, क्या भूत क्या भूतसमूह, क्या शरीर क्या शरीरी, क्या प्राण क्या प्राणी सबके सब यही आत्मा है।

(७३) अरी प्यारी। जिस तरह यह सब आत्मा की विभूतियाँ आत्मरूप है, उसके उदाहरण तू मुझ से सुन। जैसे यह सब आत्मा है, मैं तुझसे बतलाता हूँ। जैसे एक नगाड़ा बजाते हैं, तो उसमें जो रागनी निकलती हैं, सब उसी नगाड़े के शब्द की विभूतियाँ होती हैं। इसी तरह यह सब इसी आत्मा की विभूतियाँ हैं।

(७४) अरी मैत्रेयी। जिस तरह नगाड़ा या तबला के शब्द की पहचान से उसके सब पंचम मध्यम (ऊँच नीच) स्वर पहचाने जाते हैं और उसीके पाए सब अपने आप पाए जाते हैं, या जिस तरह नरसिंहा के शोर के पहचानने से उसके उतार चढ़ाओं (या पंचम मध्यम स्वर) अपने आप पहचाने जाते हैं और उसके पाए सब पाए जाते हैं, या जिस तरह वीणा की आवाज़ के पहचानने से सब रागनी अपने आप पहचानी जाती हैं और उसके पाए सब पाए जाते हैं, उसी तरह इस आत्मा के पहचानने से सब पहिचाने जाते हैं और इस आत्मा के पाए सब पाए जाते हैं।

(७५) अरी मैत्रेयी! इस आत्मा को जान। इसी को पहचान। इसीको पा। इसीके जानने से सब जाने जावेंगे। इसीके पहचानने से सब पहचाने जावेंगे। इसीके पाने से सब पाए जावेंगे। यही अमर जीवन है। यही अविनाशी धन है। यही सब का मूल है।

(७६) जिस तरह जलती आग में धुवाँ, चिनगारियाँ और

यह लोक, यह देवता, यह भूत, यह शरीर, यह सब क्या भीतरी क्या बाहरी, क्या यहाँ क्या वहाँ, सबका सब आत्मा है। जैसा क्या इधर की धूप क्या उधर की धूप, क्या दाएं क्या बाएँ, क्या नीचे क्या ऊपर, सबकी सब धूप सूर्य है। इसी तरह क्या ब्रह्म, क्या क्षत्र, क्या लोक क्या परलोक, क्या देवता क्या गंधर्व, क्या भूत क्या भूतसमूह, क्या शरीर क्या शरीरी, क्या प्राण क्या प्राणी सबके सब यही आत्मा है।

(७३) अरी प्यारी! जिस तरह यह सब आत्मा की विभूतियाँ आत्मरूप हैं, उसके उदाहरण तू मुझ से सुन। जैसे यह सब आत्मा है, मैं तुझसे बतलाता हूँ। जैसे एक नगाड़ा बजाते हैं, तो उसमें जो रागनी निकलती हैं, सब उसी नगाड़े के शब्द की विभूतियाँ होती हैं। इसी तरह यह सब इसी आत्मा की विभूतियाँ है।

(७४) अरी मैत्रेयी! जिस तरह नगाड़ा या तबला के शब्द की पहचान से उसके सब पंचम मध्द्म (ऊंच नीच) स्वर पहचाने जाते हैं और उसीके पाए सब अपने आप पाए जाते हैं, या जिस तरह नरसिंहा के शोर के पहचानने से उसके उतार चढ़ाओं (वा पंचम मध्द्म स्वर) अपने आप पहचाने जाते हैं और उसके पाए सब पाए जाते हैं, या जिस तरह वीणा की आवाज़ के पहचानने से सब रागनी अपने आप पहचानी जाती हैं और उसके पाए सब पाए जाते हैं, इसी तरह इस आत्मा के पहचानने से सब पहिचाने जाते हैं और इस आत्मा के पाए सब पाए जाते हैं।

(७५) अरी मैत्रेयी! इस आत्मा को जान। इसी को पहचान। इसीको पा। इसीके जानने से सब जाने जावेंगे। इसीके पहचानने से सब पहचाने जावेंगे। इसीके पाने से सब पाए जावेंगे। यही अमर जीवन है। यही अविनाशी धन है। यही सब का मूल है।

(७६) जिस तरह जलती आग में धुआँ, चिनगारियाँ और

(७९) ऐ प्यारी ! जिस तरह एक नमक का डला ही गल कर समुद्र हो रहा है और पानी दिखाई देता है, इसी तरह यही आत्मा संसार-रूप होकर संसार दिखाई देता है, तो भी जब समुद्र का पानी कुछ लेकर चखते हैं, तो नमक ही मालूम होता है। इसी तरह इस संसार में जिसको लेकर खोज करो, यही सच्चिदानन्द आत्मा ही पहचाना जाता है। यही आत्मा सबका जीवन सबमें उसी तरह व्यापक है जिस तरह नमक का डला पानी में गलकर जल रूप हो रहा है। इसी के कारण सब जीवित और अस्तित्व वाले हो रहे हैं।

(८०) अरी प्यारी ! जिस तरह पानी से यदि लवण को किसी उपाय से निकाल लें तो फिर पानी फीका रह जाता है, उसी तरह यह सबका प्राण जब उन परमाणुओं वा महाभूतों से निकलता है, तो ये वहीं मृत हो जाते हैं। यह (आत्मा) प्रेत नहीं हो जाता, अनजान इसे प्रेत समझ कर पितर कर्म करते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ। अरी ब्राह्मणी ! विश्वास कर, इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा।

(८१) तब मैत्रेयी बोली—अजी महाराज ! क्यों मुझे घबराहट में डालते हो ? जो आप ऋषि, मुनि होकर कहते हैं कि मृत्यु के बाद यह प्रेत नहीं हो जाता। तब मुनि जी ने कहा—ऐ प्यारी ! मैं घबराहट में नहीं डालता, वरन् सच कहता हूँ। यही जानना ज्ञान है और यही यथेष्ट है। इसकी पहचान के लिये यही बहुत है।

(८२) क्योंकि दूसरों में आया यह दूसरा सा हो जाता है। देवता में आया देवता, मनुष्य में आया मनुष्य, पशु में पशु, किंतु जब इन सब को छोड़ देता है तब अकेला होता है। प्रेत नहीं हो जाता। प्रेत भी तभी होता है जब यह शरीर को छोड़ता प्राण नहीं छोड़ता। जब प्राण भी छोड़ता है और

(७९) ऐ प्यारी! जिस तरह एक नमक का डला ही गल कर समुद्र हो रहा है और पानी दिखाई देता है, इसी तरह यही आत्मा संसार-रूप होकर संसार दिखाई देता है, तो भी जब समुद्र का पानी कुछ लेकर चखते हैं, तो नमक ही मालूम होता है। इसी तरह इस संसार में जिसको लेकर खोज करो, यही सच्चिदानन्द आत्मा ही पहचाना जाता है। यही आत्मा सबका जीवन सबमें उसी तरह व्यापक है जिस तरह नमक का डला पानी में गलकर जल रूप हो रहा है। इसी के कारण सब जीवित और अस्तित्व वाले हो रहे हैं।

(८०) अरी प्यारी! जिस तरह पानी से यदि लवण को किसी उपाय से निकाल लें तो फिर पानी फीका रह जाता है, उसी तरह यह सबका प्राण जब उन परमाणुओं वा महाभूतों से निकलता है, तो ये वहीं मृत हो जाते हैं। यह (आत्मा) प्रेत नहीं हो जाता, अनजान इसे प्रेत समझ कर पितर कर्म करते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ। अरी ब्राह्मणी! विश्वास कर, इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा।

(८१) तब मैत्रेयी बोली—अजी महाराज! क्यों मुझे घबराहट में डालते हो? जो आप ऋषि, मुनि होकर कहते हैं कि मृत्यु के बाद यह प्रेत नहीं हो जाता। तब मुनि जी ने कहा—ऐ प्यारी! मैं घबराहट में नहीं डालता, वरन् सच कहता हूँ। यही जानना ज्ञान है और यही यथेष्ट है। इसकी पहचान के लिये यही बहुत है।

(८२) क्योंकि दूसरों में आया यह दूसरा सा हो जाता है। देवता में आया देवता, मनुष्य में आया मनुष्य, पशु में पशु, किंतु जब इन सब को छोड़ देता है तब अकेला होता है। प्रेत नहीं हो जाता। प्रेत भी तभी होता है जब यह शरीर को छोड़ता प्राण नहीं छोड़ता। जब प्राण भी छोड़ता है और

भोग छाया के समान मुफ्त मिल जाते हैं। पर वह जो अपने आत्मा को नहीं जानते वरन् देह में अध्यास करते हैं, अनजान हैं। और शरीर के मरने से मरते और उसके जन्म से जन्मते हैं। इसलिये मैत्रेयी के प्रश्न पर कि "मुझे अमर जीवन दान करो" ऋषि ने आत्मा की शिक्षा दी जिस से मैत्रेयी ने अमर जीवन पाया। अब भी जो कोई आत्मा को इस तरह पहचानता है कि "मैं तो शरीर नहीं, वरन् पूर्ण सच्चिदानन्द आत्मा हूँ और सब मेरी विभूतियां मेरे साथ हैं", उसी तरह अमर जीवन पाता है जैसा मैत्रेयी ने पाया।

(८६ फिर इस हेतु कि सब प्राप्तव्य और मनोरथ छाया के समान हैं, और छाया का यह नियम है कि जो कोई अपनी छाया को पकड़ना चाहता है और उसके पकड़ने को उसकी तरफ दौड़ता है, तो छाया भी उससे आगे भागती जाती है, हाथ नहीं आती। मगर वह जो उसे नहीं चाहता, जिधर जाता है छाया अपने आप उसीके साथ-साथ पीछे लग जाती है।

(८७) इसी तरह अनजान मनुष्य परिच्छिन्न शरीर में अहंता का निश्चय करता हुआ अर्थ-काम की, जो आत्मा की छाया हैं, इच्छा करता, और उन्हें लेना चाहता है, और उनकी ओर दौड़ता है, किंतु वह उसी की छाया होने के कारण उस से बढ़कर आगे दौड़ता है, हाथ नहीं आता, वरन् उतना ही मिलता है जितना कि उसके पाँव के नीचे सम्बन्ध रखता है। कर्मों के कारण जो भोग चाहते हैं उतने ही पाते हैं जो उनके कर्म के अधीन हैं, सब नहीं मिल जाते।

(८८) परन्तु वह जो आत्मा को सब का मूल जानता है और उस में सच्ची अहंता (अहंभाव) पा जाता है और नाशमान छाया को हेय जानता उसकी परवाह नहीं करता,

भोग छाया के समान मुफ्त मिल जाते हैं। पर वह जो अपने आत्मा को नहीं जानते परन् देह में अध्यास करते हैं, अनजान हैं। और शरीर के मरने से मरते और उसके जन्म से जन्मते हैं। इसलिये मैत्रेयी के प्रश्न पर कि "मुझे अमर जीवन दान करो" ऋषि ने आत्मा की शिक्षा दी जिस से मैत्रेयी ने अमर जीवन पाया। अब भी जो कोई आत्मा को इस तरह पहचानता है कि "मैं तो शरीर नहीं, वरन् पूर्ण सच्चिदानन्द आत्मा हूँ और सब मेरी विभूतियां मेरे साथ हैं", उसी तरह अमर जीवन पाता है जैसा मैत्रेयी ने पाया।

(८६ फिर इस हेतु कि सब प्राप्तव्य और मनोरथ छाया के समान हैं, और छाया का यह नियम है कि जो कोई अपनी छाया को पकड़ना चाहता है और उसके पकड़ने को उसकी तरफ दौड़ता है, तो छाया भी उससे आगे भागती जाती है, हाथ नहीं आती। मगर वह जो उसे नहीं चाहता, जिधर जाता है छाया अपने आप उसीके साथ-साथ पीछे लग जाती है।

(८७) इसी तरह अनजान मनुष्य परिच्छिन्न शरीर में अहंता का निश्चय करता हुआ अर्थ-काम की, जो आत्मा की छाया हैं, इच्छा करता, और उन्हें लेना चाहता है, और उनकी ओर दौड़ाता है, किंतु वह उसी की छाया होने के कारण उस से बढ़कर आगे दौड़ता है, हाथ नहीं आता, वरन् उतना ही मिलता है जितना कि उसके पाँव के नीचे सम्बन्ध रखता है। कर्मों के कारण जो भोग चाहते हैं उतने ही पाते हैं जो उनके कर्म के अधीन हैं, सब नहीं मिल जाते।

(८८) परन्तु वह जो आत्मा को सब का मूल जानता है और उस में सच्ची अहंता (अहंभाव) पा जाता है और नाशमान छाया को हेय जानता उसकी परवाह नहीं करता,

तुम्हारी छाया है, उसकी ओर दौड़ोगे, तो वह तुम से पहले दौड़ जायगी, हाथ नहीं आ सकती, वरन् उतनी ही आ सकती है जो तुम्हारे पाँव तले है। विचित्र मूर्खता है कि वह सामने भागी जाती है और तुम उसके पीछे पड़ते हो। अन्ततः छाया नहीं थकेगी, तुम ही थक कर गिर जाओगे। जब मृत्यु हुई, बी. ए. पास कहाँ और वह तहसीलदारी, वह इक्स्ट्रा पेसिस्टेंटी की आशाएँ कहाँ? फिर जन्म मरण संसार विद्यमान है, कहीं गधे हुये लादे जाओगे, कहीं बैल के जन्म में मार खाओगे। क्यों नहीं अभी सँभलते हो? आओ, मेरी सुनो।

(९३) इस लोभ को छोड़ो। अपने आत्मा में लगो। ज्यों ज्यों तुम इन प्राप्तव्यों को छोड़ोगे त्यों त्यों तुम्हारे पास आवेंगे। इसी से लिखा है और यह किसी की बात सच भी है कि "बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।" तुम्हें चाहिये कि असल को पाओ, नकल तो खुद साथ है। अरी अविद्या! तेरा सत्यानाश! तू क्यों हमारे भारत में आ गई? और आर्य भाई जो ऋषियों मुनियों के पुत्र हैं, क्यों उन्हें दबा लिया?

(९४) अनर्थ यह हुआ है कि आर्य भाई पाश्चात्य भाषा की शिक्षा पाकर वेदों में परिवर्तन करना चाहते हैं, और नूतन समाज बनाकर अपनी कपोल कल्पना से भक्ति करते हैं जैसे पाश्चात्य भी करते हैं। दूसरे मुक़ाबले पर ब्रह्म समाज करते हैं। जिस तरह अँधेरे में मुर्ग लड़ते हैं इस तरह विवाद और उत्तर में पत्र छापते हैं। ऋषियों मुनियों पर विद्या-दोष का लाञ्छन लगाते हैं, अपने आप को बी० ए० पास के कारण गौरवशाली समझते हैं, यद्यपि कुछ नहीं जानते।

(९५) क्योंकि वे देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं जानते, जैसा कि विरोचन ने समझ लिया था, और अपने शरीर की

तुम्हारी छाया है, उसकी ओर दौड़ोगे, तो वह तुम से पहले दौड़ जायगी, हाथ नहीं आ सकती, बरन् उतनी ही आ सकती है जो तुम्हारे पाँव तले है। विचित्र मूर्खता है कि वह सामने भागी जाती है और तुम उसके पीछे पड़ते हो। अन्ततः छाया नहीं थकेगी, तुम ही थक कर गिर जाओगे। जब मृत्यु हुई, बी. ए. पास कहाँ और वह तहसीलदारी, वह इक्स्ट्रा पेसिस्टेंटी की आशाएँ कहाँ? फिर जन्म मरण संसार विद्यमान है, कहीं गधे हुये लादे जाओगे, कहीं बैल के जन्म में मार खाओगे। क्यों नहीं अभी सँभलते हो? आओ, मेरी सुनो।

(६३) इस लोभ को छोड़ो। अपने आत्मा में लगो। ज्यों ज्यों तुम इन प्राप्तव्यों को छोड़ोगे त्यों त्यों तुम्हारे पास आवेंगे। इसी से लिखा है और यह किसी की बात सच भी है कि "बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।" तुम्हें चाहिये कि असल को पाओ, नकल तो खुद साथ है। अरी अविद्या! तेरा सत्यानाश! तू क्यों हमारे भारत में आ गई? और आर्य भाई जो ऋषियों मुनियों के पुत्र हैं, क्यों उन्हें दबा लिया?

(६४) अनर्थ यह हुआ है कि आर्य भाई पाश्चात्य भाषा की शिक्षा पाकर वेदों में परिवर्तन करना चाहते हैं, और नूतन समाजें बनाकर अपनी कपोल कल्पना से भक्ति करते हैं जैसे पाश्चात्य भी करते हैं। दूसरे मुक़ाबले पर ब्रह्म समाज करते हैं। जिस तरह अँधेरे में मुर्ग लड़ते हैं इस तरह विवाद और उत्तर में पत्र छापते हैं। ऋषियों मुनियों पर विद्या-दोष का लाँछन लगाते हैं, अपने आप को बी० ए० पास के कारण गौरवशाली समझते हैं, यद्यपि कुछ नहीं जानते।

(६५) क्योंकि वे देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं जानते, जैसा कि विरोचन ने समझ लिया था, और अपने शरीर को

रीति से उतरती होगी। जैसे सूर्य यदि चाहे कि उससे धूप न उतरे, और ऐसा हो नहीं सकता, तो इसी तरह आत्मा भी शायद विवश होगा कि उस से संसार होता रहे और वह उसमें फँसा रहे।" वरन् माया छाया की तरह इस ख़याल से वर्णन की गई है जैसे सूर्य किरणें या नर-छाया सूर्य या मनुष्य के सिवाय कुछ सत्ता नहीं रखती, वरन् उसी की विभूति वहीं रूप है।

(९९) लेकिन माया अविद्या तक तो निस्संदेह विवश करती है। जब अविद्या जाती है, तो फिर अधीन हो जाती है, जैसे ईश्वर के अधीन होती है। क्योंकि माया अपने आप चीज़ें नहीं बना सकती, जैसे मिट्टी अपने आप चीनी प्याला नहीं बन जाती, वरन् जैसा कुम्हार चाहता है वैसा रूप माटी धारण करती है। इसी तरह जैसे आत्मा चाहता है वैसे माया भी पदार्थों और मनोर्थों की विभूति में बदलती है। यह विचार कि माया अपने आप आत्मा के भोग और मुक्ति के लिये रूप बदलती है, कपिलमुनि का विचार है जो ठीक नहीं, वरन् वेद की श्रुतियों के विरुद्ध है।

(१००) क्योंकि माया वास्तव में जड़ है। जड़ वस्तुएं अपने आप नहीं बदलतीं, वरन् उनके बदलाने और बनाने के लिये चेतन आत्मा आवश्यक है। सूर्य और धूप दोनों तो जड़ हैं इसलिये सूर्य के अधीन धूप नहीं। आत्मा तो चेतन है, माया उसके वश में है। जिस तरह वह चाहता है, उसे नाच नचाता है। निस्संदेह उसीकी विभूति उससे कुछ पृथक वह सत्ता नहीं रखती, तो भी उसके अधीन है।

(१०१) देखो, मनुष्य का उठना-बैठना या चलना-फिरना मनुष्य की शानें (आकृति या चेष्टा) हैं, उसके स्वरूप से कुछ अधिक वस्तु नहीं हैं, तो भी उसके वश में हैं। क्योंकि जब वह

रीति से उतरती होगी । जैसे सूर्य यदि चाहे कि उससे धूप न उतरे, और ऐसा हो नहीं सकता, तो इसी तरह आत्मा भी शायद विवश होगा कि उस से संसार होता रहे और वह उसमें फँसा रहे ।" वरन् माया छाया की तरह इस ख़याल से वर्णन की गई है जैसे सूर्य किरणें या नर-छाया सूर्य या मनुष्य के सिवाय कुछ सत्ता नहीं रखती, वरन् उसी की विभूति वही रूप है ।

(९९) लेकिन माया अविद्या तक तो निस्संदेह विवश करती है । जब अविद्या जाती है, तो फिर अधीन हो जाती है, जैसे ईश्वर के अधीन होती है । क्योंकि माया अपने आप चीज़ें नहीं बना सकती, जैसे मिट्टी अपने आप चीनी प्याला नहीं बन जाती, वरन् जैसा कुम्हार चाहता है वैसा रूप माटी धारण करती है । इसी तरह जैसे आत्मा चाहता है वैसे माया भी पदार्थों और मनोर्थों की विभूति में बदलती है । यह विचार कि माया अपने आप आत्मा के भोग और मुक्ति के लिये रूप बदलती है, कपिलमुनि का विचार है जो ठीक नहीं, वरन् वेद की श्रुतियों के विरुद्ध है ।

(१००) क्योंकि माया वास्तव में जड़ है । जड़ वस्तुएं अपने आप नहीं बदलती, वरन् उनके बदलाने और बनाने के लिये चेतन आत्मा आवश्यक है । सूर्य और धूप दोनों तो जड़ हैं इसलिये सूर्य के अधीन धूप नहीं । आत्मा तो चेतन है, माया उसके वश में है । जिस तरह वह चाहता है, उसे नाच नचाता है । निस्संदेह उसीकी विभूति उससे कुछ पृथक वह सत्ता नहीं रखती, तो भी उसके अधीन है ।

(१०१) देखो, मनुष्य का उठना-बैठना या चलना-फिरना मनुष्य की शानें (आकृति या चेष्टा) हैं, उसके स्वरूप से कुछ अधिक वस्तु नहीं हैं, तो भी उसके वश में हैं । क्योंकि जब वह

कि श्रुति साक्षी देती है, कि कल्प तक भी साथ न था, तो परमाणु-वादी परमाणुओं को तो संभव सत् अर्थात् अनादि मानता है, कल्प तक भी नहीं मानता, क्योंकर उस समय निश्चय करता है ? सिद्धान्त वेद के विरुद्ध सब लोग अपनी कपोल कल्पना करते हैं जो विश्वास के योग्य नहीं।

(१०५) उनकी आपत्ति कि "जब वह ऐसा अकेला था, क्योंकर उसने इच्छा की और किस प्रकार किस सामग्री और यंत्रों से उसने संसार बनाया" उचित नहीं हैं, क्योंकि हम उसे सर्व शक्तिमान सुनते और सर्वज्ञ जानते हैं। वेदों के मंत्र प्रमाणित करते हैं कि वह बिना हाथों के पकड़ता है, बिना पावों के चलता है, बिना आँखों के देखता है और बिना कानों के सुनता है।

(१०६) इसी तरह वह बिना मन के सोचता-समझता इच्छा करता है, और यही उसकी महिमा और माया है। और इसी माया से, बिना उपादान और बिना साधन के, संसार बनाता है, वरन् आप ही प्रत्येक महिमा में आया हुआ प्रकाश-मान होता है। उसे फिर परमाणुओं की क्या अपेक्षा और साधनों की क्या आवश्यकता ? जो चाहता है, सो करता है। परम स्वाधीन है। तथास्तु।

(१०७) अकेला है, पर नाना रूप हो जाता है, असंग है, पर संगवाला हो जाता है, एक है, पर अनेक हो जाता है। कुछ कठिनताएँ नहीं रखता। यह भी नहीं कि कपिल जी के विश्वासानुसार प्रकृति अपने आप जगत् बनती है। वरन् जिस तरह एक बड़ा बुद्धिमान् इञ्जानियर इमारत बनाता और कोठियों और इमारतों की नींव डालता है, इसी तरह आत्मा भी सब कुछ करता हुआ अकर्त्ता है।

(१०८) यह न मान लेना चाहिए कि "बुद्धिमान् इंजीनियर

कि श्रुति साक्षी देती है, कि कल्प तक भी साथ न था, तो परमाणु-वादी परमाणुओं को तो संभव सत् अर्थात् अनादि मानता है, कल्प तक भी नहीं मानता, क्योंकर उस समय निश्चय करता है ? निदान वेद के विरुद्ध सब लोग अपनी कपोल कल्पना करते हैं जो विश्वास के योग्य नहीं ।

(१०५) उनकी आपत्ति कि "जब वह ऐसा अकेला था, क्योंकर उसने इच्छा की और किस प्रकार किस सामग्री और यंत्रों से उसने संसार बनाया" उचित नहीं हैं, क्योंकि हम उसे सर्व शक्तिमान सुनते और सर्वज्ञ जानते हैं । वेदों के मंत्र प्रमाणित करते हैं कि वह बिना हाथों के पकड़ता है, बिना पावों के चलता है, बिना आँखों के देखता है और बिना कानों के सुनता है ।

(१०६) इसी तरह वह बिना मन के सोचता-समझता इच्छा करता है, और यही उसकी महिमा और माया है । और इसी माया से, बिना उपादान और बिना साधन के, संसार बनाता है, वरन् आप ही प्रत्येक महिमा में आया हुआ प्रकाश-मान होता है । उसे फिर परमाणुओं की क्या अपेक्षा और साधनों की क्या आवश्यकता ? जो चाहता है, सो करता है । परम स्वाधीन है । तथास्तु ।

(१०७) अकेला है, पर नाना रूप हो जाता है, असंग है, पर संगवाला हो जाता है, एक है, पर अनेक हो जाता है । कुछ कठिनताएँ नहीं रखता । यह भी नहीं कि कपिल जी के विश्वासानुसार प्रकृति अपने आप जगत् बनती है । वरन् जिस तरह एक बड़ा बुद्धिमान् इञ्जीनियर इमारत बनाता और कोठियों और इमारतों की नींव डालता है, इसी तरह आत्मा भी सब कुछ करता हुआ अकर्त्ता है ।

(१०८) यह न मान लेना चाहिए कि "बुद्धिमान इंजीनियर

भी वृथा है।

(१११) यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि 'वह पूर्ण है, उसे संसार के बनाने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि कोई भी काम जो निष्प्रयोजन होता है, व्यर्थ होता है, और जो कोई प्रयोजन वश कार्य करता है, वह पूर्ण नहीं होता"। वरन् यों समझो, जैसे महासुंदर प्रेमपात्र यदि पूर्ण भी हो, तो भी दर्पण में अपना मुँह देख-देख कर प्रसन्न होता है, वैसे ही यह महान् प्रभू परमात्मा अपने देखने के लिये जगत् बनाता है।

(११२) जिस तरह एक महासुंदर पूर्ण पुरुष कोठी बनाता है और उसमें एक शृंगार का कमरा बनाता है, और उसमें शृंगार की मेज रखता है और उसपर क़लईदार आइना रखता है और उसमें दृष्टि करके अपना रूप देखकर आनंदित होता है। इसी तरह परमात्मा ने अपने देखने के लिये धरती और आकाश एक उत्तम कोठी बनाई है और यह संसार एक शृंगार का कमरा बनाया है और धरती उसमें शृंगार की मेज़ के समान है और उसपर मनुष्य एक कलईदार आइना रक्खा गया है, क्योंकि मनुष्य का शरीर तो मानों आइने की चौखट के समान है और उसका हृदय एक शीशे का निर्मल टुकड़ा भीतर जड़ा हुआ है जिसके पीछे अविद्या की क़लई लगाई गई है, उसमें वह प्रतिबिम्ब की भांति किरणें मारता हुआ अपने आपको देखता है। यही उसका विलास और यही उसकी इच्छा संसार की उत्पत्ति की है। दूसरा कुछ भी तात्पर्य नहीं।

(११३) जब यह पूर्ण भी आइना देखता है, तो अपनी पूर्णता से नहीं निकल जाता, इसी तरह आत्मा भी अपने दर्शन के लिये मनुष्य में आया अपने पूर्णत्व से नहीं निकल जाता है। क्योंकि मुख भी एक प्रकार का अपना अंग होता है, जैसा वह बिना आईने के अपना दर्शन नहीं पाता, इसी तरह आत्मा भी

भी वृथा है।

(१११) यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि 'वह पूर्ण है, उसे संसार के बनाने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि कोई भी काम जो निष्प्रयोजन होता है, व्यर्थ होता है, और जो कोई प्रयोजन वश कार्य करता है, वह पूर्ण नहीं होता'। वरन् यों समझो, जैसे महासुंदर प्रेमपात्र यदि पूर्ण भी हो, तो भी दर्पण में अपना मुँह देख-देख कर प्रसन्न होता है, वैसे ही यह महान् प्रभू परमात्मा अपने देखने के लिये जगत् बनाता है।

(११२) जिस तरह एक महासुंदर पूर्ण पुरुष कोठी बनाता है और उसमें एक शृंगार का कमरा बनाता है, और उसमें शृंगार की मेज रखता है और उसपर क़लईदार आइना रखता है और उसमें दृष्टि करके अपना रूप देखकर आनंदित होता है। इसी तरह परमात्मा ने अपने देखने के लिये धरती और आकाश एक उत्तम कोठी बनाई है और यह संसार एक शृंगार का कमरा बनाया है और धरती उसमें शृंगार की मेज़ के समान है और उसपर मनुष्य एक कलईदार आइना रक्खा गया है, क्योंकि मनुष्य का शरीर तो मानों आइने की चौखट के समान है और उसका हृदय एक शीशे का निर्मल टुकड़ा भीतर जड़ा हुआ है जिसके पीछे अविद्या की क़लई लगाई गई है, उसमें वह प्रतिबिम्ब की भांति किरणें मारता हुआ अपने आपको देखता है। यही उसका विलास और यही उसकी इच्छा संसार की उत्पत्ति की है। दूसरा कुछ भी तात्पर्य नहीं।

(११३) जब यह पूर्ण भी आइना देखता है, तो अपनी पूर्णता से नहीं निकल जाता, इसी तरह आत्मा भी अपने दर्शन के लिये मनुष्य में आया अपने पूर्णत्व से नहीं निकल जाता है। क्योंकि मुख भी एक प्रकार का अपना अंग होता है, जैसा वह बिना आईने के अपना दर्शन नहीं पाता, इसी तरह आत्मा भी

इस तरह स्वयं ही प्रेमी, स्वयं ही प्रेमपात्र, स्वयंही परदा होकर बहुत रूप हुआ संसार की शान (विभूति) में प्रकट हुआ है।

(११६) फिर संसार के देखने से क्योंकि एक-एक से एक-एक वस्तुमें (क्या लोक क्यापरलोक क्यासंसार क्यानरक क्या स्वर्ग क्या बंध क्या मोक्ष सब में) नियामकता और विचित्रताएँ पाई जाती हैं, कोई भी व्यर्थ और निष्प्रयोजन नहीं वरन् प्रत्येक उसके समस्त चमत्कारों और समस्त बुद्धिमत्ता को प्रकट करता है, यह किस प्रकार हो सकता है कि सूर्य की छाया की भांति प्राकृतिक रूप से वह प्रकट हुआ हो? क्योंकर हाथ की पाँच अँगुली बनाई गई हैं? बीच की अँगुली बड़ी, अँगूठा और कनिष्ठिका (छोटी अँगुली) सबसे छोटी, और ऐसे ढङ्ग से रक्खी गई हैं कि उसे चाहे मुट्ठी करें चाहे खोल दें। किसी चीज़ को पकड़ें तो पकड़ सकते हैं, किसी गिरह को खोलना चाहें तो हाथ से खोल सकते हैं। शत्रु को मुक्का मारना चाहें, तो मार सकते हैं, भाले का काम देता है। लड़के को शिक्षा देना चाहें, तो थप्पड़ का काम देता है, और भी बहुत से प्रियोजन उससे निकलते हैं जिसकी चिंता मे समस्त संसार के वैद्य वा डाक्टर दंग हैं।

(११७) वरन् यदि समस्त संसार के वैद्य वा डाक्टर मिल कर चिंता करें कि इस बनावट के सिवाय कोई दूसरी आकृति हाथ की बनाई जाय जिससे ये सब काम भी होसकें, तो कदापि चिंता न कर सकेंगे। और इसी तरह आँख के परदे और उसकी बनावटें और मुख्य मत्था फिर उनका लगाना सोचें, तो विचित्र बुद्धिमत्ता और कौशल चातुरी बनाने वाले की दिखाई देती है। और मनुष्य तथा प्राणियों के एक-एक अंग में; वनस्पतिवर्ग, खनिज वर्ग, और धरती-आकाश में पदार्थ वेत्ताओं की बुद्धि स्तंभित होती है, फिर किस प्रकार

इस तरह स्वयं ही प्रेमी, स्वयं ही प्रेमपात्र, स्वयंही परदा होकर बहुत रूप हुआ संसार की शान (विभूति) में प्रकट हुआ है।

(११६) फिर संसार के देखने से क्योंकि एक-एक से एक-एक वस्तुमें (क्या लोक क्यापरलोक क्यासंसार क्यानरक क्या स्वर्ग क्या बंध क्या मोक्ष सब में) नियामकता और विचित्रताएँ पाई जाती हैं, कोई भी व्यर्थ और निष्प्रयोजन नहीं वरन् प्रत्येक उसके समस्त चमत्कारों और समस्त बुद्धिमता को प्रकट करता है, यह किस प्रकार हो सकता है कि सूर्य की छाया की भांति प्राकृतिक रूप से वह प्रकट हुआ हो? क्योंकर हाथ की पाँच अँगुली बनाई गई हैं? बीच की अँगुली बड़ी, अँगूठा और कनिष्ठिका (चौथी अँगुली) सबसे छोटी, और ऐसे ढङ्ग से रक्खी गई हैं कि उसे चाहे मुट्ठी करें चाहे खोल दें। किसी चीज़ को पकड़ें तो पकड़ सकते हैं, किसी गिरह को खोलना चाहें तो हाथ से खोल सकते हैं। शत्रु को मुक्का मारना चाहें, तो मार सकते हैं, भाले का काम देता है। लड़के को शिक्षा देना चाहें, तो थप्पड़ का काम देता है, और भी बहुत से प्रियोजन उससे निकलते हैं जिसकी चिंता मे समस्त संसार के वैद्य वा डाक्टर दंग हैं।

(११७) वरन् यदि समस्त संसार के वैद्य वा डाक्टर मिल कर चिंता करें कि इस बनावट के सिवाय कोई दूसरी आकृति हाथ की बनाई जाय जिससे ये सब काम भी होसकें, तो कदापि चिंता न कर सकेंगे। और इसी तरह आँख के परदे और उसकी बनावटें और मुख्य मथा फिर उनका लगाना सोचें, तो विचित्र बुद्धिमत्ता और कौशल चातुरी बनाने वाले की दिखाई देती है। और मनुष्य तथा प्राणियों के एक-एक अंग में; वनस्पतिवर्ग, खनिज वर्ग, और धरती-आकाश में पदार्थ वेत्ताओं की बुद्धि स्तंभित होती है, फिर किस प्रकार

विषयों की चाट एक लेसदार शीरा है और मेरे भाषाविद्
ध्य बेचारे विद्या की कमज़ोरी के कारण व्याकुल मक्खियाँ
। निस्संदेह जैसे शीरा भी मीठा होता है, विषय भी मीठे
ते हैं, जिस तरह मक्खी मीठे के लोभ में उस में पड़ती और
फँसती है, ये न पड़ें और न फँसें।

(१२१) क्योंकि मक्खी नहीं जानती कि मैं उस के लेस से
हीं निकल सकूंगी, वरन् अपनी बुद्धि की कमज़ोरी से मिठाई
के लालच से उस में आ पड़ती है और ज्यों ज्यों पर मारती और
ड़पती है, अधिक काँप खाती है, अंततः उसीमें डूब मरती है।
सीतरह बेचारे भाषाविद् अपनी विद्याकी कमजोरी से विषयों
में यों आ पड़ते हैं जैसे एक बलवान् साँड हरे खेत में जा पड़ता
है, परन्तु उस में यों लेस पा जाता है जैसे कि एक व्याकुल
मक्खी खाँचे के शीरे में फँसती और मरती है। पर मैं तो
अपनी रचनाओं और अनुवादों से एक पंखा हिलाता हूँ। वह
तो इस पंखे की हवा में आ जाते हैं बचते हैं। किन्तु जो इस
पंखे की हवा भी नहीं खाते, ऊपर-ऊपर या इधर-उधर निकल
जाते हैं, जा फँसते हैं। मैं भी उनके बचाव का कोई उपाय
नहीं करता, तेरा प्रसाद ही वांछित है। अपनी कृपा से उन्हें
मेरे पंखे की हवा के नीचे ला जिस से मैं विषयरूपी शीरे से
उन्हें आत्म-पुष्पोद्यान दिखलाऊँ, और जंगली चिड़िया से
स्वर्ण-चिड़िया बनाऊँ।

(१२२) और इस पुष्पोद्यान में उन्हें मधु-मक्षिका की भाँति
रस उठाना सिखाऊँ और ब्रह्मलोक के सूर्य-यूप में इस रस से
अमृत बनाना बतलाऊँ जिससे वह इसी यूप में मिलाप पाते हुए
अक्षय अमृत खावें और मृत्यु के बंधन से मुक्ति पावें। कैसी
बड़ी बात है कि यदि मेरे हाथ से यह बेचारी छोटी मक्खियाँ
भी सूर्य के यूप की देवी-मक्खियां हो जायँ। और तेरी कृपा में

विषयों की चाट एक लेसदार शीरा है और मेरे भाषाविद् शिष्य बेचारे विद्या की कमज़ोरी के कारण व्याकुल मक्खियाँ हैं। निस्संदेह जैसे शीरा भी मीठा होता है, विषय भी मीठे होते हैं, जिस तरह मक्खी मीठे के लोभ में उस में पड़ती और फँसती है, ये न पड़ें और न फँसें।

(१२१) क्योंकि मक्खी नहीं जानती कि मैं उस के लेल से नहीं निकल सकूंगी, वरन् अपनी बुद्धि की कमज़ोरी से मिठाई के लालच से उस में आ पड़ती है और ज्यों ज्यों पर मारती और तड़पती है, अधिक काँप खाती है, अंततः उसीमें डूब मरती है। इसीतरह बेचारे भाषा विद् अपनी विद्याकी कमजोरी से विषयों में यों जा पड़ते हैं जैसे एक बलवान् साँड हरे खेत में जा पड़ता है, परन्तु उस में यों लेस पा जाता है जैसे कि एक व्याकुल मक्खी खाँचे के शीरे में फँसती और मरती है। पर मैं तो अपनी रचनाओं और अनुवादों से एक पंखा हिलाता हूँ। वह जो इस पंखे की हवा में आ जाते हैं बचते हैं। किन्तु जो इस पंखे की हवा भी नहीं खाते, ऊपर-ऊपर या इधर-उधर निकल जाते हैं, जा फँसते है। मैं भी उनके बचाव का कोई उपाय नहीं करता, तेरा प्रसाद ही वांछित है। अपनी कृपा से उन्हें मेरे पंखे की हवा के नीचे ला जिस से मैं विषयरूपी शीरे से उन्हें आत्म-पुष्पोद्यान दिखलाऊँ, और जंगली चिड़िया से स्वर्ण-चिड़िया बनाऊँ।

(१२२) और इस पुष्पोद्यान में उन्हें मधु-मक्षिका की भाँति रस उठाना सिखाऊँ और ब्रह्मलोक के सूर्य-यूप में इस रस से अमृत बनाना बतलाऊँ जिससे वह इसी यूप में मिलाप पाते हुए अक्षय अमृत खावें और मृत्यु के बंधन से मुक्ति पावें। कैसी बड़ी बात है कि यदि मेरे हाथ से यह बेचारी छोटी मक्खियाँ भी सूर्य के यूप की देवी-मक्खियां हो जायँ। और तेरी कृपा में

और प्रसाद की ओर बुलाते थे।

(२) किंतु न्याय (कर्मकाण्ड) के रहस्य तो उन पर खुले, प्रसाद के भेदों (रहस्यो) से उन्हें आवरण रहा, इसलिये वह कर्मकाण्डमें और शास्त्रों (पूर्व मीमाँसा) में तो लग गए, परंतु आत्मा को न जाना जिसपर मुक्त अमर जीवन और परलोक का उत्तराधिकार मिलता है। तो भी उनमें वह जो पवित्र और स्वच्छ हृदय के थे, आत्मा के विवेक की अभिरुचि रखते थे। और उसके पूछने के लिये मुण्ड के मुण्ड सनकादिक ऋषियों के पास आते और आत्मा की शिक्षा पाते थे।

(३) उनमें एक का नाम वामदेव ब्राह्मण था जो अच्छा स्वच्छ हृदय रखता था, किंतु उसे एक पिछले जन्म का ऐसा पाप था, जो दूसरे जन्म का कारण था और यही आवरण था जिसके कारण उसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता था। तो भी महा-वाक्य उसमें बीज के समान प्रभाव डालते थे। जैसे कोई बीज भूमि में बोया जाय, तो नियत समय तक वह अंकुर नहीं लाता, जब समय आता है तो अपने आप फिर अंकुर लाता है।

(४) दूसरे जन्म के आवरण के कारण जो आने वाला था उसमें अंकुर (फल) नहीं लाता था, तो भी वह यज्ञ, तप और व्रत से गोड़ी करता था, और सनकादिक मुनियो की शिक्षा की वर्षा से उसे सींचता था। अंततः वह उनमें युवावस्था में मर गया और पितृयान सड़क पर चलता हुआ चंद्र लोक में सोम-राज हो गया, और वहाँ के स्वर्ग के भोग भोगकर फिर नीचे लोकों में आया और उसी नियम से, जैसा कि हमने कर्मकाण्ड के प्रकरण में पंचाग्नि विद्या से संकेत किया है, वर्षा के द्वारा भूम्यग्नि में होम होकर अन्न हुआ, और फिर ब्राह्मणाग्नि में होम हुआ उसका वीर्य हो गया, और फिर ब्राह्मणी अग्नि में जो पंचम-होम की अग्नि है, होम हुआ गर्भ में आया, जो दूसरा

और प्रसाद की ओर बुलाते थे।

(२) किंतु न्याय (कर्मकाण्ड) के रहस्य तो उन पर खुले, प्रसाद के भेदों (रहस्यो) से उन्हें आवरण रहा, इसलिये वह कर्मकाण्डमें और शास्त्रों (पूर्व मीमाँसा) में तो लग गए, परंतु आत्मा को न जाना जिसपर मुक्त अमर जीवन और परलोक का उत्तराधिकार मिलता है। तो भी उनमें वह जो पवित्र और स्वच्छ हृदय के थे, आत्मा के विवेक की अभिरुचि रखते थे। और उसके पूछने के लिये झुण्ड के झुण्ड सनकादिक ऋषियों के पास आते और आत्मा की शिक्षा पाते थे।

(३) उनमें एक का नाम वामदेव ब्राह्मण था जो अच्छा स्वच्छ हृदय रखता था, किंतु उसे एक पिछले जन्म का ऐसा पाप था, जो दूसरे जन्म का कारण था और यही आवरण था जिसके कारण उसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता था। तो भी महावाक्य उसमें बीज के समान प्रभाव डालते थे। जैसे कोई बीज भूमि में बोया जाय, तो नियत समय तक वह अंकुर नहीं लाता, जब समय आता है तो अपने आप फिर अंकुर लाता है।

(४) दूसरे जन्म के आवरण के कारण जो आने वाला था उसमें अंकुर (फल) नहीं लाता था, तो भी वह यज्ञ, तप और व्रत से गोड़ी करता था, और सनकादिक मुनियो की शिक्षा की वर्षा से उसे सींचता था। अंततः वह उनमें युवावस्था में मर गया और पितृयान सड़क पर चलता हुआ चंद्र लोक में सोमराज हो गया, और वहाँ के स्वर्ग के भोग भोगकर फिर नीचे लोकों में आया और उसी नियम से, जैसा कि हमने कर्मकाण्ड के प्रकरण में पंचाग्नि विद्या से संकेत किया है, वर्षा के द्वारा भूम्यग्नि में होम होकर अन्न हुआ, और फिर ब्राह्मणाग्नि में होम हुआ उसका वीर्य हो गया, और फिर ब्राह्मणी अग्नि में जो पंचम होम की अग्नि है, होम हुआ गर्भ में आया, जो दूसरा

किस प्रकार बात करने की शक्ति पाई ? और तू कौन है और क्यों हँसता है ?"

(९) वामदेव बोला—ऐ भाइयो ! मैं तुम्हें जानता और पहचानता हूं, लेकिन तुम मुझे नहीं जानते पहचानते, इसलिये अपनी माया के आश्चर्य से हँसता हूं। मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि मैं कौन हूँ ! मैं वही वामदेव नाम का तुम्हारा संबन्धी हूँ जो तुम में उत्पन्न होकर बहुत समय तक तुममें रहा और तुम्हारे साथ मिलकर तप यज्ञ व्रत नियम करता था, और वही सब बातें जो उनमें हुई थीं, वामदेव ने प्रकट कीं और अच्छे पते लगाए, जिससे उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव में यही वामदेव है।

(१०) फिर उसने वर्णन किया कि ऐ भाइयों ! तुम जानते हो कि मैं तुम्हारे साथ सनकादिक मुनियों के पास आत्मा की शिक्षा पाता था और तुम भी पाते थे। किंत मुझे भावी जन्म का रोग था, इस लिये सनकादिक मुनियों की वाणी मुझ पर यथेष्ठ प्रभाव नहीं करती थी और यह परदा बिना दूसरा जन्म लेने के दूर होने के योग्य नहीं था, किस प्रकार मुझे आत्मा प्रत्यक्ष होता ? जिस तरह बीज बोया गया हो और उस पर एक पत्थर रख दिया गया हो, तो किस प्रकार अंकुर निकल सकता है ? भावी जन्म का पाप मेरे मन में एक कठोर पत्थर था, जो कुछ सनकादिक मुनियों ने मन के खेत में बोया था, उस समय अंकुर न लाया।

(११) अब जो मैं तुममें से सो गया और दूसरे जन्ममें उठा तो आने वाले जन्म का पत्थर समाप्त हुआ। वही शिक्षा का बीज अंकुर लाया। अब मैं अपने आत्मा को उन्हीं की वाणी (शिक्षा) से प्रत्यक्ष पाता हूं, और मैं निश्चय करता हूँ कि "मैंही मनु हूं, मैं ही सूर्य हूँ, वरन् सब में सब कुछ हूँ"।

किस प्रकार बात करने की शक्ति पाई ? और तू कौन है और क्यों हँसता है ?"

(९) वामदेव बोला—ऐ भाइयो ! मैं तुम्हें जानता और पहचानता हूं, लेकिन तुम मुझे नहीं जानते पहचानते, इसलिये अपनी माया के आश्चर्य से हँसता हूं। मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि मैं कौन हूँ ? मैं वही वामदेव नाम का तुम्हारा संबन्धी हूँ जो तुम में उत्पन्न होकर बहुत समय तक तुममें रहा और तुम्हारे साथ मिलकर तप यज्ञ व्रत नियम करता था, और वही सब बातें जो उनमें हुई थीं, वामदेव ने प्रकट कीं और अच्छे पते लगाए, जिससे उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव में यही वामदेव है।

(१०) फिर उसने वर्णन किया कि ऐ भाइयो ! तुम जानते हो कि मैं तुम्हारे साथ सनकादिक मुनियों के पास आत्मा की शिक्षा पाता था और तुम भी पाते थे। किंतु मुझे भावी जन्म का रोग था, इस लिये सनकादिक मुनियों की वाणी मुझ पर यथेष्ठ प्रभाव नहीं करती थी और यह परदा बिना दूसरा जन्म लेने के दूर होने के योग्य नहीं था, किस प्रकार मुझे आत्मा प्रत्यक्ष होता ? जिस तरह बीज बोया गया हो और उस पर एक पत्थर रख दिया गया हो, तो किस प्रकार अंकुर निकल सकता है ? भावी जन्म का पाप मेरे मन में एक कठोर पत्थर था, जो कुछ सनकादिक मुनियों ने मन के खेत में बोया था, उस समय अंकुर न लाया।

(११) अब जो मैं तुममें से सो गया और दूसरे जन्ममें उठा तो आने वाले जन्म का पत्थर समाप्त हुआ। वही शिक्षा का बीज अंकुर लाया। अब मैं अपने आत्मा को उन्हीं की वाणी (शिक्षा) से प्रत्यक्ष पाता हूं, और मैं निश्चय करता हूँ कि "मैंही मनु हूं, मैं ही सूर्य हूँ, वरन् सब मैं सब कुछ हूँ"।

में बोला ।

(१६) आश्चर्य मत करो । अपने आत्मा की पहचान की महिमा है कि मैं अपने आप को सर्व रूप देखता हूँ, और यही आत्मज्ञान है जो उस प्रसाद में भी प्रविष्ट कराता है और वह यज्ञ और तप जो मैं करता था उनका फल है कि मैं गर्भ में बोलता हूँ । मेरी माया का यही दैवी नियम है ।

(१७) ऐ भाइयो ! जो कुछ कि सनकादिक ऋषियों ने तुम्हें शिक्षा दी है, सच है उस पर ध्यान करो और ध्यान करके विश्वास करो तुम भी प्रसाद पाओगे । तुम्हारे मनों में पाप और संशय (अविश्वास) है, जिस से तुम प्रसाद में नहीं आये । क्या तुम अब मेरी साक्षी नहीं देखते कि मैं उस प्रसाद के कारण किस विचित्र शक्ति में आया हूँ ? क्या कोई गर्भ में भी बात चीत कर सकता है ?

(१८) देखो मैं तुम्हारे सामने गर्भ में जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ बोलता हूँ, और इस बड़े प्रसाद का निश्चय करता हूँ कि मैं सब में सब कुछ हूँ । क्या मैं भी जब तम में था, तुम्हारी तरह नहीं डरता था कि यह ईश्वरीय अभिमान है, हम अकिंचन (अधीन) मनुष्य हैं ? पर अब जो अपनी आत्मा की पहचान पाई और शरीरों और योनियों को कपड़ों की तरह बदलते देखा, तो निश्चय करता हूँ कि "मैं अनादि, अनन्त, आदि, अन्त, बाह्य भीतर हूँ । ऐ मृत्यु ! तेरा डंक कहाँ ! ऐ चिता तेरी तपन कहाँ !

(१९) ऐ भाइयो ! संसार मुझे यों दिखाई देता है जैसे भात का एक ग्रास होता है । और यमराज एक चटनी है, और मैं उसे इस प्रकार खाता हूँ जैसे एक बलवान् मनुष्य एक ग्रास के साथ खा जाता है और स्वादिष्ट निश्चय करता है । यह ईश्वरीय अहंकार नहीं, वरन् मैं अपने आत्मा की बड़ाई करता

में बोला।

(१६) आश्चर्य मत करो। अपने आत्मा की पहचान की महिमा है कि मैं अपने आप को सर्व रूप देखता हूँ, और यही आत्मज्ञान है जो उस प्रसाद में भी प्रविष्ट कराता है और वह यज्ञ और तप जो मैं करता था उनका फल है कि मैं गर्भ में बोलता हूँ। मेरी माया का यही दैवी नियम है।

(१७) ऐ भाइयो! जो कुछ कि सनकादिक ऋषियों ने तुम्हें शिक्षा दी है, सच है उस पर ध्यान करो और ध्यान करके विश्वास करो तुम भी प्रसाद पाओगे। तुम्हारे मनों में पाप और संशय (अविश्वास) है, जिस से तुम प्रसाद में नहीं आये। क्या तुम अब मेरी साक्षी नहीं देखते कि मैं उस प्रसाद के कारण किस विचित्र शक्ति में आया हूँ? क्या कोई गर्भ में भी बात चीत कर सकता है?

(१८) देखो मैं तुम्हारे सामने गर्भ में जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ बोलता हूँ, और इस बड़े प्रसाद का निश्चय करता हूँ कि मैं सब में सब कुछ हूँ। क्या मैं भी जब तुम में था, तुम्हारी तरह नहीं डरता था कि यह ईश्वरीय अभिमान है, हम अकिंचन (अधीन) मनुष्य हैं? पर अब जो अपनी आत्मा की पहचान पाई और शरीरों और योनियों को कपड़ों की तरह बदलते देखा, तो निश्चय करता हूँ कि "मैं अनादि, अनन्त, आदि, अन्त, बाह्य भीतर हूँ। ऐ मृत्यु! तेरा डंक कहाँ! ऐ चिता तेरी तपन कहाँ!

(१९) ऐ भाइयो! संसार मुझे यों दिखाई देता है जैसे भात का एक ग्रास होता है। और यमराज एक चटनी है, और मैं उसे इस प्रकार खाता हूँ जैसे एक बलवान् मनुष्य एक ग्रास के साथ खा जाता है और स्वादिष्ट निश्चय करता है। यह ईश्वरीय अहंकार नहीं, वरन् मैं अपने आत्मा की बड़ाई करता

इसलिये वह जो इस निश्चय को नहीं मानते, वास्तव में पापी हैं और उनके पाप उनके अन्धकार में छुपे हैं। जो इस निश्चय को नहीं मानते, वे इसके निकट नहीं आ सकते। ऐसा न हो कि उनके पाप खुल जायँ, इसलिये इस निश्चय से डरकर इसे नहीं मानते और इसे नास्तिकता समझते हैं।

(२४) ऐ भाइयो! यही निश्चय है जिसपर आता है प्रसाद पर प्रसाद। यही विवेक है जिसपर मिलती है क्षमा पर क्षमा। यही ज्ञान है जिसपर मिलती है, मुक्ति पर मुक्ति। इसको ढूंढो, इसको पाओ। इसी को पाता हुआ मनुष्य ब्रह्म होता है। इसको पाकर जंगल की चिड़ियां सोने की चिड़िया हो जाती हैं। मैं इस निश्चय से धन्य धन्य हो गया हूँ, और इसी ज्ञान से कृत कृत्य हूँ।

(२५) जो वामदेव ने इस प्रकार उन्हें शिक्षा दी, तो आश्चर्य ने उन्हें आ घेरा और कहा कि तू कब तक हमें उधेड़ बुन में रक्खेगा? सच सच कहो, तुम कौन हो? वामदेव एक हमारा साथी अकिंचन जीव था, हमारी आँखों में इसी अकिंचनता में मर गया। यदि भूत हो, तो भी बता दो। यदि किसी देवता का अवतार हो, तो भी बतलाओ। हैरान न करो।

(२६) तब वह बोला—मैं ने तो कहा, तुम विश्वास नहीं करते। मैं सच कहता हूँ, पर तुम नहीं मानते। जो कोई मेरी सुनता है, मैं उसे अनन्त जीवन मुफ्त में प्रदान करता हूँ। पर तुम सुनते हुए नहीं सुनते। तुम्हारे शिर के कान तो खुले हुए हैं, पर हृदय के कान बंद हैं। तुमने सनकादिक मुनियों से सुना, पर निश्चय नहीं किया। ऐ अबोधो! यदि मेरी बात को नहीं मानते, तो मेरे कामों को तो मानो कि अभी उत्पन्न नहीं हुआ और गर्भ में बोलता हूँ, क्या कहीं ऐसा हुआ है?

(२७) ऐ अविद्यासियो! मैं अविद्या के कारण तुम्हें

इसलिये वह जो इस निश्चय को नहीं मानते, वास्तव में पापी हैं और उनके पाप उनके अन्धकार में छुपे हैं। जो इस निश्चय को नहीं मानते, वे इसके निकट नहीं आ सकते। ऐसा न हो कि उनके पाप खुल जायँ, इसलिये इस निश्चय से डरकर इसे नहीं मानते और इसे नास्तिकता समझते हैं।

(२४) ऐ भाइयो! यही निश्चय है जिसपर आता है प्रसाद पर प्रसाद। यही विवेक है जिसपर मिलती है क्षमा पर क्षमा। यही ज्ञान है जिसपर मिलती है, मुक्ति पर मुक्ति। इसको ढूंढो, इसको पाओ। इसी को पाता हुआ मनुष्य ब्रह्म होता है। इसको पाकर जंगल की चिड़ियां सोने की चिड़िया हो जाती हैं। मैं इस निश्चय से धन्य धन्य हो गया हूँ, और इसी ज्ञान से कृत कृत्य हूँ।

(२५) जो वामदेव ने इस प्रकार उन्हें शिक्षा दी, तो आश्वन ने उन्हें आ घेरा और कहा कि तू कब तक हमें उधेड़ बुन में रक्खेगा? सच सच कहो, तुम कौन हो? वामदेव एक हमारा साथी अकिंचन जीव था, हमारी आँखों में इसी अकिंचनता में मर गया। यदि भूत हो, तो भी बता दो। यदि किसी देवता का अवतार हो, तो भी बतलाओ। हैरान न करो।

(२६) तब वह बोला—मैं ने तो कहा, तुम विश्वास नहीं करते। मैं सच कहता हूँ, पर तुम नहीं मानते। जो कोई मेरी सुनता है, मैं उसे अनन्त जीवन मुफ्त में प्रदान करता हूँ। पर तुम सुनते हुए नहीं सुनते। तुम्हारे शिर के कान तो खुले हुए हैं, पर हृदय के कान बंद हैं। तुमने सनकादिक मुनियों से सुना, पर निश्चय नहीं किया। ऐ अबोधो! यदि मेरी बात को नहीं मानते, तो मेरे कामों को तो मानो कि अभी उत्पन्न नहीं हुआ और गर्भ में बोलता हूँ, क्या कहीं ऐसा हुआ है?

(२७) ऐ अविद्यावासियो! मैं अविद्या के कारण तुम्हें

पाया, जो हम अपनी आँखों के सामने देखते हैं। अब हमें भी इस प्रसाद में घुला और यह भेद की बात बतला जो तू आप देखता है। हम भी तेरी कृपा से तत्त्व पदार्थ पावेंगे।

(३१) तब वामदेव बोला—ऐ भाइयो! यह आत्मा अकेला है और अपने सौन्दर्य में अद्वितीय है और अपने कामों में सर्व शक्तिमान है। इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं जो उसको देखे, इसलिये उसे चाव है कि वह अपने आप को देखे। जैसे सुन्दरी स्त्री को चाव होता है कि उसे कोई देखे, किन्तु जब वह परदे में रक्खी जाती है, तो उसी चाव के कारण वह अपने पास आरसी रखती है और आप ही अपने आप को उस में देख कर प्रसन्न होती है।

(३२) परदे में स्त्री का मुँह भी अकेला होता है, दूसरा नहीं जो उसे देखे, और मुँह भी अकेला है, इसलिये क्योंकर अपने आप को देखे? किन्तु आरसी के द्वारा यद्यपि एक मुँह दो नहीं हो जाता तो भी दो सा होता अन्य सा हो जाता है, और जहाँ यह अकेला दुकेला सा होता है, अकेला दुकेले को देखता है। इसी तरह सुन्दरी स्त्री भी आरसी में दूसरी स्त्री होकर अपने आप को देखती है।

(३३) यह आत्मदेव तो उस से बढ़ कर अकेला और सुन्दर है, क्योंकि न तो वह कोई गुण रखता है न अंश, वरन् सब गुणों और अंशों से पवित्र है और सौंदर्यरूप है, क्योंकि समस्त सौंदर्य और सुषमा (शोभा) इसी की किरणें और इसीकी प्रभा हैं, किस प्रकार अपने आप को देखे? पर सौंदर्य रूप है, इसलिये देखने का चाव अनाद्यनंत है, इसलिये उसे भी दर्पण की आवश्यकता है जिसमें वह उसमें दूसरा सा होकर और एक से दो-सा होता हुआ प्रेम पूरा करे और अपना दर्शन पावे।

बताया, जो हम अपनी आँखों के सामने देखते हैं। अब हमें भी इस प्रसाद में खुला और यह भेद की बात बतला जो तू आप देखता है। हम भी तेरी कृपा से तत्त्व पदार्थ पावेंगे।

(३१) तब वामदेव बोला—ऐ भाइयो! यह आत्मा अकेला है और अपने सौन्दर्य में अद्वितीय है और अपने कामों में सर्व शक्तिमान है। इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं था उसको देखे, इसलिये उसे चाव है कि वह अपने आप को देखे। जैसे सुन्दरी स्त्री को चाव होता है कि उसे कोई देखे, किन्तु जब वह परदे में रक्खी जाती है, तो उसी चाव के कारण वह अपने पास आरसी रखती है और आप ही अपने आप को उस में देख कर प्रसन्न होती है।

(३२) परदे में स्त्री का मुँह भी अकेला होता है, दूसरा नहीं जो उसे देखे, और मुँह भी अकेला है, इसलिये क्योंकर अपने आप को देखे? किन्तु आरसी के द्वारा यद्यपि एक मुँह दो नहीं हो जाता तो भी दो सा होता अन्य सा हो जाता है, और जहाँ वह अकेला दुकेला सा होता है, अकेला दुकेले को देखता है। इसी तरह सुन्दरी स्त्री भी आरसी में दूसरी स्त्री होकर अपने आप को देखती है।

(३३) यह आत्मदेव तो उस से बढ़ कर अकेला और सुन्दर है, क्योंकि न तो वह कोई गुण रखता है न अंश, वरन् सब गुणों और अंशों से पवित्र है और सौंदर्यरूप है, क्योंकि समस्त सौंदर्य और सुषमा (शोभा) इसी की किरणें और इसीकी प्रभा हैं, किस प्रकार अपने आप को देखे? पर सौंदर्य रूप है, इसलिये देखने का चाव अनाद्यनंत है, इसलिये उसे भी दर्पण की आवश्यकता है जिसमें वह उसमें दूसरा सा होकर और एक से दो-सा होता हुआ प्रेम पूरा करे और अपना दर्शन पावे।

संसार पलायन हो जाता है। वही पूर्ण का पूर्ण होता है। यही उस की प्रारब्ध है।

(३८) तब वह बोले—ऐ वामदेव! हमें विस्तार-पूर्वक बतलाओ कि क्योंकर वह अपनी माया से भिन्न होता है? और उसका दर्पण क्या है? और क्योंकर वह इस दर्पण को तैयार करता है? और क्योंकर दर्पण में उतर आता है? और क्योंकर दर्पण में आया संसारी होता है? और क्योंकर वह उस में दृष्टि करता है? और क्योंकर फिर वह अछिनोय होता इस जादूघर से निकलता है? और क्या क्या इस जादूगरी में वह कारीगरियाँ करता है?

(३९) *तब वामदेव बोला—ऐ भाइयो! आरम्भ में यही अकेला आत्मा था। दूसरा कुछ भी कल्पित न था। तब उस ने चाहा कि मैं अपना दर्शन करूँ और अपने लिये दर्पण बनाऊँ, लेकिन जिस तरह एक बड़ा इञ्जीनियर मिस्त्री पहले चिंता करता है और उसकी लकड़ी और पत्तियाँ और कील तैयार करता है, फिर उन्हें जोड़ता और शीशा भीतर लगाता है, उसी तरह उस ने विचार करके अपने आत्मा से आकाश को बनाया। आकाश से वायु को बनाया, वायु से अग्नि को बनाया, अग्नि से जल को बनाया और जल से पृथ्वी को बनाया जो सब पदार्थों की मूल है।

(४०) आश्चर्य मत करो कि उसने अपने आत्मा से यह क्योंकर बनाया जब कि उस के पास सिवाय आत्मा के दूसरा कुछ उपादान न था, वरन् जिस तरह पानी बिलोने से झाग प्रकट होती है, उसी तरह उसके संकल्प से तीन गुण वाली माया झाग की तरह प्रकट हुई, जो उसीकी विभूति उस से पृथक् नहीं, और वही संकल्प रूप थी, इस लिये आप ही उपा-

* यहां से ऐतरेय उपनिषद् का पहला अध्याय खण्ड पहला आरम्भ होता है।

संसार पलायन हो जाता है । वही पूर्ण का पूर्ण होता है। वही उस की प्रारब्ध है ।

(३८) तब वह बोले—ऐ वामदेव ! हमें विस्तार-पूर्वक बतलाओ कि क्योंकर वह अपनी माया से भिन्न होता है ? और उसका दर्पण क्या है ? और क्योंकर वह इस दर्पण को तैयार करता है ? और क्योंकर दर्पण में उतर आता है ? और क्योंकर दर्पण में आया संसारी होता है ? और क्योंकर वह उस में दृष्टि करता है ? और क्योंकर फिर वह अद्वितीय होता इस जादूघर से निकलता है ? और क्या क्या इस जादूगरी में वह कारीगरियाँ करता है ?

(३९) *तब वामदेव बोला—ऐ भाइयो ! आरम्भ में यही अकेला आत्मा था । दूसरा कुछ भी कल्पित न था । तब उस ने चाहा कि मैं अपना दर्शन करूँ और अपने लिये दर्पण बनाऊँ, लेकिन जिस तरह एक बड़ा इञ्जीनियर मिस्त्री पहले चिंता करता है और उसकी लकड़ी और पत्तियाँ और कील तैयार करता है, फिर उन्हें जोड़ता और शीशा भीतर लगाता है, उसी तरह उस ने विचार करके अपने आत्मा से आकाश को बनाया । आकाश से वायु को बनाया, वायु से अग्नि को बनाया, अग्नि से जल को बनाया और जल से पृथ्वी को बनाया जो सब पदार्थों की मूल है ।

(४०) आश्चर्य मत करो कि उसने अपने आत्मा से यह क्योंकर बनाया जब कि उस के पास सिवाय आत्मा के दूसरा कुछ उपादान न था, बरन् जिस तरह पानी बिलोने से झाग प्रकट होती है, उसी तरह उसके संकल्प से तीन गुण वाली माया झाग की तरह प्रकट हुई, जो उसीकी विभूति उस से पृथक् नहीं, और वही संकल्प रूप थी, इस लिये आप ही उपा-

* यहां से ऐतरेय उपनिषद् का पहला अध्याय खण्ड पहला आरम्भ होता है।

संस्कृत में सूर्य की किरणों का ही नाम है। जितने अन्तरिक्ष में किरणें फैलती हुई समाप्त होती हैं, उतने अन्तरिक्ष को मरीचि बोलते हैं, क्योंकि वह सूर्य की किरणों वाला है, इस लिये मरीचि है।

(४५) तीसरा लोक मर है और उसे मा त लोक भी बोलते हैं, क्योंकि मर और मात संस्कृत में मृत्यु का नाम है। जहाँ तक मृत्यु या मरने का निश्चय होता है, वही मर या मृत्यु लोक कहलाता है, और धरती उस की अन्तिम सीमा वा उद्देश्य है, इसी में प्रायः जन्म-मरण का बर्ताव होता है, यद्यपि दूसरे लोकों में भी जीवधारियों के शरीरों की मृत्यु होती है और मर... लोक में पतित होते हैं। परंतु इस हेतु कि वहाँ उन के श... पार्थिव नहीं होते वरन् आत्मिक और सूक्ष्म होते हैं और ... के समाप्त होने पर शोक और दुःख की अग्नि से तेल की ... पिघल जाते हैं, उन में नाश (नास्ति) का तो निश्चय हो... मृत्यु का निश्चय नहीं होता।

(४६) यहाँ मात लोक में तो शरीर [illegible] रहता है और प्राण उठते हैं, पीछे लाश (अर्थात् [illegible]) होती है, इसलिये यहां केवल मृत्यु का [illegible] होता है, इसी कारण इस को मात लोक कहते हैं।

(४७) चौथा लोक आपः है। उसे पाताल लोक भी बोलते हैं। इस हेतु कि उसमें पानी सब से अधिक है, इस लिये उसे आप भी कहते हैं। क्योंकि आप का अर्थ वास्तव में जल है। जो संस्कृत भाषा जानता है उसे भली भांति समझ सकता है। और इसी कारण कि यह सबसे नीचे का लोक है, इसे पाताल लोक भी बोलते हैं।

(४८) इन चारों लोकों में से प्रत्येक में बहुत-बहुत लोक सम्मिलित हैं। जिस तरह एक अम्भः लोक में हेतु वर्णन किया

संस्कृत में सूर्य की किरणों का ही नाम है। जितने अन्तरिक्ष में किरणें फैलती हुई समाप्त होती हैं, उतने अन्तरिक्ष को मरीचि बोलते हैं, क्योंकि वह सूर्य की किरणों वाला है, इस लिये मरीचि है।

(४५) तीसरा लोक मर है और उसे मात लोक भी बोलते हैं, क्योंकि मर और मात संस्कृत में मृत्यु का नाम है। जहाँ तक मृत्यु या मरने का निश्चय होता है, वही मर या मृत्यु लोक कहलाता है, और धरती उस की अन्तिम सीमा वा उद्देश्य है, इसी में प्रायः जन्म-मरण का बर्ताव होता है, यद्यपि दूसरे लोकों में भी जीवधारियों के शरीरों की मृत्यु होती है और म[illegible] लोक में पतित होते हैं। परंतु इस हेतु कि वहाँ उन के श[illegible] पार्थिव नहीं होते वरन् आत्मिक और सूक्ष्म होते हैं और [illegible] के समाप्त होने पर शोक और दुःख की अग्नि से तेल की [illegible] पिघल जाते हैं, उन में नाश (नास्ति) का तो निश्चय हो[illegible] मृत्यु का निश्चय नहीं होता।

(४६) यहां मात लोक में तो शरीर स्थि[illegible] रहता है और प्राण उठते हैं, पीछे लाश (अर्थात् मृतक [illegible]) होती है, इसलिये यहां केवल मृत्यु का [illegible] होता है, इसी कारण इस को मात लोक कहते हैं।

(४७) चौथा लोक आपः है। उसे पाताल लोक भी बोलते हैं। इस हेतु कि उसमें पानी सब से अधिक है, इस लिये उसे आप भी कहते हैं। क्योंकि आप का अर्थ वास्तव में जल है। जो संस्कृत भाषा जानता है उसे भली भांति समझ सकता है। और इसी कारण कि यह सबसे नीचे का लोक है, इसे पाताल लोक भी बोलते हैं।

(४८) इन चारों लोकों में से प्रत्येक में बहुत-बहुत लोक सम्मिलित हैं। जिस तरह एक अम्भः लोक में हेतु वर्णन किया

है, उस श्रुति के विरुद्ध नहीं है जो चार लोक वर्णन करती है, और हम ने भाषाविदों के लिये स्पष्ट लिख दिया है जिससे अन्य शास्त्रों के वचन से उसे आश्चर्य न उत्पन्न हो।

(४२) जब आत्मा इस प्रकार ये चार लोक समस्त प्राणियों के कर्मों के फल देने के लिये आधाद्रियों (चक्कियों) की तरह तैयार कर चुका, तो जिस तरह बुद्धिमान् इञ्जीनियर सोचता है कि यद्यपि पट्टियां एक दूसरे में फंसा दी गई हैं, किंतु जब तक उनमें मेखें और पेंच न लगेंगे, तब तक वह दृढ़ और स्थिर नहीं होंगी।

(४३) इसी तरह परमात्मा ने भी देखा कि ये लोक तैयार तो हो गए हैं, परन्तु जब तक इनके लोकपाल तैयार नहीं होंगे, ये किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे? इस लिये उस ने चाहा कि मैं उनके लोकपालों को भी बनाऊं जो इनकी परिपालन और रक्षा करें। वह जो किसी को पालता और रक्षा करता है, वह उसी का रब वा देवता होता है। इस हेतु कि ये लोकपाल भी इन लोकों की परिपालन और रक्षा करते हैं, इसी कारण तत्ववेत्ता उनको उन लोकों के रब वा देवता बोलते हैं, और इस कारण कि वह इनकी स्थिति के उत्तरदाता हैं, उन्हें उर्दू भाषा में मुअक्किल बोलते हैं। संस्कृत में उनको लोकपाल या अधिष्ठात्री देवता भी कहते हैं।

(४४) फिर उसने यह सोच कर उन्हीं पानियों से जो पञ्च तत्वों से बनाये गये थे और जिससे ये देवलोक निर्माण किये गये थे, थोड़ा-सा पानी लेकर उसे भली भाँति जोश दिया और मथित कर सूक्ष्म किया, और उससे प्रथम विराट पुरुष बनाया जिसे संस्कृत में प्रजापति या हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा भी कहते हैं और उसका रूप शिर से पैर तक इसी तरह बनाया जैसे कि छोटे से मनुष्य का है।

है, उस श्रुति के विरुद्ध नहीं है जो चार लोक वर्णन करती है, और हम ने भाषाविदों के लिये स्पष्ट लिख दिया है जिससे अन्य शास्त्रों के वचन से उसे आश्चर्य न उत्पन्न हो।

(५२) जब आत्मा इस प्रकार ये चार लोक समस्त प्राणियों के कर्मों के फल देने के लिये आबादियों (बस्तियों) की तरह तैयार कर चुका, तो जिस तरह बुद्धिमान् इञ्जीनियर सोचता है कि यद्यपि पट्टियां एक दूसरे में फंसा दी गई हैं, किंतु जब तक उनमें मेख और पेंच न लगेंगे, तब तक वह दृढ़ और स्थिर नहीं होंगी।

(५३) इसी तरह परमात्मा ने भी देखा कि ये लोक तैयार तो हो गए हैं, परन्तु जब तक इनके लोकपाल तैयार नहीं होंगे, ये किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे? इस लिये उस ने चाहा कि मैं उनके लोकपालों को भी बनाऊं जो इनकी परिपालन और रक्षा करें। वह जो किसी को पालता और रक्षा करता है, वह उसी का रब वा देवता होता है। इस हेतु कि ये लोकपाल भी इन लोकों की परिपालन और रक्षा करते हैं, इसी कारण तत्ववेत्ता उनको उन लोकों के रब वा देवता बोलते हैं, और इस कारण कि वह इनकी स्थिति के उत्तरदाता है, उन्हें उर्दू भाषा में मुअक्किल बोलते है। संस्कृत में उनको लोकपाल या अधिष्ठात्री देवता भी कहते हैं।

(५४) फिर उसने यह सोच कर उन्हीं पानियों से जो पञ्च तत्वों से बनाये गये थे और जिससे ये देवलोक निर्माण किये गये थे, थोड़ा-सा पानी लेकर उसे भली भाँति जोश दिया और मथित कर सूक्ष्म किया, और उससे प्रथम विराट पुरुष बनाया जिसे संस्कृत में प्रजापति या हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा भी कहते हैं और उसका रूप शिर से पैर तक इसी तरह बनाया जैसे कि छोटे से मनुष्य का है।

रहता है। और नाभि से तात्पर्य वह मकान वा स्थान है जहाँ सब प्राण कर्मों के बंधन में बांध दिये गये हैं। और अपान से तात्पर्य अपान शक्ति है जो जीवन के विरोधी को शरीर से निकालती रहती है, उसका देवता यमराज है।

(६५) लिङ्ग वास्तव में जनन शक्ति का स्रोत है, और वीर्य से उसका अनिवार्य-सम्बन्ध होने के कारण उसे वीर्य शब्द से श्रुति में वर्णन करते हैं।

(६६) जब इस प्रकार आत्मा ने सब लोकपाल (देवता) संकल्प से बना दिये और उन्हें मेखों की तरह उन लोकों में दृढ़ता के लिये ठोंक दिया, तो मानो ये देवता एक बड़े विचित्र संसार-समुद्र में डाल दिये गये। ऐ भाइयो! इस विचित्र संसार-समुद्र का हाल सुनो कि क्या २ सयानपें वा चतुराइयां इसमें रक्खी गई हैं, यद्यपि मुख्य प्रयोजन संसार का बनाना यही शृंगार का गला है, जो वर्णन किया गया है, तो भी जो क्षणिक सयानपें इसमें उसने बनाई, उन से भी एक विचित्र समुद्र-सा हो गया है।

(६७) इस संसार-समुद्र में अविद्या, लालच और कर्मों से उत्पन्न हुआ दुःख और शोक तो मानो पानी है, बड़े-बड़े रोग, बुढ़ापा और मृत्यु मानों उस में मछलियां हैं, और अनादि और अनंत उस में दो किनारे हैं।

(६८) विषयों के भोग से जो सुख होता है वही उसके टापू हैं, जहाँ प्राणी कुछ आराम पाता-सा ख़याल करता है, और पाँचों इन्द्रियां उनके विषय हैं; विषयों की तृष्णा मानों उसपर वायु चलती है जिस से बड़े-बड़े पाप और अपराध रूपी लहरें उस में उठती हैं।

(६९) फिर रौरव आदिक नरक और उस में प्राणियों के क्रन्दन से उठता हुआ जो शब्द है, वही इस समुद्र का शोर

रहता है। और नाभि से तात्पर्य वह मकान या स्थान है जहाँ सब प्राण कर्मों के बंधन में बांध दिये गये हैं। और अपान से तात्पर्य अपान शक्ति है जो जीवन के विरोधी को शरीर से निकालती रहती है, उसका देवता यमराज है।

(६५) लिङ्ग वास्तव में जनन शक्ति का स्रोत है, और वीर्य से उसका अनिवार्य-सम्बन्ध होने के कारण उसे वीर्य शब्द से श्रुति में वर्णन करते हैं।

(६६) अब इस प्रकार आत्मा ने सब लोकपाल (देवता) संकल्प से बना दिये और उन्हें मेखों की तरह उन लोकों में दृढ़ता के लिये ठोंक दिया, तो मानो ये देवता एक बड़े विचित्र संसार-समुद्र में डाल दिये गये। ऐ भाइयो! इस विचित्र संसार-समुद्र का हाल सुनो कि क्या २ सयानपें या चतुराइयां इसमें रक्खी गई हैं, यद्यपि मुख्य प्रयोजन संसार का बनाना वही शृंगार का गला है, जो वर्णन किया गया है, तो भी जो क्षणिक सयानपें इसमें उसने बनाई, उन से भी एक विचित्र समुद्र-सा हो गया है।

(६७) इस संसार-समुद्र में अविद्या, लालच और कर्मों से उत्पन्न हुआ दुःख और शोक तो मानो पानी है, बड़े-बड़े रोग, बुढ़ापा और मृत्यु मानों उस में मछलियां हैं, और अनादि और अनंत उस में दो किनारे हैं।

(६८) विषयों के भोग से जो सुख होता है वही उसके टापू हैं, जहाँ प्राणी कुछ आराम पाता-सा ख़्याल करता है, और पाँचों इन्द्रियां उनके विषय हैं; विषयों की तृष्णा मानों उसपर वायु चलती है जिस से बड़े-बड़े पाप और अपराध रूपी लहरें उस में उठती हैं।

(६९) फिर रौरव आदिक नरक और उस में प्राणियों के क्रन्दन से उठता हुआ जो शब्द है, वही इस समुद्र का शोर

ज़ाओ जहाँ हम बैठकर भोजन भी करें, और फिर हमारे लिये भोजन भी बनाओ, अन्यथा इस भूख प्यास के कारण हम नहीं रह सकते ।

(७४) अतः परमात्मा ने उन्हीं पानियों से एक गाय बनाई, और उनके पास लाया कि यह तुम्हारे भोजन और भोग का भवन हो सकता है । परन्तु उन्होंने कहा कि यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है । फिर वह एक घोड़ा बना लाया । कहा, यह भी पर्याप्त नहीं । इसी तरह एक पशु और पक्षी बना लाया । उनके भोग के लिये पर्याप्त नहीं हुए । ये समस्त पशु पक्षी जो संसार में दिखाई देते हैं, उनमें देवता भोग तो पाते हैं किंतु तृप्त नहीं होते ।

(७५) फिर परमात्मा प्रजापति की आकृति पर, जो उनकी ज्योति है, एक संक्षिप्त मनुष्य बना लाया । ये (देवता) उसे अपनी ज्योति में उसकी आकृति देखकर प्रसन्न हुए । कहा, 'निस्संदेह यह यथेष्ट और ठीक है । इसी कारण श्रुति भगवती कहती है कि मनुष्य ही वास्तव में सुकृत है, क्योंकि वही यज्ञादिक कर्मों से देवताओं को तृप्त कर सकता है ।

(७६) उन देवताओं ने यह संक्षिप्त मनुष्य पाकर परमात्मा को धन्यवाद अर्पण किया, क्योंकि इसमें उनके सारे भोग मिल सकते थे । फिर परमात्मा ने कहा कि तुम सब इस मनुष्य में अपने-अपने नियत स्थानों में प्रविष्ट हो जाओ । अतः ये देवता उसकी आज्ञा पाकर उस ब्रह्मपुर में उसी तरह प्रविष्ट हो गए जैसे कि बड़े-बड़े श्रीमान् राजसभा के लिये राजघर में प्रविष्ट होते हैं ।

(७७) अग्नि का देवता वाणी होकर अपनी ज्योति (मुख) में प्रविष्ट हो गया, वायु का देवता श्वास होकर अपनी ज्योति (नासिका) में आ गया, सूर्य का देवता चक्षु होकर अपनी ज्योति (आंख) में आगया, दिशाओं का देवता श्रोत्र होकर

कहो जहाँ हम बैठकर भोजन भी करें, और फिर हमारे लिये भोजन भी बनाओ, अन्यथा इस भूख प्यास के कारण हम नहीं रह सकते ।

(७४) अतः परमात्मा ने उन्हीं पानियों से एक गाय बनाई, और उनके पास लाया कि यह तुम्हारे भोजन और भोग का भवन हो सकता है । परन्तु उन्होंने कहा कि यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है । फिर वह एक घोड़ा बना लाया । कहा, यह भी पर्याप्त नहीं । इसी तरह एक पशु और पक्षी बना लाया । उनके भोग के लिये पर्याप्त नहीं हुए । ये समस्त पशु पक्षी जो संसार में दिखाई देते हैं, उनमें देवता भोग तो पाते हैं किंतु तृप्त नहीं होते ।

(७५) फिर परमात्मा प्रजापति की आकृति पर, जो उनकी ज्योति है, एक संक्षिप्त मनुष्य बना लाया । ये (देवता) उसे अपनी ज्योति में उसकी आकृति देखकर प्रसन्न हुए । कहा, 'निःसंदेह यह यथेष्ट और ठीक है । इसी कारण श्रुति भगवती कहती है कि मनुष्य ही वास्तव में सुकृत है, क्योंकि वही यज्ञादिक कर्मों से देवताओं को तृप्त कर सकता है ।

(७६) उन देवताओं ने यह संक्षिप्त मनुष्य पाकर परमात्मा को धन्यवाद अर्पण किया, क्योंकि इसमें उनके सारे भोग मिल सकते थे । फिर परमात्मा ने कहा कि तुम सब इस मनुष्य में अपने-अपने नियत स्थानों में प्रविष्ट हो जाओ । अंतः ये देवता उसकी आज्ञा पाकर उस ब्रह्मपुर में उसी तरह प्रविष्ट हो गए जैसे कि बड़े-बड़े श्रीमान् राजसभा के लिये राजघर में प्रविष्ट होते हैं ।

(७७) अग्नि का देवता वाणी होकर अपनी ज्योति (मुख) में प्रविष्ट हो गया, वायु का देवता श्वास होकर अपनी ज्योति (नासिका) में आ गया, सूर्य का देवता चक्षु होकर अपनी ज्योति (आँख) में आगया, दिशाओं का देवता श्रोत्र होकर

(८३) फिर उसने उसे नाक से खाना चाहा, न खा सका। यदि नाक से खा सकता तो अब भी उस के सूंघने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८४) फिर उसने आँख से खाना चाहा। न खा सका। यदि आँख से खा सकता तो अब भी देखने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता

(८५) फिर उसने कानों से खाना चाहा। न खा सका। यदि कानों से खा सकता तो अब भी सुन कर तृप्त हो जाता।

(८६) फिर उसने त्वचा से खाना चाहा। न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी छूने से तृप्त हो जाता।

(८७) फिर उसने मन से खाना चाहा। न खा सका। अगर खा सकता तो अब भी कल्पना करने से तृप्त हो जाता।

(८८) फिर उसने लिंग से खाना चाहा। न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी मैथुन से खा सकता।

(८९) फिर उसने अपान से खाना चाहा और खा गया। यही भीतर के प्राण वास्तव में खाने वाले हैं और देह भोजन है। ज्यों-ज्यों वह यह भोजन करता है, त्यों-त्यों बाहर के भोजन से उसका स्थूल शरीर बनता रहता है। इस तरह यह समस्त मंडल उसके लोक और देवता, अध्यात्म आधिदैविक, मनुष्य में प्रविष्ट हुए जीवन बिताते हैं। इसलिये मनुष्य ही वास्तव में इस मंडल का केन्द्र है।

(९०) जिस प्रकार मंडल और उसके व्यास सब केन्द्र से स्थापित होते हैं। यह सब चराचर मनुष्य से स्थिर हैं कुछ तो उसके भोजन हैं, कुछ भोजन के यंत्र वा साधन हैं, और प्राण देवता जो सब देवताओं का पिता है, वास्तव में खाने वाला है, और यह भोजन अर्थात् निरोग देह के कारण से स्थिर है। इस लिये अब भी यही अनुभव होता है कि जो खाता है, वही

(८३) फिर उसने उसे नाक से खाना चाहा। न खा सका। यदि नाक से खा सकता तो अब भी उस के सूंघने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८४) फिर उसने आँख से खाना चाहा। न खा सका। यदि आँख से खा सकता तो अब भी देखने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता

(८५) फिर उसने कानों से खाना चाहा। न खा सका। यदि कानों से खा सकता तो अब भी सुन कर तृप्त हो जाता।

(८६) फिर उसने त्वचा से खाना चाहा। न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी छूने से तृप्त हो जाता।

(८७) फिर उसने मन से खाना चाहा। न खा सका। अगर खा सकता तो अब भी कल्पना करने से तृप्त हो जाता।

(८८) फिर उसने लिंग से खाना चाहा। न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी मैथुन से खा सकता।

(८९) फिर उसने अपान से खाना चाहा और खा गया। यही भीतर के प्राण वास्तव में खाने वाले हैं और देह भोजन है। ज्यों-ज्यों वह यह भोजन करता है, त्यों-त्यों बाहर के भोजन से उसका स्थूल शरीर बनता रहता है। इस तरह यह समस्त मंडल उसके लोक और देवता, अध्यात्म आधिदैविक, मनुष्य में प्रविष्ट हुए जीवन बिताते हैं। इसलिये मनुष्य ही वास्तव में इस मंडल का केन्द्र है।

(९०) जिस प्रकार मंडल और उसके व्यास सब केन्द्र से स्थापित होते हैं। यह सब चराचर मनुष्य से स्थिर हैं कुछ तो उसके भोजन हैं, कुछ भोजन के यंत्र वा साधन हैं, और प्राण देवता जो सब देवताओं का पिता है, वास्तव में खाने वाला है, और यह भोजन अर्थात् निरोग देह के कारण से स्थिर है। इस लिये अब भी यही अनुभव होता है कि जो खाता है, वही

है। इसी तरह मैं भी उस में उतरूंगा, तो यह पुर नहीं हो जाऊँगा वरन् पुर वाला होऊँगा और प्राण आदिक देवता बरात होगी। मैं उन में दूल्हा होऊँगा।

(९६) फिर इस हेतु कि ये सब कर्मचारी हैं और काम का करना बिना दीपक या प्रकाश के नहीं होगा, मुझ प्रकाश के बिना ये क्योंकर वर्ताव करेंगे? ये तो कर्त्ता होंगे, मैं उन का साक्षी होऊँगा, मेरी साक्षी में सब काम करेंगे, और मैं दीपक और साक्षी की तरह इनके कामों से शुद्ध निर्लेप और असंग रहूँगा।

(९७) फिर उसने सोचा कि मुझे इसमें आने का क्या लाभ है? केवल यही कि जब मैं वाणी से बात चीत करूंगा, श्वासों से श्वास लूंगा, आँखों से देखूंगा, नाक से सूंघूंगा, कानों से सुनूंगा, त्वचा से शीतोष्ण पाऊंगा, मनसे सोचूंगा अपान से जीवन यापन करूंगा, और लिंग से विषय करूंगा, तो फिर मैं विचार करूंगा कि मैं कौन हूँ।

(९८) पहले मैं अपने पुर को जानूंगा, फिर बरात को जानूंगा, क्योंकि पुर तो मेरे लिये एक सवारी है, और क्या आँख क्या नाक क्या कान, सब के सब देवता बरात में कोई किसी सेवा के लिये और कोई किसी सेवा के लिये और कोई किसी सेवा के लिये नियुक्त होते हैं। उनमें मैं ही दूल्हा हूँ जिसके लिये ये सब हैं, और जिस तरह शीशे में अपना आप दिखाई देता है, उसी तरह उस में विवेक से मैं अपने आत्मा को देखूंगा।

(९९) फिर मैं उनमें आया विचार करूंगा कि जिस तरह व्यापारी दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं और दीपक उनके व्यापार से संबंध नहीं पाता, इसी तरह ये सब मुझ दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं, किंतु मैं व्यापारी नहीं हो जाता। ये आपस में झगड़ालू हैं, मैं उन का साक्षी हूँ। ये तो अंधकार हैं; मैं प्रकाश हूँ जो इस अंधकार में चमकता हूँ। इस तरह

है। इसी तरह मैं भी उस में उतरूंगा, तो यह पुर नहीं हो जाऊँगा वरन् पुर वाला होऊँगा और प्राण आदिक देवता बरात होगी। मैं उन में दूल्हा होऊँगा।

(९६) फिर इस हेतु कि ये सब कर्मचारी हैं और काम का करना बिना दीपक या प्रकाश के नहीं होता, मुझ प्रकाश के बिना ये क्योंकर वर्ताव करेंगे? ये तो कर्त्ता होंगे, मैं उन का साक्षी होऊँगा, मेरी साक्षी में सब काम करेंगे, और मैं दीपक और साक्षी की तरह इनके कामों से शुद्ध निर्लेप और असंग रहूँगा।

(९७) फिर उसने सोचा कि मुझे इसमें आने का क्या लाभ है? केवल यही कि जब मैं वाणी से बात चीत करूंगा, श्वासों से श्वास लूंगा, आँखों से देखूंगा, नाक से सूंघूंगा, कानों से सुनूंगा, त्वचा से शीतोष्ण पाऊंगा, मनसे सोचूंगा अपान से जीवन यापन करूंगा, और लिंग से विषय करूंगा, तो फिर मैं विचार करूंगा कि मैं कौन हूँ।

(९८) पहले मैं अपने पुर को जानूंगा, फिर बरात को जानूंगा, क्योंकि पुर तो मेरे लिये एक सवारी है, और क्या आँख क्या नाक क्या कान, सब के सब देवता बरात में कोई किसी सेवा के लिये और कोई किसी सेवा के लिये और कोई किसी सेवा के लिये नियुक्त होते हैं। उनमें मैं ही दूल्हा हूँ जिसके लिये ये सब हैं, और जिस तरह शीशे में अपना आप दिखाई देता है, उसी तरह उस में विवेक से मैं अपने आत्मा को देखूंगा।

(९९) फिर मैं उनमें आया विचार करूंगा कि जिस तरह व्यापारी दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं और दीपक उनके व्यापार से संबंध नहीं पाता, इसी तरह ये सब मुझ दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं, किंतु मैं व्यापारी नहीं हो जाता। ये आपस में झगड़ालू हैं, मैं उन का साक्षी हूँ। ये तो अंधकार हैं; मैं प्रकाश हूँ जो इस अंधकार में चमकता हूँ। इस तरह

आत्म-साक्षात्कार तक यद्यपि सामान्य रीति से जागता है, पर वास्तव में सोया हुआ है।

(१०५) किंतु जब कोई अत्यंत कृपालु गुरु वेदों के महावाक्य रूप नरसिंहों को उसे सुनाता है और विवेक विचार से उसे इस (हृदय-रूप) दर्पण में निज स्वरूप पर दृष्टि डालना सिखाता है, जैसी कि इस वेदानुवचन की शिक्षा है, तब वह निज स्वरूप को देखता वा अनुभव करता है, इस अनादि प्राकृतिक नींद से जागता है और फिर 'नेति' 'नेति' वा 'अन्वय-व्यतिरेक' के नियम से इन्हीं अवस्थाओं और इन्हीं नींदों में फिरता हुआ अद्वैत देखता निश्चय कराता है कि 'न तो मैं जाग्रत् हूँ, न स्वप्न, न सुषुप्ति, वरन् ये तीनो अवस्थाएँ मेरी सैर के स्थान हैं'।

(१०६) जब मैं जाग्रत् में आता हूँ, तो जाग्रत् में विचरण करता हूँ, जब मैं स्वप्न में जाता हूँ, तो स्वप्न में विचरण करता हूँ और जब मैं सुषुप्ति में जाता हूँ तो सुषुप्ति में विचरण करता हूँ। क्या जाग्रत् क्या स्वप्न क्या सुषुप्ति सब मेरे स्थान हैं और मैं उन में एकरस हूँ। वरन् उन में मैं नहीं फिरता, ये ही तीनों अवस्थाएँ माला के मणियों के समान जो तार में हैं फिरती हैं, और मैं तो माला के सूत की तरह उन का आधार वा अधिष्ठान हूँ जिस में ये आती जाती हैं।

(१०७) परन्तु जिस प्रकार बादलों के चलने से चंद्रमा भी चलता दिखाई देता है, उसी तरह उन की चाल भी बुद्धि को मुझ में प्रतीत होती है, और यह उसकी भ्राँति है। "मैं तो अचल सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ।" ऐसा जब भान करता है, वह उस समय वास्तव में जागता है, नहीं तो सोया हुआ ही कहलाता है। और उस का यह जागना बिना श्रुति वाक्य के नहीं होता, और महावाक्य ही वास्तव में उसका जगाने वाला है और महावाक्य ही उस समय उस का गुरु है।

आत्म-साक्षात्कार तक यद्यपि सामान्य रीति से जागता है, पर वास्तव में सोया हुआ है।

(१०५) किंतु जब कोई अत्यंत कृपालु गुरु वेदों के महावाक्य रूप नरसिंहों को उसे सुनाता है और विवेक विचार से उसे इस (हृदय-रूप) दर्पण में निज स्वरूप पर दृष्टि डालना सिखाता है, जैसी कि इस वेदानुवचन की शिक्षा है, तब वह निज स्वरूप को देखता वा अनुभव करता है, इस अनादि प्राकृतिक नींद से जागता है और फिर 'नेति' 'नेति' वा 'अन्वय-व्यतिरेक' के नियम से इन्हीं अवस्थाओं और इन्हीं नींदों में फिरता हुआ अद्वैत देखता निश्चय कराता है कि 'न तो मैं जाग्रत् हूँ, न स्वप्न, न सुषुप्ति, वरन् ये तीनो अवस्थाएँ मेरी सैर के स्थान हैं'।

(१०६) जब मैं जाग्रत् में आता हूँ, तो जाग्रत् में विचरण करता हूँ, जब मैं स्वप्न में जाता हूँ, तो स्वप्न में विचरण करता हूँ और जब मैं सुषुप्ति में जाता हूँ तो सुषुप्ति में विचरण करता हूँ। क्या जाग्रत् क्या स्वप्न क्या सुषुप्ति सब मेरे स्थान हैं और मैं उन में एकरस हूँ। वरन् उन में मैं नहीं फिरता, ये ही तीनों अवस्थाएँ माला के मणियों के समान जो तार में हैं फिरती हैं, और मैं तो माला के सूत की तरह उन का आधार वा अधिष्ठान हूँ जिस में ये आती जाती हैं।

(१०७) परन्तु जिस प्रकार बादलों के चलने से चंद्रमा भी चलता दिखाई देता है, उसी तरह उन की चाल भी बुद्धि को मुझ में प्रतीत होती है, और यह उसकी भ्राँति है। "मैं तो अचल सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ।" ऐसा जब भान करता है, वह उस समय वास्तव में जागता है, नहीं तो सोया हुआ ही कहलाता है। और उस का यह जागना बिना श्रुति वाक्य के नहीं होता, और महावाक्य ही वास्तव में उसका जगाने वाला है और महावाक्य ही उस समय उस का गुरु है।

मालिक महान् देव है, उसी सम्मान के योग्य है। इस लिये भक्त लोग आत्मा के प्रत्यक्ष नाम से दुखित होते हैं और जो कोई बिना सभ्यता के इस भेद के परिणाम को जतलाता है, उसे अस्वीकार करते और झुठलाते हैं।

(११२) ऐ भाइयो! अब उस की तीनों नींदों के भेद मुझ से सुनिए कि जब वह अविद्या से काम करने वाला होता है और यज्ञ आदिक शास्त्री कर्म करता है, तो इस लोक में आकर वह पितृयान सड़क से चन्द्रलोक को जाता है और वहां जब भोग समाप्त हो जाते हैं, तो वर्षा में उतरता फिर अन्न हो जाता है और पुरुष अग्निमे हवन हुआ रक्त आदि होता वीर्य हो जाता है। यही उसका पहला गर्भ है और यही पहली नींद है।

(११३) इस वीर्य को, जो पिता के अंग-अंग से निचोड़ की भाँति निकल कर वीर्य कोष में एकत्रित होता है, पिता उसे अपने में धारण करता है, जैसा कि मां भी गर्भके समय कुक्षि में उसे धारण करती है। जब पिता इस वीर्य को माँ के उदर में अर्पण करता है, तो यही उसका पहला जन्म है, मानों मां के उदर में गर्भ होता और पिता के वीर्य कोष से जना जाता है।

(११४) जब इस तरह पिता उसे जनता है अर्थात् अपने वीर्य का दान देता है, तो फिर माँ उसे अपने मे उसी तरह एक कर लेती है जैसा कि चूचियां भी, जो दूदियां बनती हैं, उस से एक होती हैं, वरन् जिस प्रकार वह अपनी दूदियों की रक्षा करती है, उसी तरह गर्भ की भी वह रक्षा करती है क्योंकि वह जानती है कि मेरे पति देवता का आत्मा अर्थात् वीर्य मुझ से एक हुआ है, इसी कारण जो खाद्य वस्तुएँ कि गर्भ पात करती हैं नहीं खाती; वह वस्तुएं खाती है जो उसे दृढ़ करती हैं।

(११५) जब कि स्त्री अपने पति के आत्मा (वीर्य) को इस प्रकार अपने में पालती है, तो पति उसे अपने आत्मा को पालने

मालिक महान् देव है, उसी सम्मान के योग्य है। इस लिये भक्त लोग आत्मा के प्रत्यक्ष नाम से दुखित होते हैं और जो कोई बिना सभ्यता के इस भेद के परिणाम को जतलाता है, उसे अस्वीकार करते और झुठलाते हैं।

(११२) ऐ भाइयो! अब उस की तीनों नींदों के भेद मुझ से सुनिए कि जब वह अविद्या से काम करने वाला होता है और यज्ञ आदिक शास्त्री कर्म करता है, तो इस लोक में आकर वह पितृयान सड़क से चन्द्रलोक को जाता है और वहां जब भोग समाप्त हो जाते हैं, तो वर्षा में उतरता फिर अन्न हो जाता है और पुरुष अग्निमे हवन हुआ रक्त आदि होता वीर्य हो जाता है। यही उसका पहला गर्भ है और यही पहली नींद है।

(११३) इस वीर्य को, जो पिता के अंग-अंग से निचोड़ की भाँति निकल कर वीर्य कोष में एकत्रित होता है, पिता उसे अपने में धारण करता है, जैसा कि मां भी गर्भके समय कुक्षि में उसे धारण करती है। जब पिता इस वीर्य को माँ के उदर म अर्पण करता है, तो यही उसका पहला जन्म है, मानों मां के उदर में गर्भ होता और पिता के वीर्य कोष से जना जाता है।

(११४) जब इस तरह पिता उसे जनता है अर्थात् अपने वीर्य का दान देता है, तो फिर माँ उसे अपने में उसी तरह एक कर लेती है जैसा कि चूचियां भी, जो टूंडियां बनती हैं, उस से एक होती हैं, बरन् जिस प्रकार वह अपनी टूंडियों की रक्षा करती है, उसी तरह गर्भ की भी वह रक्षा करती है क्योंकि वह जानती है कि मेरे पति देवता का आत्मा अर्थात् वीर्य मुझ से एक हुआ है, इसी कारण जो खाद्य वस्तुएँ कि गर्भ पात करती हैं नहीं खाती; वह वस्तुएं खाती है जो उसे दृढ़ करती हैं।

(११५) जब कि स्त्री अपने पति के आत्मा (वीर्य) को इस प्रकार अपने में पालती है, तो पति उसे अपने आत्मा को पालने

कर्म-फल की दृष्टि से संसारी होता है। वह जो शास्त्र के विरुद्ध पाप-रूप कर्म करता है, वह अधोगति पाता है, और इस संसार-समुद्र में डूबता है, और वह जो शास्त्री कर्म करता है, वह ऊपर के लोकों में चढ़ता सोमराज होता है और फिर गिरता है। वह भी इसी संसार में रहता है जैसा कि कोई टापुओं (उपनिवेशों) में विश्राम पाता है।

(१२०) किंतु वह जो पहले निष्काम कर्म करता हुआ मन के दर्पण को स्वच्छ करता है और फिर उस दर्पण में अपने स्वरूप पर दृष्टि करता हुआ निश्चय करता है कि "मैं सच्चिदानन्द हूँ," वह तो इस संसार समुद्र को तर जाता है और न्याय से निकल कर प्रसाद में आ जाता है। ऐ भाइयो! तुम भी न्याय के नहीं प्रसाद के अभिलाषी हो जाओ और अपने मनोमुकुर में विवेक करके आत्मा को देखो जैसा कि मैं ने देखा और प्रसाद पर प्रसाद पाया। इस तरह वामदेव ने गर्भ में ही उन्हें समझाया जो अब तक जना नहीं गया था।

(१२१) फिर तो जन्म के पश्चात् उसने सनकादिकों की भाँति इस विद्या की शिक्षा दी और अंत में जब उसके इस जन्म के कर्म भी समाप्त हुए, तो अपना शरीर छोड़ कर अपने स्वरूप में प्राप्त हुआ सत्यसंकल्प सत्यकाम और आप्तकाम होकर अमृत हो गया, हाँ वह अमृत हो गया।

नवाँ अध्याय।

(१) * जब इस प्रकार वामदेव की विचित्र घटना हुई जैसा कि ऊपर लिखी गई, तो न्याय (कर्म-फल) से निकल कर

*यहाँ से अब ऐतरेय उपनिषद का तीसरा अध्याय आरम्भ हुआ, इसी अध्याय के नम्बर ४५ तक यह समस्त उपनिषद सविस्तर वर्णन करके समाप्त कर दी गई है।

कर्म-फल की दृष्टि से संसारी होता है। वह जो शास्त्र के विरुद्ध पाप-रूप कर्म करता है, वह अधोगति पाता है, और इस संसार-समुद्र में डूबता है, और वह जो शास्त्री कर्म करता है, वह ऊपर के लोकों में चढ़ता सोमराज होता है और फिर गिरता है। वह भी इसी संसार में रहता है जैसा कि कोई टापुओं (उपनिवेशों) में विश्राम पाता है।

(१२०) किंतु वह जो पहले निष्काम कर्म करता हुआ मन के दर्पण को स्वच्छ करता है और फिर उस दर्पण में अपने स्वरूप पर दृष्टि करता हुआ निश्चय करता है कि "मैं सच्चिदानन्द हूँ," वह तो इस संसार समुद्र को तर जाता है और न्याय से निकल कर प्रसाद में आ जाता है। ऐ भाइयो! तुम भी न्याय के नहीं प्रसाद के अभिलाषी हो जाओ और अपने मनोमुकुर में विवेक करके आत्मा को देखो जैसा कि मैं ने देखा और प्रसाद पर प्रसाद पाया। इस तरह वामदेव ने गर्भ में ही उन्हें समझाया जो अब तक जना नहीं गया था।

(१२१) फिर तो जन्म के पश्चात् उसने सनकादिकों की भाँति इस विद्या की शिक्षा दी और अंत में जब उसके इस जन्म के कर्म भी समाप्त हुए, तो अपना शरीर छोड़ कर अपने स्वरूप में प्राप्त हुआ सत्यसंकल्प सत्यकाम और आप्तकाम होकर अमृत हो गया, हाँ वह अमृत हो गया।

नवाँ अध्याय।

(१) * जब इस प्रकार वामदेव की विचित्र घटना हुई जैसा कि ऊपर लिखी गई, तो न्याय (कर्म-फल) से निकल कर

---

* यहाँ से अब ऐतरेय उपनिषद का तीसरा अध्याय आरम्भ हुआ। इसी अध्याय के नम्बर ४५ तक यह समस्त उपनिषद सविस्तर वर्णन करके समाप्त कर दी गई है।

रंध्र के मार्ग से छाया की तरह शीशे में आया है जिस के उजाले में यह दूसरा ब्रह्म (प्रजापती) फैलने सुकड़ने वाला व्यापार करता और संसारी होता है और दोनों (ब्रह्म) विधिवत् शरीर में प्रविष्ट होकर इस शरीर से एक हो गए हैं, उन में वह कौन-सा है जिसकी हमें आत्मरूप करके उपासना करनी चाहिए?

(५) निदान इन तत्त्वदर्शी विद्वानों ने वामदेव की शिक्षा से यह जान लिया कि शरीर तो एक पुर या भोजन है और वह जो पहले देवता-रूप फिर इंद्रिय रूप होकर दूसरे नियत मार्गों से बरात या राज-सभासदों (दरबारियों) की तरह प्रविष्ट हुआ है, एक प्राणात्मा है जो इस (शरीर) के खाने वाला है, और इसी के लिये यह अन्न खाया जाता है जो खाये हुये शरीर के बदले बदलता रहता है, और यह प्राणात्मा भूखा-प्यासा संसारी है, किंतु वह दूसरा जो ज्योतिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्-स्वरूप है, जिसके प्रकाश में यह काम करता, फैलता, सुकड़ता, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म-मरण संसार का वर्ताव करता है, वही इस का दूल्हा है और वही नित्यमुक्त है।

(६) इस दूल्हा रूप नित्य मुक्त आत्मा को, जो इस प्राणरूप बरात में आया हुआ एक रूप हो रहा है, विवेक करके हम को देखना चाहिये और उसी को अपना असली आत्मा जानकर कर्म करना चाहिये। क्योंकि उसी के दर्शन और उसी के निश्चय से कि "यह मैं हूँ" हम वामदेव की तरह अमृत और मुक्त स्वरूप हो जायँगे। जब तक इस शरीर में अहंता का निश्चय है, तब तक हम मनुष्य हैं और जब हम इस प्राणात्मा में अहंता का निश्चय पाते हैं, तो मनुष्य की जाति से कट कर प्रजापति की जाति में आ जाते हैं, और द्विजाति होते यज्ञादिक का अधिकार पाते हैं और पिता-पुत्र रूप होकर ऊपर-नीचे संसार में संसारी और भोगी होते हैं।

रंध्र के मार्ग से छाया की तरह शीशे में आया है जिस के उजाले में यह दूसरा ब्रह्म (प्रजापती) फैलने सुकड़ने वाला व्यापार करता और संसारी होता है और दोनों (ब्रह्म) विधिवत् शरीर में प्रविष्ट होकर इस शरीर से एक हो गए हैं, उन में यह कौन-सा है जिसको हमें आत्मरूप करके उपासना करनी चाहिए?

(५) निदान इन तत्त्वदर्शी विद्वानों ने वामदेव की शिक्षा से यह जान लिया कि शरीर तो एक पुर या भोजन है और वह जो पहले देवता-रूप फिर इंद्रिय रूप होकर दूसरे नियत मार्गों से बरात या राज-सभासदों (दरबारियों) की तरह प्रविष्ट हुआ है, एक प्राणात्मा है जो इस (शरीर) के खाने वाला है, और इसी के लिये यह अन्न खाया जाता है जो खाये हुये शरीर के बदले बदलता रहता है, और यह प्राणात्मा भूखा-प्यासा संसारी है, किंतु वह दूसरा जो ज्योतिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्-स्वरुप है, जिसके प्रकाश में यह काम करता, फैलता, सुकड़ता, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म-मरण संसार का बर्ताव करता है, वही उस का दूल्हा है और वही नित्यमुक्त है।

(६) इस दूल्हा रूप नित्य मुक्त आत्मा को, जो इस प्राणरूप बरात में आया हुआ एक रूप हो रहा है, विवेक करके हम को देखना चाहिये और उसी को अपना असली आत्मा जानकर कर्म करना चाहिये। क्योंकि उसी के दर्शन और उसी के निश्चय से कि "यह मैं हूँ" हम वामदेव की तरह अमृत और मुक्त स्वरूप हो जायँगे। जब तक इस शरीर में अहंता का निश्चय है, तब तक हम मनुष्य हैं और जब हम इस प्राणात्मा में अहंता का निश्चय पाते हैं, तो मनुष्य की जाति से कट कर प्रजापति की जाति में आ जाते हैं, और द्विजाति होते यज्ञादिक का अधिकार पाते हैं और पिता-पुत्र रूप होकर ऊपर-नीचे संसार में संसारी और भोगी होते हैं।

वरन् यह तो आहार और स्वयं भोग रूप है।

(१०) जिस मनुष्य को देह मे अहंता का निश्चय है, वह भी वास्तव में शरीर है, और वह स्वयं अन्न है और स्वयं मृत है। उसे कर्मों की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो भोक्ता या खाने वाला या जीवित नहीं, इसी कारण से शूद्र जो शरीर में अहंता रखता है, वास्तव में मनुष्य है। जब कि उस पर कर्मों का प्रभाव नहीं, स्वयं नाशमान है, वरन् यह तो अन्दर के प्राण जो रखता है, सेवा करने का प्राण है। यही कारण है कि उसे यज्ञादिकों का अधिकार नहीं है, वरन् द्विजातियों की सेवा का अधिकार है जिस में वह उन की सेवा से ही स्वच्छ पवित्र होने और उन के उपदेश से जब तक कि वह शरीर के अहंकार से निकल कर, जो मनुष्य-जाति है, प्रजापति के पुत्र रूप अहंकार में न आवे, तब तक यज्ञ आदिक नहीं कर सकता। किंतु वह जो विरोचन की शिक्षा के कारण संभव नहीं कि अब उस में से निकलें, वही मनुष्य वास्तव में चाण्डाल और म्लेच्छ हैं।

(११) सृष्टि के आरम्भ में द्विजाति बच्चा भी अपने शरीर में अनादि अहंकार का निश्चय रखता है, और बिना धार्मिक शिक्षा के यदि उसे स्वतंत्र छोड़ दें, तो यद्यपि पाश्चात्य विद्या में अद्वितीय निकले, तो भी वह शरीर को अपना आप निश्चय करता है, यद्यपि वह बुद्धिमान् हुआ जान सकता है कि "आत्मा भी एक सूक्ष्म वस्तु मेरे भीतर बसती है, किंतु वह मै नहीं वरन् मेरे में बसती है। जब तक वह मुझ में बसती है; मैं जीवित हूं, जब वह चली जायगी, तो मैं मुरदा हो जाऊँगा। यह जीवन मुझ में माँगी हुई या उधार अन्य प्राणात्मा से लिया हुआ है।" यद्यपि वह आत्मा के द्वारा जीवित रहता है, तो भी वह बिना प्राण के जड़ शरीर है, इस लिये उस पर शुभ,

वरन् यह तो आहार और स्वयं भोग रूप है।

(१०) जिस मनुष्य को देह में अहंता का निश्चय है, वह भी वास्तव में शरीर है, और वह स्वयं अन्न है और स्वयं मृत है। उसे कर्मों की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो भोक्ता या खाने वाला या जीवित नहीं, इसी कारण से शूद्र जो शरीर में अहंता रखता है, वास्तव में मनुष्य है। जब कि उस पर कर्मों का प्रभाव नहीं, स्वयं नाशमान है, वरन् वह तो अन्दर के प्राण जो रखता है, सेवा करने का प्राण है। यही कारण है कि उसे यज्ञादिकों का अधिकार नहीं है, वरन् द्विजातियों की सेवा का अधिकार है जिस में वह उन की सेवा से ही स्वच्छ पवित्र होने और उन के उपदेश से जब तक कि वह शरीर के अहंकार से निकल कर, जो मनुष्य-जाति है, प्रजापति के पुत्र रूप अहंकार में न आवे, तब तक यज्ञ आदिक नहीं कर सकता। किंतु वह जो विरोचन की शिक्षा के कारण संभव नहीं कि अब उस में से निकलें, वही मनुष्य वास्तव में चाण्डाल और म्लेच्छ हैं।

(११) सृष्टि के आरम्भ में द्विजाति बच्चा भी अपने शरीर में अनादि अहंकार का निश्चय रखता है, और बिना धार्मिक शिक्षा के यदि उसे स्वतंत्र छोड़ दें, तो यद्यपि पाश्चात्य विद्या में अद्वितीय निकले, तो भी वह शरीर को अपना आप निश्चय करता है, यद्यपि वह बुद्धिमान् हुआ जान सकता है कि "आत्मा भी एक सूक्ष्म वस्तु मेरे भीतर बसती है, किंतु वह मैं नहीं वरन् मेरे में बसती है। जब तक वह मुझ में बसती है; मैं जीवित हूँ, जब वह चली जायगी, तो मैं मुरदा हो जाऊँगा। यह जीवन मुझ में माँगी हुई या उधार अन्य प्राणात्मा से लिया हुआ है।" यद्यपि वह आत्मा के द्वारा जीवित रहता है, तो भी वह बिना प्राण के जड़ शरीर है, इस लिये उस पर शुभ,

भी है, तो भी संसारी भूख-प्यास आदिक पैत्रिक पापों से पापी होता है, मोक्ष नहीं पाता ।

(१४) परंतु यह दूसरा आत्मा जो दूल्हा है और बरात में उन के व्यापार की साक्षी के लिये आया है, अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग आत्मा, साक्षी स्वरूप है, जो अपने सौन्दर्य के दर्शन के लिये इस दर्पण में उतरा है। वही हमारी असली अहंता है, वही हमें उपासना चाहिये और उसी पर दृष्टि करनी चाहिये। प्रसाद उसी पर निर्भर है। उसी के विवेक से हम मोक्ष पा सकते हैं; उसी की पहचान से हम प्रसाद में प्रविष्ट हो सकते हैं, और उसी की अहंता से, हम अमृत हो सकते हैं, जैसा कि श्री वामदेव भी हुआ है।

(१५) निदान वामदेव की शिक्षा में हमने जो दो ब्रह्म शरीर में प्रविष्ट हुये सुने हैं, दोनों इस के शरीर में इसी के आत्मा हो रहे हैं। उन दोनों में से एक उपासना करने के योग्य है और हमको पता लगाना चाहिये कि वह कौन-सा है? इस तरह पता लगाते लगाते उन को यह सूझ पड़ी कि दोनों इस शरीर में अनेक भिन्न भिन्न इन्द्रियों से बर्ताव करते हुए चेष्टा करते हैं। जिस (इन्द्रिय) से वह गति करते हैं, वह परमात्मा नहीं, वरन् वह जो उन्हें पाता है, वही अभिप्रेत, वही प्राप्तव्य, और वही परमात्मा है।

(१६) अब हमें ज्ञात करना चाहिये कि किस के कारण से ये वस्तुयें ज्ञात होती हैं? और कौन है जो ज्ञात करता है? विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि चक्षु-इन्द्रिय के कारण यह रूपरंग देखता है, श्रोत्र-इन्द्रिय के कारण यह शब्द सुनता है, घ्राण-इन्द्रिय के कारण यह गंध ग्रहण करता है, जिह्वा-इन्द्रिय के कारण यह बोलता, और रसना इन्द्रिय से खट्टा-मीठा रस लेता है। ये सब करण और भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ एक ही

भी है, तो भी संसारी भूख-प्यास आदिक पैत्रिक पापों से पापी होता है, मोक्ष नहीं पाता।

(१४) परंतु यह दूसरा आत्मा जो दूल्हा है और बरात में उन के व्यापार की साक्षी के लिये आया है, अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग आत्मा, साक्षी स्वरूप है, जो अपने सौन्दर्य के दर्शन के लिये इस दर्पण में उतरा है। वही हमारी असली अहंता है, वही हमें उपासना चाहिये और उसी पर दृष्टि करनी चाहिये। प्रसाद उसी पर निर्भर है। उसी के विवेक से हम मोक्ष पा सकते हैं, उसी की पहचान से हम प्रसाद में प्रविष्ट हो सकते हैं, और उसी की अहंता से, हम अमृत हो सकते हैं, जैसा कि श्री वामदेव भी हुआ है।

(१५) निदान वामदेव की शिक्षा में हमने जो दो ब्रह्म शरीर में प्रविष्ट हुये सुने हैं, दोनों इस के शरीर में इसी के आत्मा हो रहे हैं। उन दोनों में से एक उपासना करने के योग्य है और हमको पता लगाना चाहिये कि वह कौन-सा है? इस तरह पता लगाते लगाते उन को यह सूझ पड़ी कि दोनों इस शरीर में अनेक भिन्न भिन्न इन्द्रियों से बर्ताव करते हुए चेष्टा करते हैं। जिस (इन्द्रिय) से वह गति करते हैं, वह परमात्मा नहीं, वरन् वह जो उन्हें पाता है, वही अभिप्रेत, वही प्राप्तव्य, और वही परमात्मा है।

(१६) अब हमें ज्ञात करना चाहिये कि किस के कारण से ये वस्तुयें ज्ञात होती हैं? और कौन है जो ज्ञात करता है? विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि चक्षु-इन्द्रिय के कारण यह रूपरंग देखता है, श्रोत्र-इन्द्रिय के कारण यह शब्द सुनता है, घ्राण-इन्द्रिय के कारण यह गंध ग्रहण करता है, जिह्वा-इन्द्रिय के कारण यह बोलता, और रसना इन्द्रिय से खट्टा-मीठा रस लेता है। ये सब करण और भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ एक ही

सिखाया गया है और कौशीतकी ऋषि के द्वारा फैला है, उस में भी यही सुनते हैं कि यह आत्मा पहले मन में प्रविष्ट होता वा उतरता है, और मन वृत्ति के द्वारा अर्थात् उस के साथ कंठ में सीढ़ी लगाना (उतरता) बात चीत करता है, और वही मनोवृत्ति यहाँ वाणी कहलाती है, और फिर उसी मनोवृत्ति से नेत्र में आता चक्षु से देखता है और वही मनोवृत्ति यहाँ चक्षु-इन्द्रिय नाम पाती है।

(२०) वाजसनेयी श्रुति का भी यही उद्देश्य है। क्योंकि वह कहती है कि मन करके ही यह देखता है, मन करके ही सुनता है। तो इस प्रकार की श्रुतियों से भी जाना जाता है कि एक ही मन अनेक रूप होकर विशेष-विशेष स्थानों में इन्द्रिय कहलाता है और वही सोच-विचार के समय मन और वही निश्चय के समय बुद्धि, और वही स्मृति के समय चित और वही अहंता के निश्चय के समय अहंकार कहलाता है। और सब एक ही प्राण-देवता-प्रजापति है। क्योंकि लिखा है कि जो प्राण है, वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है। क्योंकि वही जब केवल खाता, पचाता, बनाता, निकालता या खींचता है, प्राण कहलाता है, जब वह जानना चाहता है, तो प्रज्ञा कहलाता है, इसलिये एक है। केवल काम करता प्राण और विचार करता अंतःकरण कहलाता है। और यही प्रजापति वामदेव की शिक्षा में हम ने सुना है कि पहले देवता रूप होकर उठा फिर ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय रूप होकर बरात और नौकर की तरह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ।

(२१) जब कि विवेचना और श्रुतियों से ज्ञात हो गया है कि एक ही परमेश्वर प्रजापति पिता-पुत्र रूप होकर फैला है और संक्षिप्त शरीर में आहुति और भोजन पाने के लिये आया है और इस परमात्मा दूल्हा की बरात हुआ है वरन् उसका चाकर

सिखाया गया है और कौशीतकी ऋषि के द्वारा फैला है, उस में भी यही सुनते हैं कि यह आत्मा पहले मन में प्रविष्ट होता वा उतरता है, और मन वृत्ति के द्वारा अर्थात् उस के साथ कंठ में सीढ़ी लगाना (उतरता) बात चीत करता है, और वही मनोवृत्ति यहाँ वाणी कहलाती है, और फिर उसी मनोवृत्ति से नेत्र में आता चक्षु से देखता है और वही मनोवृत्ति यहाँ चक्षु-इन्द्रिय नाम पाती है।

(२०) वाजसनेयी श्रुति का भी यही उद्देश्य है। क्योंकि वह कहती है कि मन करके ही वह देखता है, मन करके ही सुनता है। तो इस प्रकार की श्रुतियों से भी जाना जाता है कि एक ही मन अनेक रूप होकर विशेष-विशेष स्थानों में इन्द्रिय कहलाता है और वही सोच-विचार के समय मन. और वही निश्चय के समय बुद्धि, और वही स्मृति के समय चित और वही अहंता के निश्चय के समय अहंकार कहलाता है। और सब एक ही प्राण-देवता- प्रजापति है। क्योंकि लिखा है कि जो प्राण है, वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है। क्योंकि वही जब केवल खाता, पचाता, बनाता, निकालता या खींचता है, प्राण कहलाता है, जब वह जानना चाहता है, तो प्रज्ञा कहलाता है, इसलिये एक है। केवल काम करता प्राण और विचार करता अंतःकरण कहलाता है। और यही प्रजापति वामदेव की शिक्षा में हम ने सुना है कि पहले देवता रूप होकर उठा फिर ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय रूप होकर बरात और नौकर की तरह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ।

(२१) जब कि विवेचना और श्रुतियों से ज्ञात हो गया है कि एक ही परमेश्वर प्रजापति पिता-पुत्र रूप होकर फैला है और संक्षिप्त शरीर में आहुति और भोजन पाने के लिये आया है और उस परमात्मा दूल्हा की बरात हुआ है वरन् उसका चाकर

राज्य बनाता है—कहीं स्त्रियों के साथ उसे लीला कराता है, कहीं गाड़ियों की सवारी होता हुआ उसे सवार कराता है। तत्काल घोड़े तत्काल सड़कें, तत्काल बाग बगीचा रूप उसके लिये हो जाता है।

(२४) वरन् मृत्यु के पश्चात् न्याय के पद में बुराइयों के बंधन से मुक्त हुआ भलाइयों के बंधन में स्वर्ग और अप्सरा नियत काल तक रचता ऊर्ध्व लोक की सैर कराता है, और भोग समाप्त होने के पश्चात् पुनः कर्मों के लिये यहां ले आता है, इन्द्रियों के बंधन में पड़ता है। और जब यह मन उसी के साक्षात के लिये "मैं परमात्मा हूँ" इस प्रकार के निश्चय में पलट जाता है, तो अच्छाई बुराई (पुण्य पाप) के बंधन से स्वयं छूट जाता है और प्रसाद में आ जाता है, और दूल्हा तो अपने परमानंद में नित्य रहता है परंतु वह मन छाया की भाँति ब्रह्म-लोक के भोग सत्य-संकल्प और सत्यकाम आदिक मुफ्त में उस के लिये रचता और सब कुछ उसमें कल्पता है।

(२५) इस से ज्ञात हुआ है कि यह प्राणात्मा, जो हम ने अपना आप जाना था और सामान्य मनुष्यता से निकल कर हम द्विजन्मा द्विजानि हुए थे और शरीर-विलासियों (देहाभिमानियों) की अपेक्षा हम आत्म विलासी (प्राणात्माभिमानी) हो गए थे, यद्यपि बड़ा स्वामी है, तो भी इस परमात्मा का चाकर और अनित्य है और भूख प्यास रूप धर्मों से धर्मी है, और उस के सामने कुछ भी सत्ता नहीं रखता वरन् उस की छाया है। वही हमारा परमात्मा है, उसी की उपासना करनी चाहिए, उसी के पाने से हम मोक्ष पा सकते हैं, वही प्रसाद का स्वामी है, यह तो सेवक और कर्म-फल का बंदी है। ऐ भाइयो! कर्म-मार्ग (करनी भरनी का नियम) भी अच्छा है, पर प्रसाद ही माँगो। कर्म-मार्ग से छुटकारा नहीं, प्रसाद में ही मुक्ति है।

राज्य बनाता है—कहीं स्त्रियों के साथ उसे लीला कराता है, कहीं गाड़ियों की सवारी होता हुआ उसे सवार कराता है। तत्काल घोड़े तत्काल सड़कें, तत्काल बाग बागीचा रूप उसके लिये हो जाता है।

(२४) बरन् मृत्यु के पश्चात् न्याय के पत्र में बुराइयों के बल से मुक्त हुआ भलाइयों के बंधन में स्वर्ग और अप्सरा नियत काल तक रचता ऊर्ध्व लोक की सैर कराता है, और भोग समाप्त होने के पश्चात् पुनः कर्मों के लिये यहां ले आता है, इन्द्रियों के बंधन में पड़ता है। और जब यह मन उसी के साक्षात के लिये "मैं परमात्मा हूँ" इस प्रकार के निश्चय में पलट जाता है, तो अच्छाई बुराई (पुण्य पाप) के बंधन से स्वयं छूट जाता है और प्रसाद में आ जाता है, और दूल्हा तो अपने परमानंद में नित्य रहता है परंतु वह मन छाया की भाँति ब्रह्म-लोक के भोग सत्य-संकल्प और सत्यकाम आदिक मुफ्त में उस के लिये रचता और सब कुछ उसमें कल्पता है।

(२५) इस से ज्ञात हुआ है कि यह प्राणात्मा, जो हम ने अपना आप जाना था और सामान्य मनुष्यता से निकल कर हम द्विजन्मा द्विजाति हुए थे और शरीर-विलासियों (देहाभिमानियों) की अपेक्षा हम आत्म विलासी (प्राणात्माभिमानी) हो गए थे, यद्यपि बड़ा स्वामी है, तो भी इस परमात्मा का चाकर और अनित्य है और भूख प्यास रूप धर्मों से धर्मी है, और उस के सामने कुछ भी सत्ता नहीं रखता बरन् उस की छाया है। वही हमारा परमात्मा है, उसी की उपासना करनी चाहिए, उसी के पाने से हम मोक्ष पा सकते हैं, वही प्रसाद का स्वामी है, यह तो सेवक और कर्म-फल का बंदी है। ऐ भाइयो! कर्म-मार्ग (करनी भरनी का नियम) भी अच्छा है, पर प्रसाद ही माँगो। कर्म-मार्ग से छुटकारा नहीं, प्रसाद में ही मुक्ति है।

वाली नहीं हो जाती, वरन् असंग साक्षी होती है।

(२६) यों समझो कि प्राणात्मा तो क्या ज्ञान क्या कर्म दो प्रकार की गति रखता है, और यह ज्योति स्वरूप आत्मा गति नहीं रखता वरन् प्रेरणा रखता है। अतः जो भीतर ज्ञान और कर्मकी गति रखता है, वही प्राणात्मा है, जोचाकर और छाया है; और वह जो इस में प्रेरणा करता है और ज्योति है, वही परमात्मा है।

(३०) यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह ज्योति कुछ पञ्चभौतिक ज्योति है, नहीं वरन् परमात्म-ज्योति है जो देखती है। सूर्य यद्यपि ज्योति है, किंतु देखता नहीं। न तो सूर्य चंद्र को देखता है, न चंद्र सूर्य को। इसलिये वे सब पञ्चभौतिक ज्योति हैं। किंतु वह जो सूर्य चंद्र और बाहर-भीतर मनोवृत्तियों को भी जानता और देखता है वही ठीक ज्योति है, जो पञ्चभौतिक-ज्योति के प्रकार में से नहीं, वरन् वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, और ये मनोवृत्तियाँ उस के साक्षात्कार के लिये एक दर्पण-सा हो रही हैं, क्योंकि जब-जब मनोवृत्ति उठती है, तो उस में यह साक्षीरूप ज्योति टपकती है, और वह इन मनोवृत्तियों को देखता और फिर वृत्तियों के द्वारा आँख कान में आकर उन को प्रकाशित करता बाहर की वस्तुओं को भी देखता सुनता है।

(३१) अतः वह जो मनोवृत्तियाँ हैं केवल बचवाजो (द्वार) और दर्पण हैं जिन से यह पाया जाता है, और वह जो इन में आया हुआ नहीं, वरन् इन के द्वारा सब को पाता है, वही प्रासव्य है, वही ज्योति है और वही परमात्मा है। जिस तरह दर्पण की गति से मुख भी हिलता-सा होता है किंतु हिलता नहीं, उसी तरह इन वृत्तियों की गति से वह भी गति करता-सा भ्रांत होता है, वास्तव में वह गति और चेष्टा से रहित,

वाली नहीं हो जाती, वरन् असंग साक्षी होती है।

(२६) यों समझो कि प्राणात्मा तो क्या ज्ञान क्या कर्म दो प्रकार की गति रखता है, और यह ज्योति स्वरूप आत्मा गति नहीं रखता वरन् प्रेरणा रखता है। अतः जो भीतर ज्ञान और कर्मकी गति रखता है, वही प्राणात्मा है, जो चाकर और छाया है; और वह जो इस में प्रेरणा करता है और ज्योति है, वही परमात्मा है।

(३०) यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह ज्योति कुछ पञ्चभौतिक ज्योति है, नहीं वरन् परमात्म-ज्योति है जो देखती है। सूर्य यद्यपि ज्योति है, किंतु देखता नहीं। न तो सूर्य चंद्र को देखता है, न चंद्र सूर्य को। इसलिये ये सब पञ्चभौतिक ज्योति हैं। किंतु वह जो सूर्य चंद्र और बाहर-भीतर मनोवृत्तियों को भी जानता और देखता है वही ठीक ज्योति है, जो पञ्चभौतिक-ज्योति के प्रकार में से नहीं, वरन् वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, और ये मनोवृत्तियाँ उस के साक्षात्कार के लिये एक दर्पण-सा हो रही हैं, क्योंकि जब-जब मनोवृत्ति उठती है, तो उस में यह साक्षीरूप ज्योति टपकती है, और वह इन मनोवृत्तियों को देखता और फिर वृत्तियों के द्वारा आँख कान में आकर उस को प्रकाशित करता बाहर की वस्तुओं को भी देखता सुनता है।

(३१) अतः वह जो मनोवृत्तियाँ हैं केवल बचवानो (द्वार) और दर्पण हैं जिन से यह पाया जाता है, और वह जो इन में आया हुआ नहीं, वरन् इन के द्वारा सब को पाता है, वही प्राप्तव्य है, वही ज्योति है और वही परमात्मा है। जिस तरह दर्पण की गति से मुख भी हिलता-सा होता है किंतु हिलता नहीं, उसी तरह इन वृत्तियों की गति से वह भी गति करता-सा भ्रांत होता है, वास्तव में वह गति और चेष्टा से रहित,

खुलती है, तो उस के कारण जीती जागती जान या जीव इसी आत्मा का नाम होता है, क्योंकि सब में जो ज्ञान रखता है वही जीव कहलाता है। वनस्पति में यह वृत्ति नहीं होती। पशुओं में पाई जाती है।

(३५) २ अज्ञान नाम उस पूर्ण बुद्धिमत्ता का है जिस बुद्धि से कि यह सब संसार बनता और दैवी काम होते हैं। यह भी एक अंतःकरण की वृत्ति है और यही आत्मा इस वृत्ति के कारण ईश्वर कहलाता है।

(३६) ३ विज्ञान नाम उस बुद्धि का है कि जो शिक्षा से समझ (दानाई) के रूप में प्राप्त होती है और जिस के कारण लोग विद्वान, श्रेष्ठ, विचारवान् वा तत्ववेत्ता कहलाते हैं। यह भी एक अंतःकरण की वृत्ति है जिस के गुण से यही आत्मा तत्ववेत्ता कहलाता है।

(३७) ४ प्रज्ञान नाम प्रतिभा या स्फूर्ति का है। विज्ञान तो युक्ति-क्रम से परिणाम निकालता है, और यह एक प्रकार की अंतःकरण की वृत्ति है जो बिना युक्ति-क्रम के तत्काल शुद्ध परिणाम पा जाती है। साधारण मनुष्य इस को फुरना, सहज-ज्ञान या अन्तर्ज्ञान (इल्हाम) बोलते हैं। यह (वृत्ति) उन ऋषियों मुनियों को होती है जो आरंभ में वेद को प्रसार देने के लिये उत्पन्न होते हैं, और यही आत्मा प्रज्ञान के कारण वेद के चलाने वाला ईश्वर कहलाता है।

(३८) ५ मेधा नाम उस अंतःकरण की वृत्ति का है जो सीखी हुई वस्तु को धारण और रक्षित करती है। और ६ दृष्टि उस वृत्ति का नाम है जो ज्ञानेंद्रियों के द्वारा होने वाले अनुभवों की जाँच पड़ताल करती है। ७ धृति नाम धारणा का है, यह एक अंतर्वृत्ति है जिससे मनुष्य समस्त विक्षिप्त विचारों का निरोध कर सकता है और विक्षेप से धैर्य प्राप्त कर-

खुलती है, तो उस के कारण जीती जागती जान या जीव इसी आत्मा का नाम होता है, क्योंकि सब में जो ज्ञान रखता है वही जीव कहलाता है। वनस्पति में यह वृत्ति नहीं होती। पशुओं में पाई जाती है।

(३५) २ अज्ञान नाम उस पूर्ण बुद्धिमत्ता का है जिस बुद्धि से कि यह सब संसार बनता और दैवी काम होते हैं। यह भी एक अंतःकरण की वृत्ति है और यही आत्मा इस वृत्ति के कारण ईश्वर कहलाता है।

(३६) ३ विज्ञान नाम उस बुद्धि का है कि जो शिक्षा से समझ (दानाई) के रूप में प्राप्त होती है और जिस के कारण लोग विद्वान, श्रेष्ठ, विचारवान् वा तत्ववेत्ता कहलाते हैं। यह भी एक अंतःकरण की वृत्ति है जिस के गुण से यही आत्मा तत्ववेत्ता कहलाता है।

(३७) ४ प्रज्ञान नाम प्रतिभा या स्फूर्ति का है। विज्ञान तो युक्ति-क्रम से परिणाम निकालता है, और यह एक प्रकार की अंतःकरण की वृत्ति है जो बिना युक्ति-क्रम के तत्काल शुद्ध परिणाम पा जाती है। साधारण मनुष्य इस को फुरना, सहज-ज्ञान वा अन्तर्ज्ञान (इल्हाम) बोलते हैं। यह (वृत्ति) उन ऋषियों मुनियों को होती है जो आरंभ में वेद को प्रसार देने के लिये उत्पन्न होते हैं, और यही आत्मा प्रज्ञान के कारण वेद के चलाने वाला ईश्वर कहलाता है।

(३८) ५ मेधा नाम उस अंतःकरण की वृत्ति का है जो सीखी हुई वस्तु को धारण और रक्षित करती है। और ६ दृष्टि उस वृत्ति का नाम है जो ज्ञानेंद्रियों के द्वारा होने वाले अनुभवों की जाँच पड़ताल करती है। ७ धृति नाम धारणा का है, यह एक अंतर्वृत्ति है जिससे मनुष्य समस्त विक्षिप्त विचारों का निरोध कर सकता है और विक्षेप से धैर्य प्राप्त कर

तूल-अविद्या है या मूल-अविद्या। संसार की वस्तुएं यह नहीं समझता, तो तूल अविद्या कहलाती है; और जो ा को नहीं जानने देती वही मूल अविद्या है। तूलाविद्या संसारी विद्या के पढ़ने से दूर होती है और मूलाविद्या मा के विवेक और ज्ञान से दूर होती है। घनसुषुप्ति में और मूल दोनों अविद्या स्वाभाविक होती है। वनस्पति : खनिज वर्ग में भी ये दोनों अविद्या अधिक-अधिक हैं, इस ो न तो वे पहचानते हैं, न अपने आप को जानते हैं। इसी रण से सर्व साधारण उन को जड़ बोलते हैं, किंतु जब संज्ञान ो स्वाभाविक खुलती है, उसी को चेतन बोलते है।

(४२) ऐ भाइयो ! इन ब्राह्मणों ने ये सब वृत्तियाँ प्राणात्मा ी जान कर ऐसा पता लगाया कि ये सब वास्तव में प्राणा- ा हैं। जिस प्रकार नदी मौज मारती हुई बुलबुला, भँवर और ग होती है, वैसे ही यह प्राणात्मा भी तरंगायित होता इन त्तियों का आकार होता है और स्वयं कुछ सत्ता नहीं रखता, रन् छाया के समान आत्मा में केंद्रित है। और यही वृत्तियाँ ो रूप और नाम रखती हैं उन्हीं रूप और नामों में आत्मा भी देखाई देता है, इस लिये अनजान को उस का भेद करना कठिन ा हो जाता है।

(४३) वरन् सब की सब क्या संज्ञान, क्या अज्ञान, क्या विज्ञान, क्या प्रज्ञान, क्या मेधा, क्या दृष्टि, क्या मति, क्या मनीषा, क्या जूति, क्या स्मृति, क्या संकल्प, क्या क्रतु, क्या काम, क्या रसु, क्या वश, क्या अहङ्कार, क्या अविद्या, सब उसी प्रज्ञान के नाम हैं जो वास्तव में आत्मा है। जैसे क्या कुल्हड़ (आबखोरा), क्या चीनी का प्याला सब मिट्टी के नाम और आकार हैं, और मिट्टी तत्व उन से असंग है, इसी तरह यह

या तूल-अविद्या है या मूल-अविद्या। संसार की वस्तुएं यह जब नहीं समझता, तो तूल अविद्या कहलाती है; और जो आत्मा को नहीं जानने देती वही मूल अविद्या है। तूलाविद्या तो संसारी विद्या के पढ़ने से दूर होती है और मूलाविद्या आत्मा के विवेक और ज्ञान से दूर होती है। घनसुषुप्ति में तूल और मूल दोनों अविद्या स्वाभाविक होती हैं। वनस्पति और खनिज वर्ग में भी ये दोनों अविद्या अधिक-अधिक हैं, इस लिये न तो वे पहचानते हैं, न अपने आप को जानते हैं। इसी कारण से सर्व साधारण उन को जड़ बोलते हैं, किंतु जब संज्ञान वृत्ति स्वाभाविक खुलती है, उसी को चेतन बोलते हैं।

(४२) ऐ भाइयो ! इन ब्राह्मणों ने ये सब वृत्तियाँ प्राणात्मा की जान कर ऐसा पता लगाया कि ये सब वास्तव में प्राणात्मा हैं। जिस प्रकार नदी मौज मारती हुई बुलबुला, भँवर और फेन होती है, वैसे ही यह प्राणात्मा भी तरंगायित होता इन वृत्तियों का आकार होता है और स्वयं कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् छाया के समान आत्मा में केंद्रित है। और यही वृत्तियाँ जो रूप और नाम रखती हैं उन्हीं रूप और नामों में आत्मा भी दिखाई देता है, इस लिये अनजान को उस का भेद करना कठिन सा हो जाता है।

(४३) वरन् सब की सब क्या संज्ञान, क्या अज्ञान, क्या विज्ञान, क्या प्रज्ञान, क्या मेधा, क्या दृष्टि, क्या मति, क्या मनीषा, क्या जूति, क्या स्मृति, क्या संकल्प, क्या क्रतु, क्या काम, क्या रसु, क्या वश, क्या अहङ्कार, क्या अविद्या, सब उसी प्रज्ञान के नाम हैं जो वास्तव में आत्मा है। जैसे क्या कुल्हड़ (आबखोरा), क्या चीनी का प्याला सब मिट्टी के नाम और आकार हैं, और मिट्टी तत्व उनसे असंग है, इसी तरह यह सब आत्म-ज्योति में कल्पित हैं।

(४७) क्योंकि जब एक वृत्ति उस से दूर होती है दूसरी आ जाती है, और दूसरी दूर होती है तीसरी आती है, किंतु यह अकेला आत्मा, जो जो वृत्ति उस पर जा लगती है, उसी का रूप होता उसे देखता है। इसी कारण हम निश्चय कर सकते हैं कि अब वह वृत्ति बीती और यह आई। वह जो इन वृत्तियों के होने न होने का और उन के संयोग और वियोग का साक्षी है वही हमारा आत्मा है, और उन सब आकृतियों से पवित्र है और मुख की तरह दर्पण में आया हुआ वृत्ति-रूप होता चमक मारता उन्हें भी प्रकाशित करता है। वास्तव में प्रज्ञान इसी का नाम है। अंतर्वृत्ति तो इस से प्रकाशित हुई प्रज्ञा कहलाती है इसलिये वही वास्तव में प्रज्ञान है।

(४८) किंतु ये अंतर्वृत्तियाँ भी उसी आत्म-ज्योति से प्रकाशित हुई उसी तरह प्रज्ञान-रूप होती हैं जैसे सूर्य से छाया पाकर चंद्र प्रकाशित होता है, और यह वृत्तियाँ बदलती, नाना रूप नाना नाम पाती हैं, और वह इनका महल (अधिष्ठान) इन में प्रतिबिंबित एक आन पर रहता है, बदलता नहीं। इसी कारण बड़े-बड़े सूफी (विचारवान्) लोग इन वृत्तियों का नाम महिमा वा विभूति और उस ज्योति का नाम भूमा वा स्वरूप बोलते हैं, और निश्चय करते हैं कि विभूति बदलती है और भूमा नहीं बदलता।

(४९) अब उनकी भाषा में यों समझो कि वही प्राणात्मा जो इसकी छाया और सेवक है और कुछ भी आस्तित्व नहीं, रखता, वास्तव में इसकी विभूति वा महिमा है; और वह ज्योति जो उस का अधिष्ठान और उन वृत्तियों में प्रतिबिंब डालती है और जिसे आत्मा नाम से बोलते हैं, स्वरूप वा भूमा है। और यह आत्मा की विभूति (शान) ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, देवता होती इसी में केंद्रित रहती है और इसी की ज्योति से ज्योतिर्मय

(४७) क्योंकि जब एक वृत्ति उस से दूर होती है दूसरी आ जाती है, और दूसरी दूर होती है तीसरी आती है, किंतु यह अकेला आत्मा, जो जो वृति उस पर जा लगती है, उसी का रूप होता उसे देखता है। इसी कारण हम निश्चय कर सकते हैं कि अब वह वृत्ति बीती और यह आई। वह जो इन वृत्तियों के होने न होने का और उन के संयोग और वियोग का साक्षी है, वही हमारा आत्मा है, और उन सब आकृतियों से पवित्र है, और मुख की तरह दर्पण में आया हुआ वृत्ति-रूप होता चमक मारता उन्हें भी प्रकाशित करता है। वास्तव में प्रज्ञान इसी का नाम है। अंतर्वृत्ति तो इस से प्रकाशित हुई प्रज्ञा कहलाती है, इसलिये वही वास्तव में प्रज्ञान है।

(४८) किंतु ये अंतर्वृत्तियाँ भी उसी आत्म-ज्योति से प्रकाशित हुई उसी तरह प्रज्ञान-रूप होती हैं जैसे सूर्य से छाया पाकर चंद्र प्रकाशित होता है, और यह वृत्तियाँ बदलती, नाना रूप नाना नाम पाती हैं, और वह इनका महल (अधिष्ठान) इन में प्रतिबिंबित एक आन पर रहता है, बदलता नहीं। इसी कारण बड़े-बड़े सूफी (विचारवान्) लोग इन वृत्तियों का नाम महिमा वा विभूति और उस ज्योति का नाम भूमा वा स्वरूप बोलते हैं, और निश्चय करते हैं कि विभूति बदलती है और भूमा नहीं बदलता।

(४९) अब उनकी भाषा में यों समझो कि वही प्राणात्मा जो इसकी छाया और सेवक है और कुछ भी आस्तित्व नहीं, रखता, वास्तव में इसकी विभूति वा महिमा है; और वह ज्योति जो उस का अधिष्ठान और उन वृत्तियों में प्रतिबिंब डालती है और जिसे आत्मा नाम से बोलते हैं, स्वरूप वा भूमा है। और यह आत्मा की विभूति (शान) ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, देवता होती इसी में केंद्रित रहती है, और इसी की ज्योति से ज्योतिर्मय

है कि "मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्व रूप हूँ," यहाँ नक़द अमृत होता है। और शरीर के दूर होने से सत्यसंकल्प आदिक ऐश्वर्य मुफ्त मिल जाते हैं। यही उस के प्रसाद का पद है और यही उस के चढ़ने की निश्रेणी (सीढ़ी) है। आवे जिसका जी चाहे, किसी को भी रोक नहीं। वह जो इस ज़ीने पर चढ़ने से डरते हैं पापी हैं। पापों के कारण उन के भीतर अंधकार है, इस ज़ीने पर आते कांपते हैं और नित्य मूर्खता में रहते हैं।

(५४) इस प्रसंग का संक्षिप्त सार यह है कि यही अकेला आत्मा जिस के सिवाय दूसरा कुछ भी विद्यमान न था, विना साधन विना उपादान कारण के अपनी माया से जैसे जादूगर अनहोनी माया दिखाता है, इसी तरह उस ने सात लोक, प्रजापति और प्रजापति से देवता उत्पन्न करके और मनुष्य बनाकर उन्हीं देवताओं को मनुष्य में प्रविष्ट किया और फिर आप भी अपने दर्शन के लिये उस में प्रविष्ट हुआ। इस तरह वामदेव ने अपने पहले जन्म के साथी और संबंधियों को सुनाया और वह उस के अनुसार विचार करते अमृत हुए।

(५५) यहाँ कदाचित् भाषाविदों को आश्चर्य होगा कि यह किस तरह संभव है कि वह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ? तो उस को यही आश्चर्य नहीं करना चाहिये वरन् और भी बहुत-सी बातें आश्चर्य की इस में ये हैं कि पहले विना साधन विना उपादान कारणों के उस ने आकाश आदि तत्वों को बनाया और उस के सतोगुण अंश से छाँट कर लोक बनाये और फिर प्रजापति को बना कर उस के अंगो से देवता निकाले जो मनुष्य में प्रविष्ट हुए। वरन् आख्यान की तरह यह कहना सहज बोध्य करने के लिये है, अन्यथा जिस प्रकार स्वप्न में धरती और आकाश और उस के भीतर ही देखने वाला एक स्वप्न शरीर भी रहता है और फिर उस से ऐसा संबंध पा जाता है कि उसी कल्पित

है कि "मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्व रूप हूँ," यहाँ नक्द अमृत होता है। और शरीर के दूर होने से सत्यसंकल्प आदिक ऐश्वर्य मुफ्त मिल जाते हैं। यही उस के प्रसाद का पद है और यही उस के चढ़ने की निश्रेणी (सीढ़ी) है। आवे जिसका जी चाहे, किसी को भी रोक नहीं। वह जो इस ज़ीने पर चढ़ने से डरते हैं पापी हैं। पापों के कारण उन के भीतर अंधकार है, इस ज़ीने पर आते कांपते हैं और नित्य मूर्खता मे रहते हैं।

(५४) इस प्रसंग का संक्षिप्त सार यह है कि यही अकेला आत्मा जिस के सिवाय दूसरा कुछ भी विद्यमान न था, बिना साधन बिना उपादान कारण के अपनी माया से जैसे जादूगर अनहोनी माया दिखाता है, इसी तरह उस ने सात लोक, प्रजा-पति और प्रजापति से देवता उत्पन्न करके और मनुष्य बना-कर उन्हीं देवताओं को मनुष्य मे प्रविष्ट किया और फिर आप भी अपने दर्शन के लिये उस में प्रविष्ट हुआ। इस तरह वामदेव ने अपने पहले जन्म के साथी और संबंधियो को सुनाया और वह उस के अनुसार विचार करते अमृत हुए।

(५५) यहाँ कदाचित् भाषाविदों को आश्चर्य होगा कि यह किस तरह संभव है कि वह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ? तो उस को यहाँ आश्चर्य नहीं करना चाहिये वरन् और भी बहुत-सी बातें आश्चर्य की इस में ये हैं कि पहले बिना साधन बिना उपादान कारणों के उस ने आकाश आदि तत्वों को बनाया और उस के सतोगुण अंश से छाँट कर लोक बनाये और फिर प्रजापति को बना कर उस के अंगो से देवता निकाले जो मनुष्य मे प्रविष्ट हुए। वरन् आख्यान की तरह यह कहना सहज बोध्य करने के लिये है, अन्यथा जिस प्रकार स्वप्न में धरती और आकाश और उस के भीतर ही देखने वाला एक स्वप्न शरीर भी रहता है और फिर उस से ऐसा संबंध पा जाता है कि उसी कल्पित

इत्यादि पाता है और फिर गिरता है।

(५६) इसी *प्रसंग को यजुर्वेद आरण्यक भाग में यों लिखा है कि पहले सबसे ब्रह्म हुआ। उसने अपने आत्मा को यों जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ।" इस से वह सर्वरूप हो गया। ब्रह्म ही नहीं वरन् देवताओं में भी जिस-जिस ने अपने स्वरूप को इस प्रकार देखा कि "मैं ब्रह्म हूँ" वह भी सर्व रूप हो गया। फिर श्रुति कहती है कि यह नहीं ख्याल करना चाहिये कि ऐसा निश्चय देवताओं को ही उचित है वरन् ऋषि मुनि और मनुष्यों में भी जिसने इस प्रकार आत्मा को देखा है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सब में सब कुछ हो गए।

(६०) देखो, वामदेव गर्भ में भी देखता हुआ बोला कि "मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ" और यही निश्चय करता सर्वरूप हो गया। फिर ऐसा भी श्रुति कहती है कि कदाचित् कोई कहे कि भूत कालिक ऋषियों में ही इस निश्चय की शक्ति थी, अब हम में कठिन है; इस लिये स्पष्ट आज्ञा करती है कि अब भी जो कोई ऐसा निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सर्वरूप हो जाता है।

(६१) फिर स्वयं ही श्रुति उस के लिये जो विरुद्ध निश्चय करता है कि "मैं दास हूँ, वह स्वामी है" तिरस्कार करती है कि जो व्यक्ति इस प्रकार विश्वास करता है कि "मैं और हूँ वह और है, और मैं दास हूँ, वह ईश्वर है" वह कुछ नहीं जानता और देवताओं का पशु है। क्योंकि जिस प्रकार एक गाय बहुत आदमियों को दूध देती है और वह सब उस की रक्षा करते और बांधे रखते हैं, जिस से कि किसी दूसरे के पास न चली जाय, इसलिए ऐसे विश्वासी को देवता डराते और चौकसी रखते हैं कि कहीं ज्ञान न पा जाय, इसलिये उस के हृदय में भय

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय पहिला, ब्राह्मण चौथा म० १०।

इत्यादि पाता है और फिर गिरता है।

(५९) इसी *प्रसंग को यजुर्वेद आरण्यक भाग में यों लिखा है कि पहले सबसे ब्रह्मा हुआ। उसने अपने आत्मा को यों जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ।" इस से वह सर्वरूप हो गया। ब्रह्मा ही नहीं वरन् देवताओं में भी जिस-जिस ने अपने स्वरूप को इस प्रकार देखा कि "मैं ब्रह्म हूँ" वह भी सर्व रूप हो गया। फिर श्रुति कहती है कि यह नहीं ख्याल करना चाहिये कि ऐसा निश्चय देवताओं को ही उचित है वरन् ऋषि मुनि और मनुष्यों में भी जिसनें इस प्रकार आत्मा को देखा है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सब में सब कुछ हो गए।

(६०) देखो, वामदेव गर्भ में भी देखता हुआ बोला कि "मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ" और यही निश्चय करता सर्वरूप हो गया। फिर ऐसा भी श्रुति कहती है कि कदाचित् कोई कहे कि भूत कालिक ऋषियों में ही इस निश्चय की शक्ति थी, अब हम में कठिन है, इस लिये स्पष्ट आज्ञा करती है कि अब भी जो कोई ऐसा निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सर्वरूप हो जाता है।

(६१) फिर स्वयं ही श्रुति उस के लिये जो विरुद्ध निश्चय करता है कि "मैं दास हूँ, वह स्वामी है" तिरस्कार करती है कि जो व्यक्ति इस प्रकार विश्वास करता है कि "मैं और हूँ वह और है, और मैं दास हूँ, वह ईश्वर है" वह कुछ नहीं जानता और देवताओं का पशु है। क्योंकि जिस प्रकार एक गाय बहुत आदमियों को दूध देती है और वह सब उस की रक्षा करते और बांधे रखते हैं, जिस से कि किसी दूसरे के पास न चली जाय, इसलिए ऐसे विश्वासी को देवता डराते और चौकसी रखते हैं कि कहीं ज्ञान न पा जाय, इसलिये उस के हृदय में भय

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय पहिला, ब्राह्मण चौथा मं० १० ।

ऋषि मुनि के वचनों और निश्चयों को जानता हुआ निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ," तो फिर बात उलटी हो जाती है, अर्थात् वही देवता जो उपास्य थे सेवक हो जाते हैं, और यह उनका स्वामी। क्योंकि इस निश्चय से यह सर्व का स्वामी हो जाता है और देवताओं का भी आत्मा हो जाता है। फिर कोई उसके इस ज्ञान में बाधा डालने की शक्ति नहीं रखता, बरन् सब उसकी सेवा में यों उठते हैं जैसे कि चाकर।

(६६) ऐ भाइयो! ज्यों ज्यों तुम उन्हें ईश्वर करके मानते हो वे तुम्हें अपना पशु जानते उसी तरह तुम्हें बाँधते हैं जैसे पशु का स्वामी भी पशु को बाँध कर रखता है, पर तुम तो अनजान हो, भेद की बात नहीं जानते, इस श्रुति वाक्य के अनुसार बलवान् बनो और इस निश्चय का अवलंब करो। फिर देखो, क्या विचित्र बात होती है। स्वामी सेवक और दास प्रभु हो जाता है। तथास्तु।

(६७) हम इस विषय में अपनी ओर से एक उदाहरण सुनाते हैं कि कल्पना करो दस मनुष्यों ने जो यात्रा जाना चाहते थे, दो-दो रुपया चंदे की भाँति एकत्रित करके एक सांझे का टट्टू खरीद लिया जिससे यात्रा में उस पर अपना बोझ लादें, और जब चलने का समय हुआ, तो प्रत्येक ने अपनी अपनी गठरी जहाँ तक संभव था, भारी करके लादी, किसी को भी टट्टू की चिंता न हुई कि यह बोझा उठा सकेगा या नहीं?

(६८) बरन् यदि एक दूसरे को संकेत करे कि तेरा भार अधिक है निकाल लो, नहीं तो टट्टू नहीं चल सकेगा, तो वह कहेगा क्या मैंने इसके मूल्य में चंदा नहीं दिया, मैं तो नहीं निकालूँगा, तुम अपना निकाल लो। इस प्रकार जब वाद-विवाद में किसी ने अपना असबाब न निकाला और चाबुक मार कर टट्टू को अंत में रवाना किया, तो बेचारा टट्टू बड़ी कठिनाई

ऋषि मुनि के वचनों और निश्चयों को जानता हुआ निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ," तो फिर बात उलटी हो जाती है, अर्थात् वही देवता जो उपास्य थे सेवक हो जाते हैं, और यह उनका स्वामी। क्योंकि इस निश्चय से यह सर्व का स्वामी हो जाता है और देवता का भी आत्मा हो जाता है। फिर कोई उसके इस ज्ञान में बाधा डालने की शक्ति नहीं रखता, वरन् सब उसकी सेवा में यों उठते हैं जैसे कि चाकर।

(६६) ऐ भाइयो! ज्यों ज्यों तुम उन्हें ईश्वर करके मानते हो वे तुम्हें अपना पशु जानते उसी तरह तुम्हें बाँधते हैं जैसे पशु का स्वामी भी पशु को बाँध कर रखता है, पर तुम तो अनजान हो, भेद की बात नहीं जानते, इस श्रुति वाक्य के अनुसार बलवान् बनो और इस निश्चय का अवलंब करो। फिर देखो, क्या विचित्र बात होती है। स्वामी सेवक और दास प्रभु हो जाता है। तथास्तु।

(६७) हम इस विषय में अपनी ओर से एक उदाहरण सुनाते हैं कि कल्पना करो दस मनुष्यों ने जो यात्रा जाना चाहते थे, दो-दो रुपया चंदे की भाँति एकत्रित करके एक साझे का टट्टू खरीद लिया जिससे यात्रा में उस पर अपना बोझ लादें, और जब चलने का समय हुआ, तो प्रत्येक ने अपनी अपनी गठरी जहाँ तक संभव था, भारी करके लादी, किसी को भी टट्टू की चिंता न हुई कि यह बोझा उठा सकेगा या नहीं!

(६८) वरन् यदि एक दूसरे को संकेत करे कि तेरा भार अधिक है निकाल लो, नहीं तो टट्टू नहीं चल सकेगा, तो वह कहेगा क्या मैंने इसके मूल्य में चंदा नहीं दिया, मैं तो नहीं निकालूँगा, तुम अपना निकाल लो। इस प्रकार जब वाद-विवाद में किसी ने अपना असबाब न निकाला और चाबुक मार कर टट्टू को अंत में रवाना किया, तो बेचारा टट्टू बड़ी कठिनाई

उनके नियत दिनों पर भेंटें नजरें देते हैं।

(७३) जब कोई आवश्यकता पड़ती है तो प्रत्येक को ध्यान करते सब से मांगते हैं. ऐ पीर पीरां! ऐ सखी सरवर! कोलों वाले! ऐ देवी देवता! मेरे लड़के को अच्छा कर दो, और वह उन पर चंदा वाले टट्टू के मालिकों की तरह ध्यान नहीं करते, अंत में मर जाते हैं। लड़का तो मर ही जाता है और उसकी कुशल में जो नजरें बांधते हैं, यदि वह न दें, तो फिर उन्हें फ़ौरन आ पकड़ते हैं।

(७४) मैं शोक करता हूँ ऐसे हिन्दुओं पर जो भाइयों और चेलियों के निश्चय पर तो सांझे के टट्टू हो जाते हैं, पर वेद की श्रुतियों के अनुसार "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चय नहीं करते। यह अविद्या नहीं तो क्या है? मूर्खता नहीं तो क्या है? वेदों का यह तात्पर्य है कि संसार के लोक देवताओं के आश्रय हैं, और देवता मनुष्य के आश्रय मनुष्य का वही आत्मा ब्रह्म है जो सबका स्वामी है। इसलिये मनुष्य को अपनी देह के संबंध के कारण, जिस प्रकार राजा प्रजा का पालन करता है, उसी तरह देवताओं के पालन के लिये यज्ञादिक निष्काम करने चाहियें, और "मैं ब्रह्म हूँ, उनका स्वामी सर्वरूप हूँ" ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

(७५) यह तो उन्हें खबर नहीं, विरुद्ध इस के स्वामी होकर दास बनते हैं और नजरें भेंटें तथा बलियाँ धन-दौलत के लिये देते हैं, जिससे कुछ भी काम नहीं, क्योंकि जो कुछ प्रारब्ध है उसे तो ब्रह्मा भी नहीं पलट सकता, सखी-सरवर क्या कर सकता है? अथवा पीर पीरां से क्या हो सकता है?

(७६) मेरे निकट उस ब्राह्मण की तरह होना चाहिए जिस का उल्लेख उदाहरण की तरह मैं आगे करता हूं। देखिए, दो ब्राह्मण तप के लिये बन में गये जहाँ सिद्ध स्थान इत्यादि

उनके नियत त्रिनों पर भेंटें नज़रें देते हैं।

(७३) जब कोई आवश्यकता पड़ती है तो प्रत्येक को ध्यान करते खुब से मांगते हैं, ऐ पीर पीरां! ऐ सखी सरवर! कालों वाले! ऐ देवी-देवता! मेरे लड़के को अच्छा कर दो, और वह उन पर चंदा वाले टट्टू के मालिकों की तरह ध्यान नहीं करते, अंत में मर जाते हैं। लड़का तो मर ही जाता है और उसकी कुशल में जो नज़रें बांधते हैं, यदि वह न दें, तो फिर उन्हें फ़ौरन् आ पकड़ते हैं।

(७४) मैं शोक करता हूँ ऐसे हिन्दुओं पर जो माइयों और चेलियों के निश्चय पर तो सांझे के टट्टू हो जाते हैं, पर वेद की श्रुतियों के अनुसार "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चय नहीं करते। यह अविद्या नहीं तो क्या है? मूर्खता नहीं तो क्या है? वेदों का यह तात्पर्य है कि संसार के लोक देवताओं के आश्रय हैं, और देवता मनुष्य के आश्रय मनुष्य का वही आत्मा ब्रह्म है जो सबका स्वामी है। इसलिये मनुष्य को अपनी देह के संबंध के कारण, जिस प्रकार राजा प्रजा का पालन करता है, उसी तरह देवताओं के पालन के लिये यज्ञादिक निष्काम करने चाहिये, और "मैं ब्रह्म हूँ, उनका स्वामी सर्वरूप हूँ" ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

(७५) यह तो उन्हें खबर नहीं, विरुद्ध इसके स्वामी होकर दास बनते हैं और नज़रें भेंटें तथा बलियाँ धन-दौलत के लिये देते हैं, जिससे कुछ भी काम नहीं, क्योंकि जो कुछ प्रारब्ध है उसे तो ब्रह्मा भी नहीं पलट सकता, सखी-सरवर क्या कर सकता है? अथवा पीर पीरां से क्या हो सकता है?

(७६) मेरे निकट उस ब्राह्मण की तरह होना चाहिए जिस का उल्लेख उदाहरण की तरह मैं आगे करता हूँ। देखिए, दो ब्राह्मण व्यापार के लिये वन में गये जहाँ सिंह व्याघ्र हैं आदि

हैं और विरोचन के शिष्य हैं। उन की कदापि नहीं सुननी चाहिये। चाहे यह भेद (रहस्य) ज्ञात हो या न हो, प्रत्येक आर्य को इस निश्चय (मैं ब्रह्म हूँ) का अवलंबन करना चाहिये। क्योंकि सुवर्ण को सुवर्ण कहना ही ठीक है, सुवर्ण को पीतल कहना ठीक नहीं। और इस हेतु कि ज्ञानियों की रत्न-पारखी दृष्टि और वेद की श्रुतियों से भी यही सच है, तो उस के विरुद्ध विश्वास करना भेद वाद और कुफ्र है।

(८१) कुछ भाषाविद् कहते हैं कि यद्यपि यह सत्य है, तो भी इस निश्चय में अहंकार पाया जाता है, इसलिये भी यह निश्चय अच्छा नहीं। तो हम जतला देते हैं कि अहंकार और बड़प्पन का रूप अनजान को एक ही ज्ञात होता है, यद्यपि अहंकार बुराई है और बड़प्पन बड़ाई वा उत्तमता है। और यह सदाचार के पंडित जानते हैं कि बड़प्पन प्रशंसा किया गया है और अहंकार निंदा।

(८२) "मैं ब्रह्म हूँ" इस निश्चय में आत्मा का बड़प्पन है, अहंकार नहीं। अहंकार तब होता है जब कोई काम समक्ष में आप और दूसरे से हुआ हो और झूठा निश्चय करे कि "मैं ने किया है, उस को क्या शक्ति थी?" और यह बुरा है। इसी भेद के लिये हम एक वैदिक आख्यान का अनुवाद करते हैं जिस से इस का आप लोगों को भेद ज्ञात हो जायगा।

(८३) * हम सामवेद की तलवकार शाखा केनोपनिषद् में सुनते हैं कि ब्रह्म ने जो आत्मा है, देवताओं को असुरों पर विजय दी। जब इस प्रकार देवताओं को उन पर विजय दी, तो वे गौरवान्वित हो गये और उन्हों ने अहंकार किया कि यह हमारी विजय है। हम ही थे जो ऐसी विजय लाभ की, हमारा ही यह काम था और हमारी ही यह बड़ाई है। क्यों न हम

* देखो केनोपनिषद् अध्याय दूसरा खण्ड पहला और दूसरा।

हैं और विरोचन के शिष्य हैं। उन की कदापि नहीं सुननी चाहिये। चाहे यह भेद (रहस्य) ज्ञात हो या न हो, प्रत्येक आर्य को इस निश्चय (मैं ब्रह्म हूँ) का अवलंबन करना चाहिये। क्योंकि सुवर्ण को सुवर्ण कहना ही ठीक है, सुवर्ण को पीतल कहना ठीक नहीं। और इस हेतु कि ज्ञानियों की रत्न-पारखी दृष्टि और वेद की श्रुतियों से भी यही सच है, तो उस के विरुद्ध विश्वास करना भेद वाद और कुफ्र है।

(८१) कुछ भाषाविद् कहते हैं कि यद्यपि यह सत्य है, तो भी इस निश्चय में अहंकार पाया जाता है, इसलिये भी यह निश्चय अच्छा नहीं। तो हम जतला देते हैं कि अहंकार और बड़प्पन का रूप अनजान को एक ही ज्ञात होता है, यद्यपि अहंकार बुराई है और बड़प्पन बड़ाई या उत्तमता है। और यह सदाचार के पंडित जानते हैं कि बड़प्पन प्रशंसा किया गया है और अहंकार निंदा।

(८२) "मैं ब्रह्म हूँ" इस निश्चय में आत्मा का बड़प्पन है, अहंकार नहीं। अहंकार तब होता है जब कोई काम समक्ष में आप और दूसरे से हुआ हो और झूठा निश्चय करे कि "मैं ने किया है, उस को क्या शक्ति थी!" और यह बुरा है। इसी भेद के लिये हम एक वैदिक आख्यान का अनुवाद करते हैं जिस से इस का आप लोगों को भेद ज्ञात हो जायगा।

(८३) * हम सामवेद की तलवकार शाखा केनोपनिषद् में सुनते हैं कि ब्रह्म ने जो आत्मा है, देवताओं को असुरों पर विजय दी। जब इस प्रकार देवताओं को उन पर विजय दी, तो वे गौरवान्वित हो गये और उन्हों ने अहंकार किया कि यह हमारी विजय है। हम ही थे जो ऐसी विजय लाभ की, हमारा ही यह काम था और हमारी ही यह बड़ाई है। क्यों न हम

* देखो केनोपनिषद अध्याय दूसरा खण्ड पहला और दूसरा।

शक्ति है बतलाओ। उस ने उत्तर दिया कि मैं जो कुछ धरती में है पाऊँ तो एकक्षण में उड़ा दूं। उस ने एक तिनका निकाल कर रख दिया कि इसे उड़ा दो। उस ने जहाँ तक शक्ति थी उड़ाना चाहा। किंतु न उड़ा सका। इसलिए डरा और अपने आप को अशक्त जानता हुआ लौट आया और उस ने कहा—मैं नहीं जान सकता कि यह कौन है। मैं तो इस के आगे कम ज़ोर वरन् अशक्त ठहरता हूँ।

(८९) फिर उन्होंने इन्द्र को कहा—ऐ भगवन्! तुम तो इसे जानो कि यह कौन यक्ष है। उसने कहा—अच्छा। तब वह उसके पास गया। अभी वह निकट नहीं पहुँचा था कि वह यक्ष अंतर्द्धान हो गया, क्योंकि वह उसे अपना मुँह दिखाना नहीं चाहता था और उस का अधिक तिरस्कार करना चाहता था, इस लिये उस यक्ष की जगह एक स्त्री के रूप में सशरीरी हो गया। तब इन्द्र ने देखा कि अभी तो यहाँ यक्ष दिखाई देता था, अब उसकी जगह बड़ी बलवान् स्त्री उमा (पारवती) दिखाई देती है जो हम सब की माँ है। यह क्या आश्चर्य है?

(९०) तब इन्द्र ज़रा आगे बढ़ा और उस से पूछा, ऐ माता! यहां यक्ष कौन था? उस ने कहा—बेटा! वह ब्रह्म था जिस के बदौलत तुम ने असुरों पर विजय पाई और जिस विजय के कारण तुम गौरव और अहंकार करते हो। तुम तो क्या बैल भी अपने चरने पर डकारता है, जंगली गधा भी जंगल में रींगता है। तुम भी देवलोक में बक बक करते हो कि हम ने विजय की, हमारा ही यह काम था। क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारे बल, तुम्हारी शक्तियां अपनी नहीं, वरन् सब इसी की दी हुई हैं? क्या बुद्धिमान् यदि कोई वस्तु मांग लाता है, तो उस का स्वामी हो जाता है? और उस के कारण जो काम करता है, तो क्या अपना किया समझता है? फिर

शक्ति है बतलाओ। उस ने उत्तर दिया कि मैं जो कुछ धरती में है पाऊँ तो एकक्षण में उड़ा दूं। उस ने एक तिनका निकाल कर रख दिया कि इसे उड़ा दो। उस ने जहाँ तक शक्ति थी उड़ाना चाहा। किंतु न उड़ा सका। इसलिए डरा और अपने आप को अशक्त जानता हुआ लौट आया और उस ने कहा—मैं नहीं जान सकता कि यह कौन है। मैं तो इस के आगे कम ज़ोर वरन् अशक्त ठहरता हूँ।

(८९) फिर उन्होंने इन्द्र को कहा—ऐ भगवन्! तुम तो इसे जानो कि यह कौन यक्ष है। उसने कहा—अच्छा। तब वह उसके पास गया। अभी वह निकट नहीं पहुँचा था कि वह यक्ष अंतर्द्धान हो गया, क्योंकि वह उसे अपना मुँह दिखाना नहीं चाहता था और उस का अधिक तिरस्कार करना चाहता था, इस लिये उस यक्ष की जगह एक स्त्री के रूप में सशरीरी हो गया। तब इन्द्र ने देखा कि अभी तो यहाँ यक्ष दिखाई देता था, अब उसकी जगह बड़ी बलवान् स्त्री उमा (पारवती) दिखाई देती है जो हम सब की माँ है। यह क्या आश्चर्य है?

(९०) तब इन्द्र ज़रा आगे बढ़ा और उस से पूछा, ऐ माता! यहाँ यक्ष कौन था? उस ने कहा—बेटा! वह ब्रह्म था जिस के बदौलत तुम ने असुरों पर विजय पाई और जिस विजय के कारण तुम गौरव और अहंकार करते हो। तुम तो क्या बैल भी अपने चरने पर डकारता है, जंगली गधा भी जंगल में रींकता है। तुम भी देवलोक में बक बक करते हो कि हम ने विजय की, हमारा ही यह काम था। क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारे बल, तुम्हारी शक्तियाँ अपनी नहीं, वरन् सब इसी की दी हुई हैं? क्या बुद्धिमान् यदि कोई वस्तु माँग लाता है, तो उस का स्वामी हो जाता है? और उस के कारण जो काम करता है, तो क्या अपना किया समझता है? फिर

यह है कि जिस तरह बाहर सब में व्यापक है, उसी तरह यह तुम्हारे भीतर भी व्यापक है ।

(१४) जब तुम अंतर्मुख हो कर उसे अपना आत्मरूप मान-कर पहचानोगे, तो अमृतता पाओगे, अन्यथा बड़ी भक्तियों और बड़े पुण्यों से अपने भक्तों और विश्वासियों के लिये यह कभी-कभी बिजली की चमक की तरह या आँख की झपक की तरह सशरीरी हो आता है, और अंतर्धान हो जाता है । परन्तु साक्षात्कार चाहो, तो अपने भीतर की मनोवृत्तियों को देखो । ये जो मन में संकल्प उठते हैं, उन में साक्षी आत्मा की ज्योति प्रतिबिंबित होती है । यही उस का अध्यात्म-स्वरूप है । इसे जो पहचानता है और अपना आत्मा जानता है, उस से मिलाप पाता है ।

(१५) अधिदेव रूप में जो मिलता है उस से एक नहीं होता है, बरन् भय रहता है, अध्यात्म में इस से एक होता स्वतंत्र या बेपरवाह हो जाता है और इस की अधिदेव विभूतियाँ सब उसी की हो जाती हैं, क्योंकि सब के भीतर सब का आत्मा यही है । इसी कारण उस को तद्वन बोलते हैं । और तद्वन नाम से उस की उपासना करनी चाहिये । संस्कृत में तद्वन नाम उस का है जो ईश्वर को अपना आत्मा करके भजन करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" । और यह अहंकार नहीं वरन् उसका बड़प्पन है । यह जो तुम ने विजय पाने में अभिमान किया, अहंकार है । और यह उस का महत्त्व है । और यही तद्वन है । जो उसकी तद्वन उपासना को जानता है, उस को सब भूत (प्राणी या पदार्थ) चाहते हैं और उसी के हो जाते हैं । इस तरह उमा-देवी ने देवताओं को अहंकार और महत्व में भेद कर दिखाया, और कहा कि इसी महत्ता का अवलम्बन करो । और इस अव-लम्बन में शम दम तप शुभ कर्म और वेदों का पढ़ना इत्त्यादि

यह है कि जिस तरह बाहर सब में व्यापक है, उसी तरह यह तुम्हारे भीतर भी व्यापक है।

(९४) जब तुम अंतर्मुख हो कर उसे अपना आत्मरूप मान-कर पहचानोगे, तो अभेदता पाओगे, अन्यथा बड़ी भक्तियों और बड़े पुण्यों से अपने भक्तों और विश्वासियों के लिये यह कभी-कभी बिजली की चमक की तरह या आँख की झपक की तरह सशरीरी हो आता है, और अंतर्द्धान हो जाता है। परन्तु साक्षात्कार चाहो, तो अपने भीतर की मनोवृत्तियों को देखो। ये जो मन में संकल्प उठते हैं, उन में साक्षी आत्मा की ज्योति प्रतिबिंबित होती है। यही उस का अध्यात्म-स्वरूप है। इसे जो पहचानता है और अपना आत्मा जानता है, उस से मिलाप पाता है।

(९५) अधिदेव रूप में जो मिलता है उस से एक नहीं होता है, वरन् भय रहता है, अध्यात्म में इस से एक होता स्वतंत्र या बेपरवाह हो जाता है और इस की अधिदेव विभूतियाँ सब उसी की हो जाती हैं, क्योंकि सब के भीतर सब का आत्मा यही है। इसी कारण उस को तद्वन बोलते हैं। और तद्वन नाम से उस की उपासना करनी चाहिये। संस्कृत में तद्वन नाम उस का है जो ईश्वर को अपना आत्मा करके भजन करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ"। और यह अहंकार नहीं वरन् उसका बड़प्पन है। यह जो तुम ने विजय पाने में अभिमान किया, अहंकार है। और यह उस का महत्त्व है। और यही तद्वन है। जो उसकी तद्वन उपासना को जानता है, उस को सब भूत (प्राणी या पदार्थ) चाहते हैं और उसी के हो जाते हैं। इस तरह उमा-देवी ने देवताओं को अहंकार और महत्व में भेद कर दिखाया, और कहा कि इसी महत्ता का अवलम्बन करो। और इस अव-लम्बन में शम दम तप शुभ कर्म और वेदों का पढ़ना इस विद्

(९९) ऐ आत्मो ! वहाँ न तो आँख जा सकती है, न वाणी पहुँचती है, न मन जा सकता है, न हम स्वयं जानते हैं कि किस प्रकार उसे सिखावें। किंतु बुद्धिमानों से हमने यों सुना है, जिन्हों ने हमें सिखलाया कि "वह न तो ज्ञेय है न अज्ञेय, वरन् ज्ञेय अज्ञेय से परे अलग है", क्योंकि जो अनात्म या भिन्न है या ज्ञात होगा या अज्ञात, पर वह तो इन दोनों से अलग ज्ञान-स्वरूप है।

(१००) यहां श्रुति का तात्पर्य यह है कि यह जो ज्ञान में आ जाता है, वह तो ज्ञेय होता है और जो ज्ञान में नहीं आता अज्ञेय होता है। परंतु स्वयं ज्ञान न तो ज्ञान में आ सकता है और न ज्ञान से बाहर रह सकता है। इस हेतु कि वह स्वयं ज्ञान है और यह संभव नहीं कि आप ही ज्ञान ज्ञान में आ जाय या ज्ञान से बाहर हो। इसलिये न वह ज्ञेय है न अज्ञेय है, वरन् ज्ञान-स्वरूप व आत्म-स्वरूप है। उसी में वस्तुएं प्रकाशित होती ज्ञात होती हैं, उसी में शून्य हुई अज्ञात हो जाती हैं। वह जो ज्ञेय और अज्ञेय का दर्पण है, वही आत्मा है।

(१०१) जो वाणी से नहीं कहा जा सकता वरन् जिस से वाणी बोलती है, तुम उसे ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता या उपासना करते हो।

(१०२) जो मन से नहीं सोचा जाता, वरन जिस से मन सोचता है, उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता करते हो।

(१०३) जो आँखों से दिखाई नहीं देता, परन्तु जिस से आँखें देखती हैं, उसे तुम ब्रह्म जानो। वह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता करते हो।

(१०४) जो कानों से नहीं सुनाई दे सकता परन्तु कान जिस से सुनते हैं, उसे तुम ब्रह्म जानो। वह ब्रह्म नहीं जिस की तुम सेवकाई करते हो।

(९९) ऐ भाइयो ! वहाँ न तो आँख जा सकती है, न वाणी पहुँचती है, न मन जा सकता है, न हम स्वयं जानते हैं कि किस प्रकार उसे सिखायें। किंतु बुद्धिमानों से हमने यों सुना है, जिन्हों ने हमें सिखलाया कि "वह न तो ज्ञेय है न अज्ञेय, वरन् ज्ञेय अज्ञेय से परे अलग है", क्योंकि जो अनात्म या भिन्न है या ज्ञात होगा या अज्ञात, पर वह तो इन दोनों से अलग ज्ञान-स्वरूप है।

(१००) यहां श्रुति का तात्पर्य यह है कि यह जो ज्ञान में आ जाता है, वह तो ज्ञेय होता है और जो ज्ञान में नहीं आता अज्ञेय होता है। परंतु स्वयं ज्ञान न तो ज्ञान में आ सकता है और न ज्ञान से बाहर रह सकता है। इस हेतु कि वह स्वयं ज्ञान है और यह संभव नहीं कि आप ही ज्ञान ज्ञान में आ जाय या ज्ञान से बाहर हो। इसलिये न वह ज्ञेय है न अज्ञेय है, वरन् ज्ञान-स्वरूप व आत्म-स्वरूप है। उसी में वस्तुएं प्रकाशित होती ज्ञात होती हैं, उसी में शून्य हुई अज्ञान हो जाती हैं। वह जो ज्ञेय और अज्ञेय का दर्पण है, वही आत्मा है।

(१०१) जो वाणी से नहीं कहा जा सकता वरन् जिस से वाणी बोलती है, तुम उसे ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता या उपासना करते हो।

(१०२) जो मन से नहीं सोचा जाता, वरन जिस से मन सोचता है, उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिस की तुम उपासना करते हो।

(१०३) जो आँखों से दिखाई नहीं देता, वरन् जिस से आँखें देखती हैं, उसे तम ब्रह्म जानो। वह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता करते हो।

(१०४) जो कानों से नहीं सुनाई दे सकता वरन् कान जिस से सुनते हैं, उसे तुम ब्रह्म जानो। वह ब्रह्म नहीं जिस की तुम सेवकाई करते हो।

यहीं उन्हें ने आँख की और "हम ही सब में सब कुछ हैं" ऐसा निश्चय किया। इस तरह "मैं ब्रह्म हूँ और सब में सब कुछ हूँ," यह ज्ञान है, अंधकार या भूल नहीं, महत्त्व है अहंकार नहीं। अहंकार तो यही था जो उन्होंने (अर्थात् देवताओं ने) अपने विजय लाभ करने पर किया था जिस के लिये आत्मा शरीर होकर यक्ष के रूप में उन्हें दिखाई दिया। इस ज्ञान में तो वही उनका आत्मा हुआ और मुक्ति का कारण हुआ। इसलिये, ऐ भाइयो! हमने भी अहंकार और महत्व में अंतर दिखला दिया है, जिससे भाषा जानने वाले इस निश्चय को अस्वीकार न कर सकें।

(११०) अब हम निवेदन करते हैं कि जो बात श्रुति, युक्ति, अनुभव से सिद्ध हो ठीक होती है, और "मैं ब्रह्म हूँ," यह निश्चय श्रुतियों, युक्तियों और बुद्धिमानों के अनुभव से सिद्ध कर दिखा दिया है कि इसी पर प्रसाद निर्भर है, अब इस पर इनकार वास्तव में शुद्धात्मा का इनकार है। और वह जो ईश्वर का अपराध करता है, क्षमा होगा; परन्तु वह जो शुद्धात्मा का अपराध करता है, कभी क्षमा नहीं किया जायगा। इसी को आत्म-हत्यारा अर्थात् आत्मा का तिरस्कार करने वाला कहते हैं।

(१११) वेद का मंत्र आज्ञा देता है कि वह जो अपने आत्मा का तिरस्कार करता है कि "मैं पापी हूँ, अपराधी हूँ, सेवक या दास हूँ" उन अंधतम लोकों को मर कर प्राप्त होता है जहाँ से फिर मुक्ति की आशा नहीं। स्मृतियों में भी आया है कि सब पापों का प्रायश्चित्त तो शास्त्र ने लिखा है, किंतु आत्मा के तिरस्कार का प्रायश्चित्त कहीं नहीं लिखा। इसलिये कदापि अपने आत्मा का तिरस्कार न करो। ज्ञान होने पर तो अपने आप यह निश्चय जारी हो सकता है। जब ज्ञान भी न हो, तो कर्म और उपासना की रीति से यही निश्चय करो और यह

यही उन्हों ने आँख की और "हम ही सब में सब कुछ हैं" ऐसा निश्चय किया। इस तरह "मैं ब्रह्म हूँ और सब में सब कुछ हूँ" यह ज्ञान है, अंधकार या भूल नहीं, महत्व है अहंकार नहीं। अहंकार तो यही था जो उन्होंने (अर्थात् देवताओं ने) अपने विजय लाभ करने पर किया था जिस के लिये आत्मा शरीर होकर यक्ष के रूप में उन्हें दिखाई दिया। इस ज्ञान में तो वही उनका आत्मा हुआ और मुक्ति का कारण हुआ। इसलिये, ऐ भाइयो! हमने भी अहंकार और महत्व में अंतर दिखला दिया है, जिससे भाषा जानने वाले इस निश्चय को अस्वीकार न कर सकें।

(११०) अब हम निवेदन करते हैं कि जो बात श्रुति, युक्ति, अनुभव से सिद्ध हो ठीक होती है, और "मैं ब्रह्म हूँ," यह निश्चय श्रुतियों, युक्तियों और बुद्धिमानों के अनुभव से सिद्ध कर दिखा दिया है कि इसी पर प्रसाद निर्भर है, अब इस पर इनकार वास्तव में शुद्धात्मा का इनकार है। और वह जो ईश्वर का अपराध करता है, क्षमा होगा; परन्तु वह जो शुद्धात्मा का अपराध करता है, कभी क्षमा नहीं किया जायगा। इसी को आत्म-हत्यारा अर्थात् आत्मा का तिरस्कार करने वाला कहते हैं।

(१११) वेद का मंत्र आज्ञा देता है कि वह जो अपने आत्मा का तिरस्कार करता है कि "मैं पापी हूँ, अपराधी हूँ, सेवक या दास हूँ" उन अंधतम लोकों को मर कर प्राप्त होता है जहाँ से फिर मुक्ति की आशा नहीं। स्मृतियों में भी आया है कि सब पापों का प्रायश्चित तो शास्त्र ने लिखा है, किंतु आत्मा के तिरस्कार का प्रायश्चित कहीं नहीं लिखा। इसलिये कदापि अपने आत्मा का तिरस्कार न करो। ज्ञान होने पर तो अपने आप यह निश्चय जारी हो सकता है। जब ज्ञान भी न हो, तो कर्म और उपासना की रीति से यही निश्चय करो और यह

अपने पद के अनुसार पारितोषिक पाता है।

(११५) आप भी इस निश्चय के क्षेत्र में घोड़ा दौड़ाएँ और इस अखाड़े में लड़ें। यदि बाज़ी मार ली, तो यहां ही पटका आप का है, यदि बाज़ी नहीं मिली, तो देवयान सड़क तो यों ही पारितोषिक में विद्यमान है। और स्वयं ब्रह्मा इसकी शिक्षा देगा और प्रत्यक्ष आत्मा दिखला देगा। यही वेदों का वादा है किंतुःधन्यवाद है कि हम तो बाज़ी ले गए और आजकल पटका हमारे नाम है, अब ज्ञानकांड में भाषाविदों के लिये इतना हम यथेष्ट समझते हैं। वह जो इसे पढ़ता, सुनता, विचार करता और विश्वास करता है, प्रत्यक्ष मोक्ष पाता है। तथास्तु इति शम्।

अपने पद के अनुसार पारितोषिक पाता है।

(११५) आप भी इस निश्चय के क्षेत्र में घोड़ा दौड़ाएँ और इस अखाड़े में लड़ें। यदि बाज़ी मार ली, तो यहां ही पटका आप का है, यदि बाज़ी नहीं मिली, तो ऐवयान सड़क तो यों ही पारितोषिक में विद्यमान है। और स्वयं ब्रह्म इसकी शिक्षा देगा और प्रत्यक्ष आत्मा दिखला देगा। यही वेदों का वादा है किंतु धन्यवाद है कि हम तो बाज़ी ले गए और आजकल पटका हमारे नाम है, अब ज्ञानकांड में भाषाविदों के लिये इतना हम यथेष्ट समझते हैं। वह जो इसे पढ़ता, सुनता, विचार करता और विश्वास करता है, प्रत्यक्ष मोक्ष पाता है। तथास्तु

इति शम्।

अभोक्ता असंसारी होता है। यही देखने वाली आत्मा, कर्ता अभोक्ता असंग समस्त गुणों से निर्लिप्त है, मुक्त ही है, और इसी को संस्कृत भाषा में 'निर्गुण ब्रह्म' कहते हैं। ३) और इस हेतु कि वह कर्ता भोक्ता आत्मा भी वास्तव में साक्षी आत्मा को छोड़ कर कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् की छाया उसी का प्रकाश है, इसलिये वही पवित्र अपनी में मिला हुआ बंध या सगुण कहलाता है और वही त्मा अपनी छाया या प्रकाश से रहित चुना हुआ मुक्त या ब्रह्म कहलाता है। इस तरह वही सगुण वही निर्गुण है। व में दो नहीं, वरन् एक ही है; तो भी कर्ता और भोक्ता मात्र उस की छाया में है, और उसी के स्वरूप में योंही त होता है। वास्तव में न तो वह कुछ कर्ता न कुछ भोक्ता यों का त्यों द्रष्टा है, और योंही अनहुआ अभिनय (तमाशा) की भांति उसे दिखाई देता है। जब यह अपने आप को त्र और साक्षी जानता है, तो फिर अभिनय भी नहीं होता। लिये वह सब मिथ्या कहलाता है।

(४) देखो, मनुष्य और मनुष्य की छाया दो नहीं होते। एक ही मनुष्य होता है। क्योंकि जब कोई मनुष्य को ता है, तो यही निश्चय करता है कि हमने अकेला मनुष्य या, यद्यपि उस ने छाया को भी उस के साथ पाया है। पर या कुछ सत्ता नहीं रखती, इसलिये उस के साथ उसे नहीं नता। इसी तरह यह कर्ता भोक्ता आत्मा भी उसकी छाया या काश है; सिवाय उसके कुछ सत्ता नहीं रखती, तो भी विवे ना के समय कहा जा सकता है कि मनुष्य की छाया मनुष्य भिन्न है। इसी तरह ज्ञानी भी उस को पृथक् विवेचना करते और इसी विवेक पर प्रसाद अवलंबित है।

(५) अब यों समझो कि जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य

अकर्ता अभोक्ता असंसारी होता है। यही देखने वाली आत्मा, जो अकर्ता अभोक्ता असंग समस्त गुणों से निर्लिप्त है, मुक्त कहलाती है, और इसी को संस्कृत भाषा में 'निर्गुण ब्रह्म' कहते हैं।

(४) और इस हेतु कि वह कर्त्ता भोक्ता आत्मा भी वास्तव में इस साक्षी आत्मा को छोड़ कर कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् उसी की छाया उसी का प्रकाश है, इसलिये वही पवित्र अपनी छाया में मिला हुआ बंध या सगुण कहलाता है और वही पवित्रात्मा अपनी छाया या प्रकाश से रहित चुना हुआ मुक्त या निर्गुण ब्रह्म कहलाता है। इस तरह वही सगुण वही निर्गुण है। वास्तव में दो नहीं, वरन् एक ही है; तो भी कर्त्ता और भोक्ता देखने मात्र उस की छाया में है, और इसी के स्वरूप में योंही कल्पित होता है। वास्तव में न तो वह कुछ कर्त्ता न कुछ भोक्ता है, ज्यों का त्यों द्रष्टा है, और योंही अनहुआ अभिनय (तमाशा) छाया की भांति उसे दिखाई देता है। जब यह अपने आप को पवित्र और साक्षी जानता है, तो फिर अभिनय भी नहीं होता। इसलिये वह सब मिथ्या कहलाता है।

(५) देखो, मनुष्य और मनुष्य की छाया दो नहीं होते। वरन् एक ही मनुष्य होता है। क्योंकि जब कोई मनुष्य को पाता है, तो यही निश्चय करता है कि हमने अकेला मनुष्य पाया, यद्यपि उस ने छाया को भी उस के साथ पाया है। पर छाया कुछ सत्ता नहीं रखती, इसलिये उस के साथ उसे नहीं गिनता। इसी तरह यह कर्त्ता भोक्ता आत्मा भी उसकी छाया या प्रकाश है, सिवाय उसके कुछ सत्ता नहीं रखती, तो भी विवेचना के समय कहा जा सकता है कि मनुष्य की छाया मनुष्य से भिन्न है। इसी तरह ज्ञानी भी उस को पृथक् विवेचना करते हैं और इसी विवेक पर प्रसाद अवलंबित है।

(६) अब यों समझो कि जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य

में और रजत का सीप में आभास है और सर्प और रजत तो, प्रकट हुए हैं और रज्जु और सीप उन के द्योतक हैं।

(१०) फिर यों समझो कि आभास दो प्रकार का होता है, या तो प्रकाश्य अपने प्रकाशक में ही दिखाई देता है, उस से बाहर पाया नहीं जाता। या उस से बाहर भी पाया जाता है और उस में भी दिखाई देता है। उस पहले को कल्पना या ख़याल और दूसरे को प्रतिबिंब कहा करते हैं। सर्प का रज्जु में और रजत का सीप में प्रकाशन काल्पनिक है और दर्पण में मुख का प्रदर्शन प्रतिबिंबी है।

(११) क्योंकि रज्जु में सर्प या सीप में रजत जो दिखाई देती है, अपने प्रकाशक से बाहर पाई नहीं जाती, इसलिये काल्पनिक है। और दर्पण में जो मुँह दिखाई देता है, दर्पण से बाहर देखने वाले की गर्दन में भी पाया जाता है, इसलिये कह सकते हैं कि उसी का प्रतिबिंब दर्पण में दिखाई देता है।

(१२) और फिर ये (आभास) बहुत प्रकार के होते हैं। कहीं-कहीं तो केवल गुण का प्रतिबिंब या ख़याल होता है, कहीं-कहीं केवल गुणी (वस्तु) का। कहीं इस का उस में और उस का इस में प्रतिबिंब या ख़याल होता है।

(१३) कल्पना करो कि एक स्फटिक का स्वच्छ ग्लास है और लाल मदिरा से परिपूर्ण है, तो यह ग्लास भी लाल निश्चित होगा। यहां ग्लास में केवल लालिमा (गुण) का प्रदर्शन है, गुणी का प्रदर्शन नहीं। क्योंकि ग्लास लाल है, ऐसा निश्चय होता है, यों नहीं निश्चय होता कि ग्लास मदिरा है तो ज्ञात हुआ कि मदिरा जो है, वह तो ग्लास के भीतर है और उस का गुण ग्लास में प्रकट हो रहा है और भिन्न गुणों से गुणी हो रहा है।

(१४) देखो, श्वेत वस्त्र को जब हल्दी में रंग कर तैयार करते हैं, तो यों निश्चय होता है कि कपड़ा पीला है, यों नहीं कहा

में और रजत का सीप में आभास है और सर्प और रजत तो प्रकट हुए हैं और रज्जु और सीप उन के द्योतक हैं।

(१०) फिर यों समझो कि आभास दो प्रकार का होता है, या तो प्रकाश्य अपने प्रकाशक में ही दिखाई देता है, उस से बाहर पाया नहीं जाता। या उस से बाहर भी पाया जाता है और उस में भी दिखाई देता है। उस पहले को कल्पना या ख़्याल और दूसरे को प्रतिबिंब कहा करते हैं। सर्प का रज्जु में और रजत का सीप में प्रकाशन काल्पनिक है और दर्पण में मुख का प्रदर्शन प्रतिबिंबी है।

(११) क्योंकि रज्जु में सर्प या सीप में रजत जो दिखाई देती है, अपने प्रकाशक से बाहर पाई नहीं जाती, इसलिये काल्पनिक है। और दर्पण में जो मुँह दिखाई देता है, दर्पण से बाहर देखने वाले की गर्दन में भी पाया जाता है, इसलिये कह सकते हैं कि उसी का प्रतिबिंब दर्पण में दिखाई देता है।

(१२) और फिर ये (आभास) बहुत प्रकार के होते हैं। कहीं-कहीं तो केवल गुण का प्रतिबिंब या ख़्याल होता है, कहीं-कहीं केवल गुणी (वस्तु) का। कहीं इस का उस में और उसका इस में प्रतिबिंब या ख़्याल होता है।

(१३) कल्पना करो कि एक स्फटिक का स्वच्छ ग्लास है और लाल मदिरा से परिपूर्ण है, तो यह ग्लास भी लाल निश्चित होगा। यहां ग्लास में केवल लालिमा (गुण) का प्रदर्शन है, गुणी का प्रदर्शन नहीं। क्योंकि ग्लास लाल है ऐसा निश्चय होता है, यों नहीं निश्चय होता कि ग्लास मदिरा है तो ज्ञात हुआ कि मदिरा जो है वह तो ग्लास के भीतर है और उस का गुण ग्लास में प्रकट हो रहा है और भिन्न गुणों से गुणी हो रहा है।

(१४) देखो, श्वेत वस्त्र को जब हल्दी में रंग कर तैयार करते हैं, तो यों निश्चय होता है कि कपड़ा पीला है, यों नहीं कहा

जिस गुण या गुणी से आभास पाया जाय, वहाँ-वहाँ उसी गुण या गुणी से उस आभास का नाम नियत करके उसके अगणित भेद जान लेवे। जैसे हम कह सकते हैं कि सर्प तो रज्जु में प्रकट है और रज्जु का अस्तित्व और लंबाई सर्प में प्रकट है; तो यहाँ रज्जु में सर्प के रूप का आभास है और सर्प में रज्जु के अस्तित्व का आभास है। इस प्रकार अस्तित्वहीन सर्प भिन्न अस्तित्व से विद्यमान होता है।

(१९) उपर्युक्त उदाहरण में सर्प की असलीयत (नाम रूप) तो काल्पनिक है, परंतु अस्तित्व प्रतिबिंबित है क्योंकि उसकी असलीयत रज्जु की असलीयत से भिन्न है और रज्जु में दिखाई देती है और रज्जु से बाहर पाई नहीं जाती। और यह नियत हो चुका है कि जहाँ अन्य का अन्य में आभास हो और वह उससे बाहर पाया न जाय, वह आभास काल्पनिक होता है। किंतु काल्पनिक मिथ्या होता है, कुछ अस्तित्व नहीं रखता, तो भी रज्जु का अस्तित्व भिन्न उसमें प्रकट होता है और उससे बाहर रज्जु में उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार दर्पण में देखा हुआ मुख भी अपनी गर्दन पर स्थिर पाते हैं, तो इस कारण (रज्जु के) अस्तित्व का आभास सर्प में प्रतिबिंबित है।

(२०) इस के अतिरिक्त इस काल्पनिक सर्प में अपना परिमाण भी नहीं है। वह भी भिन्न रज्जु का परिमाण उसमें प्रकट हुआ है। क्योंकि जितनी रज्जु लंबी होती है, उतना ही सर्प भी लंबा दिखाई देता है। तो सिद्ध हुआ कि रज्जु की लंबाई वास्तव में प्रतिबिंब की भाँति सर्प की लंबाई दिखाई देती है। इस प्रकार काल्पनिक सर्प भिन्न अस्तित्व और भिन्न परिमाण से विद्यमान और लंबा चौड़ा पाया जाता है।

(२१) इस प्रकार भाषाविदों को प्रत्येक वस्तु की खोज में जिज्ञासु होना चाहिए, और विवेचना के समय युक्तियों से ज्ञान

जिस गुण या गुणी से आभास पाया जाय, वहाँ-वहाँ उसी गुण या गुणी से उस आभास का नाम नियत करके उसके अगणित भेद जान लेवे। जैसे हम कह सकते हैं कि सर्प तो रज्जु में प्रकट है और रज्जु का अस्तित्व और लंबाई सर्प में प्रकट है; तो यहाँ रज्जु में सर्प के रूप का आभास है और सर्प में रज्जु के अस्तित्व का आभास है। इस प्रकार अस्तित्वहीन सर्प भिन्न अस्तित्व से विद्यमान होता है।

(१९) उपर्युक्त उदाहरण में सर्प की असलीयत (नाम रूप) तो काल्पनिक है, परंतु अस्तित्व प्रतिबिंबित है क्योंकि उसकी असलीयत रज्जु की असलीयत से भिन्न है और रज्जु में दिखाई देती है और रज्जु से बाहर पाई नहीं जाती। और यह नियत हो चुका है कि जहाँ अन्य का अन्य में आभास हो और वह उससे बाहर पाया न जाय, वह आभास काल्पनिक होता है। किंतु काल्पनिक मिथ्या होता है, कुछ अस्तित्व नहीं रखता, तो भी रज्जु का अस्तित्व भिन्न उसमें प्रकट होता है और उससे बाहर रज्जु में उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार दर्पण में देखा हुआ मुख भी अपनी गर्दन पर स्थिर पाते हैं, तो इस कारण (रसन के) अस्तित्व का आभास सर्प में प्रतिबिंबित है।

(२०) इस के अतिरिक्त इस काल्पनिक सर्प में अपना परिमाण भी नहीं है। वह भी भिन्न रज्जु का परिमाण उसमें प्रकट हुआ है। क्योंकि जितनी रज्जु लंबी होती है, उतना ही सर्प भी लंबा दिखाई देता है। तो सिद्ध हुआ कि रज्जु की लंबाई वास्तव में प्रतिबिंब की भाँति सर्प की लंबाई दिखाई देती है। इस प्रकार काल्पनिक सर्प भिन्न अस्तित्व और भिन्न परिमाण से विद्यमान और लंबा चौड़ा पाया जाता है।

(२१) इस प्रकार भाषाविदों को प्रत्येक वस्तु की खोज में जिज्ञासु होना चाहिए, और विवेचना के समय युक्तियों से जान

(२४) फिर इस हेतु कि जब हम जागते हैं, तो देखना भी होता है और करना भी होता है। इसलिये निश्चय हुआ कि करना तो उस कर्त्ता भोक्ता आत्मा का अपना काम है, जो निद्रा में भी करती थी और अब भी पूर्ववत् काम करती है, पर उसका देखना अपना नहीं, वरन् पराया है, जो जाग्रत के समय उसमें कल्पित होता है। और फिर यों भी निश्चय करते हैं कि वह जो देखता है करता नहीं, वरन् इस के काम उस में यहां कल्पित होते हैं।

(२५) और देखने वाली आत्मा हमारा अपना आप है, क्योंकि जब हम घन सुषुप्ति में होते हैं, तो जानते हैं, कि हम आराम में हैं। करना वास्तव में कष्ट है और कुछ न करना ही आनन्द है। और इस हेतु कि हम आराम का अनुभव भी निद्रा में पाते हैं, हमारा देखना निजी गुण उस समय भी विनाश नहीं होता। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्मा का केवल देखना अपना गुण है।

(२६) यह नहीं मान लेना चाहिये कि घन सुषुप्ति में हम आराम की दृष्टि नहीं रखते क्योंकि जब हम जागते हैं, तो निश्चय करते हैं कि हम दूसरों से बेख़बर और अपने आराम में थे। और बिना अनुभव के निश्चय होता नहीं इसलिये आवश्यक है कि जो बीती बात का निश्चय करता है, उस समय उसने उसे देखा है, नहीं तो वह उस समय निश्चय भी न करता।

(२७) यह बात सच है कि घनसुषुप्ति में यद्यपि हम दृष्टि रखते थे किंतु निश्चय नहीं, क्योंकि वहाँ हम अपने मन से अलग हो गए थे, और अब जाग्रत् में मन में आए, तो वहाँ की दृष्टि का निश्चय पाते हैं। इस बात से सिद्ध हुआ कि निश्चय तो आत्मा का धर्म नहीं केवल दृष्टि उस का धर्म है, अपितु निश्चय मन का धर्म है और वह भी एक शाखा इसी कर्त्ता

(२४) फिर इस हेतु कि अब हम जागते हैं, सो देखना भी होता है और करना भी होता है। इसलिये निश्चय हुआ कि करना तो उस कर्त्ता भोक्ता आत्मा का अपना काम है, जो निद्रा में भी करती थी और अब भी पूर्ववत् काम करती है, पर उसका देखना अपना नहीं, वरन् पराया है, जो जाग्रत के समय उसमें कल्पित होता है। और फिर यों भी निश्चय करते हैं कि वह जो देखता है करता नहीं, वरन् इस के काम उस में यहां कल्पित होते हैं।

(२५) और देखने वाली आत्मा हमारा अपना आप है, क्योंकि जब हम घन सुषुप्ति में होते हैं, तो जानते हैं कि हम आराम में हैं। करना वास्तव में कष्ट है और कुछ न करना ही आनन्द है। और इस हेतु कि हम आराम का अनुभव भी निद्रा में पाते हैं, हमारा देखना निजी गुण उस समय भी विनाश नहीं होता। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्मा का केवल देखना अपना गुण है।

(२६) यह नहीं मान लेना चाहिये कि घन सुषुप्ति में हम आराम की दृष्टि नहीं रखते क्योंकि जब हम जागते हैं, तो निश्चय करते हैं कि हम दूसरों से बेख़बर और अपने आराम में थे। और बिना अनुभव के निश्चय होता नहीं इसलिये आवश्यक है कि जो बीती बात का निश्चय करता है, उस समय उसने उसे देखा है, नहीं तो वह उस समय निश्चय भी न करता।

(२७) यह बात सच है कि घनसुषुप्ति में यद्यपि हम दृष्टि रखते थे किंतु निश्चय नहीं, क्योंकि वहाँ हम अपने मन से अलग हो गए थे, और जब जाग्रत् में मन में आए, तो वहाँ की दृष्टि का निश्चय पाते हैं। इस बात से सिद्ध हुआ कि निश्चय तो आत्मा का धर्म नहीं केवल दृष्टि उस का धर्म है, अपितु निश्चय मन का धर्म है और वह भी एक शाखा इसी कर्त्ता

हैं, तो भिन्न निश्चय और भिन्न समझें उस में जो वास्तव में अकर्ता है, अधिक आ जाती हैं। और उस दृष्टि से मिल कर वही समझें और पहचानें कहलाती हैं। फिर तो देखता और पहचानता प्रत्येक वस्तु से बुद्धिमान् कहलाता है।

(३१) यद्यपि जाग्रत् में अपनी दृष्टि से भिन्न समझें और निश्चय और विचार उसमें कल्पित आ जाते हैं, तो भी उसकी अपनी दृष्टि और अपने आराम का लोप नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि उन भिन्न समझों, भिन्न निश्चयों और भिन्न विचारों से, जो वास्तव में मन के व्यापार हैं, कष्ट भी उस में कल्पित होता है। और यह स्पष्ट है कि व्यापार ही वास्तव में कष्ट है, और उस का आराम यद्यपि दृष्टि की भाँति अपना आप है, उस से कभी भी पृथक् नहीं होता, तो भी इस कष्ट में मिला हुआ पाता है, जैसे मिसरी और सिरका की बनाई हुई सिकंजबीन में शुद्ध मिठाई नहीं होती, वरन् खट्टी-मिट्ठी प्रकट होती है।

(३२) फिर जब सुषुप्ति में जाता है, तो अपने से भिन्न कष्ट अपने आप उस से उतर जाता है। वहाँ तो अपने आराम को बिना कष्ट पाता है, इस लिये जागता हुआ निश्चय करता है कि मैं आनन्द में था। उसका तात्पर्य यह होता है कि वहाँ मुझे कोई कष्ट नहीं रहा था। जाग्रत् में अपने से भिन्न कष्ट में आया हुआ भी, यद्यपि वही आराम रखता है, पर कष्ट की मिलावट से उसे पाता हुआ भी नहीं पाता सा होता है, जैसा कि सिकंजबीन का चखने वाला मिठाई पाता हुआ भी नहीं पाता।

(३३) देखो, जब कोई इच्छित वस्तु होती है, और उसे नहीं पाता, तो उसकी इच्छा मन में पाता है। और यह इच्छा भी एक इंद्रियों की गति है, जो कष्ट है। और वह आनन्द जो उसका अपना आप है, उसमें गुप्त होता जाता है। किंतु जब वह चाही वस्तु किसी प्रकार से मिल जाती है, तो वह इच्छा

हैं, तो भिन्न निश्चय और भिन्न समझें उस में जो वास्तव में अकर्ता है, अधिक आ जाती हैं। और उस दृष्टि से मिल कर वही समझें और पहचानें कहलाती हैं। फिर तो देखता और पहचानता प्रत्येक वस्तु से बुद्धिमान् कहलाता है।

(३१) यद्यपि जाग्रत् में अपनी दृष्टि से भिन्न समझें और निश्चय और विचार उसमें कल्पित आ जाते हैं, तो भी उसकी अपनी दृष्टि और अपने आराम का लोप नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि उन भिन्न समझों, भिन्न निश्चयों और भिन्न विचारों से, जो वास्तव में मन के व्यापार हैं, कष्ट भी उस में कल्पित होता है। और यह स्पष्ट है कि व्यापार ही वास्तव में कष्ट है, और उस का आराम यद्यपि दृष्टि की भाँति अपना आप है, उस से कभी भी पृथक् नहीं होता, तो भी इस कष्ट में मिला हुआ पाता है, जैसे मिसरी और सिरका की बनाई हुई सिकंजबीन भी शुद्ध मिठाई नहीं होती, वरन् खट्टी-मिट्ठी प्रकट होती है

(३२) फिर जब सुषुप्ति में जाता है, तो अपने से भिन्न कष्ट अपने आप उस से उतर जाता है। वहाँ तो अपने आराम को बिना कष्ट पाता है, इस लिये जागता हुआ निश्चय करता है कि मैं आनन्द में था। उसका तात्पर्य यह होता है कि वहाँ मुझे कोई कष्ट नहीं रहा था। जाग्रत् में अपने से भिन्न कष्ट में आया हुआ भी यद्यपि वही आराम रखता है, पर कष्ट की मिलावट से उसे पाता हुआ भी नहीं पाता सा होता है, जैसा कि सिकंजबीन का चखने वाला मिठाई पाता हुआ भी नहीं पाता।

(३३) देखो, जब कोई इच्छित वस्तु होती है, और उसे नहीं पाता, तो उसकी इच्छा मन में पाता है। और यह इच्छा भी एक इंद्रियों की गति है, जो कष्ट है। और यह आनन्द जो उसका अपना आप है, उसमें गुप्त होता जाता है। किंतु जब वह चाही वस्तु किसी प्रकार से मिल जाती है, तो वह इच्छा

स्तमात-आनंद भी यद्यपि अविनाशी है, पर प्रकट नहीं होता।

(२६) विषयों का भोगना दो प्रकार का है, या तो अनुकूल या प्रतिकूल। वह जो अनुकूल हैं उन के मिलने से तो मन की सुखरूप वृत्तियां उठती है और अपना आनंद उनमें प्रकट होता है; और प्रतिकूल मिलने से पीड़ा और दुख शोक रूप मानसिक वृत्तियाँ उठती हैं जो उस आराम को ढाँपती और उस के प्रकट होने को रोकती हैं। इसलिये अंतःकरण की वृत्ति भी दो प्रकार की है—कोमल या अकोमल। वह जो कोमल है, सुख रूप वृत्तियाँ हैं और वह जो अकोमल हैं, दुख रूप वृत्तियां हैं।

(२७) किंतु आराम तो उसका अपना आप है, जैसे कि दृष्टि भी उस का अपना आप है। और यह सब सुख-दुख-रूप वृत्तियाँ भी उसी प्रकार भिन्न भिन्न उसमें कल्पित हैं जैसा कि निश्चय व विचार-रूप भिन्न मनोवृत्तियाँ भी उस में कल्पित हैं। और यह सब उसी कर्त्ता भोक्ता आत्मा की शाखाएँ हैं जिस को पृथक दर्शाने का हम यत्न कर रहे हैं।

(२८) अनुकूल विषयों के मिलने से यद्यपि सुख और आनंद आ जाता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, तो भी वह शुद्धानंद नहीं जैसा कि हलवा भी शुद्ध मिठाई नहीं, वरन् जिस प्रकार मैदा और घी का फीकापन भी उस में मिला हुआ है, उसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियाँ भी इनमें कष्ट रूप मिली होती हैं, और फिर इस हेतु कि ये कर्त्ता भोक्ता आत्मा के व्यापार हैं, भिन्न हैं, अपने नहीं जो अभाव न हों। और यह आवश्यक है कि भिन्न अंत समय तक अपने पास नहीं रहता, वरन् अंततः पृथक् होता है और अभाव हो जाता है, इसलिये यह भी अनंत नहीं।

(२९) वरन् जिन विषयों के मिलने से यह वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं तक रहती हैं, और अधिक भोग के कारण चाहे विषय दूर भी न हों, तो भी चाव जाता रहता है, और उनकी

वर्तमान आनंद भी यद्यपि अविनाशी है, पर प्रकट नहीं होता।

(२६) विषयों का भोगना दो प्रकार का है, या तो अनुकूल या प्रतिकूल। वह जो अनुकूल हैं उन के मिलने से तो मन की सुखरूप वृत्तियां उठती हैं और अपना आनंद उनमें प्रकट होता है; और प्रतिकूल मिलने से पीड़ा और दुख शोक रूप मानसिक वृत्तियाँ उठती हैं जो उस आराम को ढाँपती और उस के प्रकट होने को रोकती हैं। इसलिये अंतःकरण की वृत्ति भी दो प्रकार की है—कोमल या अकोमल। वह जो कोमल है, सुख रूप वृत्तियाँ हैं और वह जो अकोमल हैं, दुख रूप वृत्तियां हैं।

(२७) किन्तु आराम तो उसका अपना आप है, जैसे कि दृष्टि भी उस का अपना आप है। और यह सब सुख-दुख-रूप वृत्तियाँ भी उसी प्रकार भिन्न भिन्न उसमें कल्पित हैं जैसा कि निश्चय व विचार-रूप भिन्न मनोवृत्तियाँ भी उस में कल्पित हैं। और यह सब उसी कर्त्ता भोक्ता आत्मा की शाखाएँ हैं जिस को पृथक दर्शाने का हम यत्न कर रहे हैं।

(२८) अनुकूल विषयों के मिलने से यद्यपि सुख और आनंद आ जाता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, तो भी वह शुद्धानंद नहीं जैसा कि हलवा भी शुद्ध मिठाई नहीं, वरन् जिस प्रकार मैदा और घी का फीकापन भी उस में मिला हुआ है, उसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियाँ भी इनमें कष्ट रूप मिली होती हैं, और फिर इस हेतु कि ये कर्त्ता भोक्ता आत्मा के व्यापार हैं, भिन्न हैं, अपने नहीं जो अभाव न हों। और यह आवश्यक है कि भिन्न अंत समय तक अपने पास नहीं रहता, वरन् अंततः पृथक् होता है और अभाव हो जाता है, इसलिये यह भी अनंत नहीं।

(२९) वरन् जिन विषयों के मिलने से यह वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं तक रहती हैं, और अधिक भोग के कारण चाहे विषय दूर भी न हों, तो भी चाव जाता रहता है, और उनकी

तो फिर विषय के मिलने या न मिलने से सुख या दुख नहीं पाता, वरन् एकाँत में एकाँतस्थित होकर नेत्र मूंद कर उन सब मनोवृत्तियों को रोकता है।

(४८) जब अभ्यास से उसकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं, और किसी निश्चय या विचार या सुख या दुःख की वृत्ति में भी मन मौज नहीं मारता, तो स्वयं मन भी स्वच्छ दर्पण की भाँति हो जाता है, और वही अपना आनंद उसमें प्रकट होता है, और अपनी दृष्टि भी उस में प्रकट होती है। उस समय शुद्धानंद प्रत्यक्ष प्रकट पाता है जो परमानंद कहलाता है, और इसी को साधारण लोग समाधि कहते हैं।

(४९) विषयों के मिलने से तो बिजली की तरह सुख और आनंद की वृत्तियाँ उठती हैं और बिजली की तरह आराम प्रकट होता है। पर समाधि में बिना विषयों के जब मन स्थिर हो जाता है, तो उसी तरह यह आनंद प्रकट होता है जैसे कि जल-पूर्ण कुंड में जब निर्मल जल स्थिर होता है, और सूर्य अपने आप उस में दिखाई देता है। विषयों के भोग से सुख तो पलक झलक में पाता था, यहाँ जब तक वह मनको रोके रखता है, तब तक पाता है। और वहाँ शुद्धाराम नहीं पाता क्योंकि लहरों में भी यद्यपि सूर्य का चमत्कार झाँकी देता है, तो भी पूरे सूर्य की झाँकी नहीं होती, वरन् आँख को उसकी झलक दिखाई देती है। यहाँ स्थिर जल में तो उसकी पूरी झाँकी होती है और उसे देर तक पाता है।

(५०) फिर इस हेतु कि विषयों का मिलना उसके अधिकार में नहीं होता, वरन् प्रारब्ध पर होता है और यहाँ तो मन का रोकना अपने अधिकार में होता है, जब चाहे उसे रोक सकता है, इसलिये वह तो विषयों की खोज में कष्ट उठाता भाँति-भाँति के दुख-शोक में ग्रस्त होता है फिर भी आवश्यक नहीं कि उसे

तो फिर विषय के मिलने या न मिलने से सुख या दुख नहीं पाता, वरन् एकांत में एकांतस्थित होकर नेत्र मूंद कर उन सब मनोवृत्तियों को रोकता है।

(४८) जब अभ्यास से उसकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं, और किसी निश्चय या विचार या सुख वा दुःख की वृत्ति में भी मन मौज नहीं मारता, तो स्वयं मन भी स्वच्छ दर्पण की भाँति हो जाता है, और यही अपना आनंद उसमें प्रकट होता है, और अपनी दृष्टि भी उस में प्रकट होती है। उस समय शुद्धानंद प्रत्यक्ष प्रकट पाता है जो परमानंद कहलाता है, और इसी को साधारण लोग समाधि कहते हैं।

(४९) विषयों के मिलने से तो बिजली की तरह सुख और आनंद की वृत्तियाँ उठती हैं और बिजली की तरह आराम प्रकट होता है। पर समाधि में बिना विषयों के जब मन स्थिर हो जाता है, तो उसी तरह यह आनंद प्रकट होता है जैसे कि जल-पूर्ण कुंड में जब निर्मल जल स्थिर होता है, और सूर्य अपने आप उस में दिखाई देता है। विषयों के भोग से सुख तो पलक झलक में पाता था, यहाँ जब तक वह मनको रोके रखता है, तब तक पाता है। और वहाँ शुद्धाराम नहीं पाता क्योंकि लहरों में भी यद्यपि सूर्य का चमकारा झाँकी देता है, तो भी पूरे सूर्य की झाँकी नहीं होती, वरन् आँख को उसकी झलक दिखाई देती है। यहां स्थिर जल में तो उसकी पूरी झाँकी होती है और उसे देर तक पाता है।

(५०) फिर इस हेतु कि विषयों का मिलना उसके अधिकार में नहीं होता, वरन् प्रारब्ध पर होता है और यहाँ तो मन का रोकना अपने अधिकार में होता है, जब चाहे उसे रोक सकता है, इसलिये वह तो विषयों की खोज में कष्ट उठाता भाँति-भाँति के दुख-शोक में ग्रस्त होता है फिर भी आवश्यक नहीं कि उसे

वरन् बहुधा जब तीक्ष्ण ज्वर होता है, तो अच्छे भोजन कड़वे होते हैं और स्त्रियों की चटक मटक बुरी लगती है, नपुंसक मनुष्य स्त्री की निकटता से कुछ भी आनंद नहीं पाता। तो ज्ञात हुआ कि न तो भोजनों में न वस्त्रों में और न स्त्रियों के सहवास में आनंद है, आनंद तो अपने आप में है। ये सब (विषय) किसी विशेष कारण से उन वृत्तियों की तरंगों के लिये हेतु हैं। जब वह वृत्तियां उठती हैं, तो अपना आनंद उन में प्रकट हुआ विविध रूपों में आनंद वाला हो जाता है।

(४९) विवेचना करने से सिद्ध हुआ है कि जब वीर्य का आवेग होता है और युवावस्था का स्वास्थ्य होता है, तो वीर्य के स्रोत में एक गुदगुदी होती है जिससे वह शुक्रपात करे और यह गुदगुदी उसी प्रकार की वेदना या कष्ट है जो गर्भिणी स्त्री को बच्चा प्रसव करते समय होती है। क्योंकि हम लिख चुके हैं कि बच्चा वीर्य रूप होकर पहले पिता में गर्भित होता है और माता के उदर में सींचा हुआ पहला जन्म पाता है और स्त्री में बोया जाता है। तो स्पष्ट है कि जिस तरह स्त्री का गर्भ निकलने की चेष्टा करता है और उसे कष्ट देता है और उसके पूर्ण करने के लिये दाया की आवश्यकता होती है, उसी तरह पुरुष में भी जब वह जन्म चाहता है, तो उसके वीर्य-स्रोत में गुदगुदी करता है और स्त्री की मांग करता है जो उसे पूर्ण कर सकती है।

(५०) पर स्त्री की कुक्षि में इस वेदना को प्रसव-पीड़ा बोलते हैं और पुरुष में इसी को कामोत्तेजन कहते हैं। वास्तव में यह कष्ट एक ही प्रकार का है। फिर स्त्री में भी आर्तव के पश्चात् वीर्य के ग्रहण की इच्छा उसी तरह होती है जैसा कि क्षुधा के समय भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, और इस ग्रहण की इच्छा को भी काम (वा विषय-वासना) बोलते हैं, और वह स्त्री भी इस इच्छा के पूरा होने के लिये पुरुष को चाहती है।

वरन् बहुधा जब तीक्ष्ण ज्वर होता है, तो अच्छे भोजन कडुवे होते हैं और स्त्रियों की चटक मटक बुरी लगती है, नपुंसक मनुष्य स्त्री की निकटता से कुछ भी आनंद नहीं पाता। तो ज्ञात हुआ कि न तो भोजनों में न वस्त्रों में और न स्त्रियों के सहवास में आनंद है, आनंद तो अपने आप में है। ये सब (विषय) किसी विशेष कारण से उन वृत्तियों की तरंगों के लिये हेतु हैं। जब यह वृत्तियां उठती हैं, तो अपना आनंद उन में प्रकट हुआ विविध रूपों में आनंद वाला हो जाता है।

(४९) विवेचना करने से सिद्ध हुआ है कि जब वीर्य का आवेग होता है और युवावस्था का स्वास्थ्य होता है, तो वीर्य के स्रोत में एक गुदगुदी होती है जिसमें वह शुक्रपात करे और यह गुदगुदी उसी प्रकार की वेदना या कष्ट है जो गर्भिणी स्त्री को बच्चा प्रसव करते समय होती है। क्योंकि हम लिख चुके हैं कि बच्चा वीर्य रूप होकर पहले पिता में गर्भित होता है और माता के उदर में सींचा हुआ पहला जन्म पाता है और स्त्री में बोया जाता है। तो स्पष्ट है कि जिस तरह स्त्री का गर्भ निकलने की चेष्टा करता है और उसे कष्ट देता है और उसके पूर्ण करने के लिये दाया की आवश्यकता होती है, उसी तरह पुरुष में भी जब वह जन्म चाहता है, तो उसके वीर्य-स्रोत में गुदगुदी करता है और स्त्री की मांग करता है जो उसे पूर्ण कर सकती है।

(५०) पर स्त्री की कुक्षि में इस वेदना को प्रसव-पीड़ा बोलते हैं और पुरुष में इसी को कामोत्तेजन कहते हैं। वास्तव में यह कष्ट एक ही प्रकार का है। फिर स्त्री में भी आर्तव के पश्चात् वीर्य के ग्रहण की इच्छा उसी तरह होती है जैसा कि क्षुधा के समय भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, और इस ग्रहण की इच्छा को भी काम (वा विषय-वासना) बोलते हैं, और वह स्त्री भी इस इच्छा के पूरा होने के लिये पुरुष को चाहती है।

हुआ कि विषयों के आनंद में दुख और क्लेश पहले है औ उन्हीं के दूर करने के लिये विषय की चाहना है। जब वह दू होते हैं, तो अपनी-अपनी शांत-वृत्ति में अपने ही आराम क झलक प्रकट होती है, विषयों में कुछ भी आनंद नहीं है।

(५४) क्योंकि जब तक वह भूख या प्यास-रूपी पीड़ाओं में बद्ध नहीं होता, तो खान-पान की वस्तुओं से स्वाद नहीं पाता। और जब स्त्री की कुक्षि भी वीर्य रूप आहार से भूखी नहीं होती तो वह भी पुरुष से आनन्द नहीं पाती, और पुरुष भी जब तक अपने वीर्य-स्रोत में गुदगुदी की पीड़ा में व्यस्त नहीं होता, स्त्री से आनन्द नहीं पाता। इस कारण सिद्ध होता है कि विषयों का आनंद विशुद्ध नहीं, वरन् पीड़ा और कष्ट में मिला हुआ है। जो कोई उनसे स्वाद ढूंढता है, साथ ही पीड़ा और कष्ट को ढूंढता है।

(५५) और भी बहुत-से कारण हैं जिनसे सिद्ध हो सकता है कि विषयानन्द के आरंभ और अंत में बड़े-बड़े दुख और पीड़ा हैं, क्योंकि खाने-पीने की वस्तुओं से जो आनंद है, आरंभ में तो भूख और प्यास-रूप दुख है और अंत में दुर्बलता और अजीर्ण है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के एकत्र होने में भी आरंभ में तो वीर्य की गुदगुदी और वीर्य-ग्रहण की इच्छा है, और अंत में स्त्री को गर्भ के कष्ट और पुरुष को दुर्बलता है। इसके अति-रिक्त शास्त्र के विरुद्ध बात हो, तो लोक और परलोक के पाप होते हैं जिसमें लोक और परलोक के दंड मिलते हैं। इस लिये बुद्धिमान् उसे विषयों से नहीं, वरन् दूसरे कारणों से, जो अपने अधिकार में और शास्त्रीय हैं, चाहते और पाते हैं, और इन विषयों में दोष देखते हुए ध्यान नहीं करते।

(५६) कदाचित् भाषाविद् यों पूछे कि ये आनंद दूसरे प्रकार से भी बिना विषयों के किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं

हुआ कि विषयों के आनंद में दुख और क्लेश पहले है और उन्हीं के दूर करने के लिये विषय की चाहना है। जब वह दूर होते हैं, तो अपनी-अपनी शांत-वृत्ति में अपने ही आराम की झलक प्रकट होती है, विषयों में कुछ भी आनंद नहीं है।

(५४) क्योंकि जब तक वह भूख या प्यास-रूपी पीड़ाओं में बद्ध नहीं होता, तो खान-पान की वस्तुओं से स्वाद नहीं पाता। और जब स्त्री की कुक्षि भी वीर्य रूप आहार से भूखी नहीं होती, तो वह भी पुरुष से आनन्द नहीं पाती, और पुरुष भी जब तक अपने वीर्य-स्रोत में गुदगुदी की पीड़ा में व्यस्त नहीं होता, स्त्री से आनन्द नहीं पाता। इस कारण सिद्ध होता है कि विषयों का आनंद विशुद्ध नहीं, वरन् पीड़ा और कष्ट में मिला हुआ है। जो कोई उनसे स्वाद ढूंढता है, साथ ही पीड़ा और कष्ट को ढूंढता है।

(५५) और भी बहुत-से कारण हैं जिनसे सिद्ध हो सकता है कि विषयानन्द के आरंभ और अंत में बड़े-बड़े दुख और पीड़ा हैं, क्योंकि खाने-पीने की वस्तुओं से जो आनंद है, आरंभ में तो भूख और प्यास-रूप दुख है और अंत में दुर्बलता और अजीर्ण है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के एकत्र होने में भी आरंभ में तो वीर्य की गुदगुदी और वीर्य-ग्रहण की इच्छा है, और अंत में स्त्री को गर्भ के कष्ट और पुरुष को दुर्बलता है। इसके अतिरिक्त शास्त्र के विरुद्ध बात हो, तो लोक और परलोक के पाप होते हैं जिसमें लोक और परलोक के दंड मिलते हैं। इस लिये बुद्धिमान् उसे विषयों से नहीं, वरन् दूसरे कारणों से, जो अपने अधिकार में और शास्त्रीय हैं, चाहते और पाते हैं, और इन विषयों में दोष देखते हुए ध्यान नहीं करते।

(५६) कदाचित् भाषाविद् यों पूछे कि, ये आनंद दूसरे प्रकार से भी बिना विषयों के किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं

होता है जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है।

(५९) इस प्रकार चित्त के एकाग्र होने के कारण (चाहे वह भोग से स्वाभाविक रीति से हो, चाहे वह योग के द्वारा संकल्प की रीति से हो) बराबर दोनों की चित्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं, किसी बात में मन तरंग नहीं मारता है, और शान्त आत्मा का पूरा प्रतिबिंब ग्रहण करता है। भोगी तो उसे भोग में और योगी योग में पा जाता है। वही आनन्द जो भोगी स्त्री के भोग में पाता है, वही आनंद योगी बिना स्त्री की सहायता के योग में मुफ्त उठाता है।

(६०) वरन् भोगी तो दुख-शोक और दुर्बलता से मिला हुआ पाता है, योगी न तो वीर्य की गुदगुदी के आरंभ में वेदना रखता है, न अङ्ग में दुर्बलता पाता है, अपितु अपेक्षाकृत शुद्ध पाता है। और फिर भोगी तो जब तक वीर्य नहीं निकलता पाता है, और वीर्य का पतन उस के अधिकार में नहीं वरन् बल के अधिकार में है, और योगी का योग तो उस के संकल्प के अधिकार में है, इसलिए भी अन्तर है। और यह स्पष्ट है कि जो उस आनन्द में अधिकार नहीं रखता कि जहाँ तक चाहे पावे, स्वाधीन की अपेक्षा दोषी है, पूर्ण नहीं। इसलिए भोगी का भोग दोषपूर्ण और योगी का योग पूर्ण है।

(६१) इस बात में तर्क नहीं करना चाहिये कि भोग के समय ही भोगी को आनंद है, क्योंकि हम युवकों को देखते हैं कि वैद्यों से स्तम्भन (वीर्यपुष्टि) की औषधियाँ मांगते हैं और सिद्ध करते हैं कि भोग तक ही आनंद है, और वह चाहते हैं कि अधिक समय तक रहे, पर ऐसा नहीं हो सकता।

(६२) क्या वह उष्ट्र आदि पशुओं की समता करना नहीं चाहते जो स्तम्भन (वीर्यपुष्टि) की इच्छा करते हैं? ऐ भाइयो! भोग वास्तव में पशुओं का धर्म है, मनुष्यों का गुण नहीं।

होता है जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है।

(५९) इस प्रकार चित्त के एकाग्र होने के कारण (चाहे वह भोग से स्वाभाविक रीति से हो, चाहे वह योग के द्वारा संकल्प की रीति से हो) बराबर दोनों की चित्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं, किसी बात में मन तरंग नहीं मारता है, और शान्त आत्मा का पूरा प्रतिबिंब ग्रहण करता है। भोगी तो उसे भोग में और योगी योग में पा जाता है। वही आनन्द जो भोगी स्त्री के भोग में पाता है, वही आनंद योगी बिना स्त्री की सहायता के योग में मुफ्त उठाता है।

(६०) वरन् भोगी तो दुख-शोक और दुर्बलता से मिला हुआ पाता है, योगी न तो वीर्य की गुदगुदी के आरंभ में वेदना रखता है, न अङ्ग में दुर्बलता पाता है, अपितु अपेक्षाकृत शुद्ध पाता है। और फिर भोगी तो जब तक वीर्य नहीं निकलता पाता है, और वीर्य का पतन उस के अधिकार में नहीं वरन् बल के अधिकार में है, और योगी का योग तो उस के संकल्प के अधिकार में है, इसलिए भी अन्तर है। और यह स्पष्ट है कि जो उस आनन्द में अधिकार नहीं रखता कि जहाँ तक चाहे पावे, स्वाधीन की अपेक्षा दोषी है, पूर्ण नहीं। इस लिए भोगी का भोग दोषपूर्ण और योगी का योग पूर्ण है।

(६१) इस बात में तर्क नहीं करना चाहिये कि भोग के समय ही भोगी को आनंद है, क्योंकि हम युवकों को देखते हैं कि वैद्यों से स्तम्भन (वीर्यपुष्टि) की औषधियाँ मांगते हैं और सिद्ध करते हैं कि भोग तक ही आनंद है, और वह चाहते हैं कि अधिक समय तक रहे, पर ऐसा नहीं हो सकता।

(६२) क्या वह उष्ट्र आदि पशुओं की समता करना नहीं चाहते जो स्तम्भन (वीर्यपुष्टि) की इच्छा करते हैं? ऐ भाइयो! भोग वास्तव में पशुओं का धर्म है, मनुष्यों का गुण नहीं।

भी रुकती हैं। उसे सर्वसाधारण नशा बोलते हैं। जितना नशा अधिक करते हैं, उतना ही मन अधिक रुकता जाता है, यहाँ तक कि अन्ततः वह अचेत हो जाते हैं और शरीर तक की भी खबर नहीं पाते। और हम देखते हैं कि मदिरा पीते समय मूर्ख जब तक अचेत नहीं हो जाते, प्याले पर प्याला मांगते हैं। अतः स्पष्ट हुआ कि ज्यों-ज्यों बेखबरी होती जाती है, त्यों-त्यों वह आनन्द में उन्नति पाते जाते हैं। ये लोग भी यदि मन का निरोध नहीं चाहते तो और क्या चाहते हैं? और मन के निरोध पर ही पूर्णानन्द नहीं, तो किस में है? और यह भी स्पष्ट है कि जैसा योग में मन रुकता है, वैसा मदिरा और स्त्री-भोग में नहीं रुकता। और फिर मदिरा और भोग में यद्यपि मन रुकता है, परंतु गँदला होता है, शुद्ध नहीं होता। योग में तो केवल सतोगुण से स्वच्छ जल की तरह होता है।

(६५) और यह स्पष्ट है कि कुण्ड का जल यद्यपि स्थिर है, पर निर्मल जल में जो सूर्य का प्रतिबिंब पड़ता है, वैसा गँदले में नहीं पड़ता। मदिरा और भोग में रजोगुण और तमोगुण की मिलावट रहती है, योग में केवल सतोगुण। इसलिये स्त्री और मद्य का भोग जो आनन्द देता है वह मैला और गँदला है, और योग का निर्मल। इसलिये भोग में यद्यपि आनन्द है, पर योग में परमानन्द है, और यह अपना आप जो स्थिर और निर्मल मन ही में प्रकट होता है, चाहे वह विषयों के द्वारा हो, चाहे वह योग से हो।

(६६) इसलिये ज्ञात हुआ कि विषयों में भी इसी परमानंद के बिंदु हैं जो किसी कारण से उन के भोगों में भोगे जाते हैं। और यह जो अनजान हैं, उन्ही बिंदुओं पर अपनी जान खोते हैं, जैसे कुत्ते भी हड्डी पर लड़ते हैं, पर परमानन्द तो मुख्य योगी उठाते हैं। न तो उन्हें जग में कोई झगड़ा है, न कोई ख़ट

भी रुकती हैं। उसे सर्वसाधारण नशा बोलते हैं। जितना वह अधिक करते हैं, उतना ही मन अधिक रुकता जाता है, यहाँ तक कि अन्ततः वह अचेत हो जाते हैं और शरीर तक की भी ख़बर नहीं पाते। और हम देखते हैं कि मदिरा पीते समय मूर्ख जब तक अचेत नहीं हो जाते, प्याले पर प्याला मांगते हैं। अतः स्पष्ट हुआ कि ज्यों-ज्यों बेखबरी होती जाती है, त्यों-त्यों वह आनन्द में उन्नति पाते जाते हैं। ये लोग भी यदि मन का निरोध नहीं चाहते तो और क्या चाहते हैं? और मन के निरोध पर ही पूर्णानन्द नहीं, तो किस में है? और यह भी स्पष्ट है कि जैसा योग में मन रुकता है, वैसा मदिरा और स्त्री-भोग में नहीं रुकता। और फिर मदिरा और भोग में यद्यपि मन रुकता है, परंतु गँदला होता है, शुद्ध नहीं होता। योग में तो केवल सतोगुण से स्वच्छ जल की तरह होता है।

(६५) और यह स्पष्ट है कि कुण्ड का जल यद्यपि स्थिर है, पर निर्मल जल में जो सूर्य का प्रतिबिंब पड़ता है, वैसा गँदले में नहीं पड़ता। मदिरा और भोग में रजोगुण और तमोगुण की मिलावट रहती है, योग में केवल सतोगुण। इसलिये स्त्री और मद्य का भोग जो आनन्द देता है वह मैला और गँदला है, और योग का निर्मल। इसलिये भोग में यद्यपि आनन्द है, पर योग में परमानन्द है, और यह अपना आप जो स्थिर और निर्मल मन ही में प्रकट होता है, चाहे वह विषयों के द्वारा हो, चाहे वह योग से हो।

(६६) इसलिये ज्ञात हुआ कि विषयों में भी इसी परमानंद के बिंदु हैं जो किसी कारण से उन के भोगों में भोगे जाते हैं। और वह जो अनजान हैं, उन्हीं बिंदुओं पर अपनी जान खोते हैं, जैसे कुत्ते भी हड्डी पर लड़ते हैं, पर परमानन्द तो मुफ़्त योगी उड़ाते हैं। न तो उन्हें उस में कोई झगड़ा है, न कोई खटक

विचार रहते हैं और न इंद्रियां। यदि वह भी होतीं, तो आँख देखती, कान सुनता, जिह्वा बोलती। पर उस समय कोई भी उन के काम नहीं होते। तो ज्ञात हुआ कि इन सब में जाग्रत् काल में भिन्न अस्तित्व इसी आत्मा का था, और इसी के पृथक् होने से वह कुछ भी न रहे।

(७०) यद्यपि सुषुप्ति में न तो इंद्रिय न मन, और न उस की वृत्तियां रहती हैं, तो भी पञ्च प्राण विद्यमान होते हैं। क्योंकि सोया हुआ मनुष्य श्वास बराबर लेता है और भीतर नाड़ियाँ चलती रहती हैं और भोजन पचते रहते हैं, और यदि यह प्राण विद्यमान न रहते, तो यह काम भी बंद हो जाते। इस से ज्ञात हुआ कि वह सोच समझ रूप ज्ञान-इन्द्रियाँ तो जाती रहती हैं, और ये दूसरी कर्म करने की आत्माएँ (पञ्च प्राण) विद्यमान रहती हैं, जिस से शरीर की रक्षा और पालन रहे।

(७१) किंतु जिस प्रकार उस का अस्तित्व उन मानसिक अवस्थाओं में कल्पित है, उसी तरह इन पंच प्राणों में भी कल्पित है, उन का अपना नहीं है, क्योंकि अपना अस्तित्व अपना आप होता है, और अपना आप अपने से अलग नहीं हो सकता। यदि उन में अपना अस्तित्व होता, तो वह भी विद्यमान होते और शरीर में अनंत कालिक काम करते और शरीर का अनंत-कालिक जीवन होता, परंतु मृत्यु में ये सब जाते रहते हैं, इसलिये ज्ञात हुआ कि उन में भी अपना अस्तित्व नहीं वरन् भिन्न है, क्योंकि भिन्न अनंत-काल तक पास नहीं रहता, अंततः पृथक् हो जाता है।

(७२) जीवन में भी उनमें दोष और हानि पाई जाती है। जब पाचन दूषित होता है, तो प्रायः उत्तम भोजन नहीं पचता। जब यौवन अवस्था हो चुकती है, तो फिर अभिवृद्धि शक्ति काम नहीं करती, वरन् बुढ़ापे में शरीर घट कर, जीर्ण हो जाता है।

विचार रहते हैं और न इंद्रियां। यदि वह भी होतीं, तो आँख देखती, कान सुनता, जिह्वा बोलती। पर उस समय कोई भी उन के काम नहीं होते। तो ज्ञात हुआ कि इन सब में जाग्रत् काल में भिन्न अस्तित्व इसी आत्मा का था, और इसी के पृथक् होने से वह कुछ भी न रहे।

(७०) यद्यपि सुषुप्ति में न तो इंद्रिय न मन, और न उस की वृत्तियां रहती हैं, तो भी पञ्च प्राण विद्यमान होते हैं। क्योंकि सोया हुआ मनुष्य श्वास बराबर लेता है और भीतर नाड़ियाँ चलती रहती हैं और भोजन पचते रहते हैं, और यदि यह प्राण विद्यमान न रहते, तो यह काम भी बंद हो जाते। इस से ज्ञात हुआ कि वह सोच समझ रूप ज्ञान-इन्द्रियाँ तो जाती रहती हैं, और ये दूसरी कर्म करने की आत्माएँ (पञ्च प्राण) विद्यमान रहती हैं, जिस से शरीर की रक्षा और पालन रहे।

(७१) किंतु जिस प्रकार उस का अस्तित्व उन मानसिक अवस्थाओं में कल्पित है, उसी तरह इन पंच प्राणों में भी कल्पित है, उन का अपना नहीं है, क्योंकि अपना अस्तित्व अपना आप होता है, और अपना आप अपने से अलग नहीं हो सकता। यदि उन में अपना अस्तित्व होता, तो वह भी विद्यमान होते और शरीर में अनंत कालिक काम करते और शरीर का अनंत-कालिक जीवन होता, परंतु मृत्यु में ये सब जाते रहते हैं, इसलिये ज्ञात हुआ कि उन में भी अपना अस्तित्व नहीं वरन् भिन्न है, क्योंकि भिन्न अनंत-काल तक पास नहीं रहता, अंततः पृथक् हो जाता है।

(७२) जीवन में भी उनमें दोष और हानि पाई जाती है। जब पाचन दूषित होता है, तो प्रायः उत्तम भोजन नहीं पचता। जब यौवन अवस्था हो चुकती है, तो फिर अभिवृद्धि शक्ति काम नहीं करती, वरन् बुढ़ापे में शरीर घट कर जीर्ण हो जाता है।

अपने सुख को और साथ ही दृष्टि को निश्चय करे।

(७५) परन्तु जब जाग्रत् होती है, तो भिन्न मन का निश्चय पाता है। उस समय अपनी सुषुप्ति की सत्यता को निश्चय करता है कि मैं आराम में था, दूसरा कोई भी मेरे साथ न था, इसी कारण अचेत और अनजान था। और यह स्पष्ट है कि जो देखा जाता है, उसी का निश्चय होता है। सुषुप्ति में वह अपना आनन्द देखता था, और यही प्रासव्य है।

(७६) अब पूछते हैं कि वह समझ और ज्ञान की वृत्तियाँ सुषुप्ति में कहां गई थी? तो तनिक विचार करने से जान सकता है कि सब इसमें उसी प्रकार लय हो गई थी जिस प्रकार सर्प का अस्तित्व भी रज्जु में लय हो जाता है और रज्जु ही रज्जु दिखाई देती है, सर्प कुछ भी नहीं दिखाई देता। किंतु जाग्रत् में जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं करता, तब तक ये क्रियायें उसी प्रकार प्रकट होती है जिस प्रकार रज्जु में सर्प प्रकट होता है, जबतक कि रज्जु प्रत्यक्ष नहीं करता।

(७७) वरन् ऐसा कह सकते हैं कि जाग्रत् में वह क्रियाएँ यों ही भासमान होती हैं जिस प्रकार सीप में रजत भासमान होता है। और यह पहले सिद्ध कर चुके हैं कि यह आत्मा स्वयं द्रष्टा है, और अब सिद्ध हुआ कि अन्य आत्माएँ केवल आभास मात्र हैं, इस कारण जाग्रत् और स्वप्न में जो संसार दिखाई देता है, केवल दृष्टिरेव सृष्टि है; दृष्टिरेव सृष्टि के सिवाय कुछ भी विद्यमान नहीं। दृष्टि तो आत्मा है और सृष्टि जगत् है, जिसे संसार बोलते हैं।

(७८) जाग्रत् या स्वप्न में जो कुछ करना, पाना, दुख, सुख, कष्ट और आराम है, सब के सब दृश्य वा आभास होते हैं, और यह केवल दृष्टि रूप स्वयं उनमें आया हुआ परिच्छन्न कहलाता है और यही सुषुप्ति में केवल दृष्टि बिना दृश्य के मुक्त कहलाता

अपने सुख को और साथ ही दृष्टि को निश्चय करे।

(७५) परन्तु जब जाग्रत् होती है, तो भिन्न मन का निश्चय पाता है। उस समय अपनी सुषुप्ति की सत्यता को निश्चय करता है कि मैं आराम में था, दूसरा कोई भी मेरे साथ न था। इसी कारण अचेत और अनजान था। और यह स्पष्ट है कि जो देखा जाता है, उसी का निश्चय होता है। सुषुप्ति में वह अपना आनन्द देखता था, और यही प्रासव्य है।

(७६) अब पूछते हैं कि वह समझ और ज्ञान की वृत्तियाँ सुषुप्ति में कहां गई थी? तो तनिक विचार करने से जान सकता है कि सब इसमें उसी प्रकार लय हो गई थी जिस प्रकार सर्प का अस्तित्व भी रज्जु में लय हो जाता है और रज्जु ही रज्जु दिखाई देती है, सर्प कुछ भी नहीं दिखाई देता। किंतु जाग्रत् में जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं करता, तब तक ये क्रियायें उसी प्रकार प्रकट होती हैं जिस प्रकार रज्जु में सर्प प्रकट होता है, जबतक कि रज्जु प्रत्यक्ष नहीं करता।

(७७) वरन् ऐसा कह सकते हैं कि जाग्रत् में वह क्रियाएँ यों ही भासमान होती हैं जिस प्रकार सीप में रजत भासमान होता है। और यह पहले सिद्ध कर चुके हैं कि यह आत्मा स्वयं द्रष्टा है, और अब सिद्ध हुआ कि अन्य आत्माएँ केवल आभास मात्र हैं, इस कारण जाग्रत् और स्वप्न में जो संसार दिखाई देता है, केवल दृष्टिरेव सृष्टि है; दृष्टिरेव सृष्टि के सिवाय कुछ भी विद्यमान नहीं। दृष्टि तो आत्मा है और सृष्टि जगत् है, जिसे संसार बोलते हैं।

(७८) जाग्रत् या स्वप्न में जो कुछ करना, पाना, दुख, सुख, कष्ट और आराम है, सब के सब दृश्य या आभास होते हैं, और यह केवल दृष्टि रूप स्वयं उनमें आया हुआ परिच्छिन्न कहलाता है और यही सुषुप्ति में केवल दृष्टि बिना दृश्य के मुक्त कहलाता

के रूप धारण करता है। पहले तो यह स्थूल और फिर सूक्ष्म हो जाता है। इसकी स्थूलता तो सब तत्व शरीर और देह हैं, और इस की सूक्ष्मता यही करने की आत्मा (अर्थात् प्राण) है जो शरीरों में सब कुछ करती और भोग पाती है।

(८२) इसके समझने के लिये उत्तम है कि मनुष्य अपनी जिज्ञासा (छानबीन) करे, क्योंकि स्थाली पुलाक न्याय से जो कुछ इस करने की आत्मा (अर्थात् प्राण) की विचित्रताएँ यहाँ (इस मनुष्य में) पाई जाती हैं, वही दूसरों में है। क्या ऊर्ध्व लोक क्या यहाँ, सब की सब इसी की शाखाएँ हैं और यह सब का मूल है।

(८३) अब यों समझो कि यह करने की आत्मा एक बड़ा राई का पेड़ है। जिस प्रकार राई का पेड़ बहुत छोटा सा होता है, परन्तु जब बोया जाता है और फैलता है, तो सब से बड़ा पेड़ हो जाता है। इसी तरह यह (प्राण) भी मिथ्या अर्थात् तुच्छ है, वास्तविकता नहीं रखता, तो भी उस आत्मा के अस्तित्व मे अस्तित्ववान् हुआ कर्मों के जल से हरा भरा हो कर संसार रूप अगणित शाखाओं में फैलता है।

(८४) इस प्राण का काम, जो करने की आत्मा है, दो प्रकार का है—या तो ज्ञान वाला है या ज्ञान रहित। क्योंकि जब वह ऐसा काम करता है जिससे उसकी करतूतें समझ सोच और सूझ रूप होती हैं, तो वह ज्ञानात्मा कहलाता है, और जब उस के काम सोच समझ के नहीं होते, तो उसे शक्ति वा क्रिया की आत्मा बोलते हैं।

(८५) देखो, जब किसी बात के विषय में मन के भीतर स्मरण करते हैं, तो यह ज्ञान की आत्मा तरंग करती उन्हीं रूपों के अनुसार, जो स्मरण किए जाते हैं, बनती हुई हमारी अपनी दृष्टि के आगे उठती है और वही निश्चय या ज्ञान की

के रूप धारण करता है। पहले तो यह स्थूल और फिर सूक्ष्म हो जाता है। इसकी स्थूलता तो सब तत्त्व शरीर और देहें हैं, और इस की सूक्ष्मता वही करने की आत्मा (अर्थात् प्राण) है जो शरीरों में सब कुछ करती और भोग पाती है।

(८२) इसके समझने के लिये उत्तम है कि मनुष्य अपनी जिज्ञासा (छानबीन) करे, क्योंकि स्थाली पुलाक न्याय से जो कुछ इस करने की आत्मा (अर्थात् प्राण) की विचित्रताएँ यहाँ (इस मनुष्य में) पाई जाती हैं, वही दूसरों में है। क्या ऊर्ध्व लोक क्या यहाँ, सब की सब इसी की शाखाएँ हैं और यह सब का मूल है।

(८३) अब यों समझो कि यह करने की आत्मा एक बड़ा राई का पेड़ है। जिस प्रकार राई का पेड़ बहुत छोटा सा होता है, परन्तु जब बोया जाता है और फैलता है, तो सब से बड़ा पेड़ हो जाता है। इसी तरह यह (प्राण) भी मिथ्या अर्थात् तुच्छ है, वास्तविकता नहीं रखता, तो भी उस आत्मा के अस्तित्व में अस्तित्ववान् हुआ कर्मों के जल से हरा भरा होकर संसार रूप अगणित शाखाओं में फैलता है।

(८४) इस प्राण का काम, जो करने की आत्मा है, दो प्रकार का है—या तो ज्ञान वाला है या ज्ञान रहित। क्योंकि जब वह ऐसा काम करता है जिससे उसकी करतूतें समझ सोच और सूझ रूप होती हैं, तो वह ज्ञानात्मा कहलाता है, और जब उस के काम सोच समझ के नहीं होते, तो उसे शक्ति वा क्रिया की आत्मा बोलते हैं।

(८५) देखो, जब किसी बात के विषय में मन के भीतर स्मरण करते हैं, तो यह ज्ञान की आत्मा तरंग करती उन्हीं रूपों के अनुसार, जो स्मरण किए जाते हैं, बनती हुई हमारी अपनी दृष्टि के आगे उठती है और वही निश्चय या ज्ञान की

हुआ कि हम शब्द को और उसकी जान-पहचान को अपनी आत्मा दृष्टि से केवल देखते हैं। किंतु ये जान-पहचान के काम इसी भिन्न आत्मा के धर्म हैं जो हम में कल्पित हैं, वास्तव में हम तो केवल देखते हैं।

(८८) यह जो जान-पहचान का काम करती हैं, वास्तव में मनोवृत्तियाँ हैं और वही फिर स्मरण के समय भी हमारे भीतर पूर्ववत् जान-पहचान का काम करती हैं किंतु दूसरी शाखाएं भी मन से भिन्न निकलती हैं जो आँख कान, नाक में रहती हैं और जान-पहचान का काम नहीं करती, वरन् आँख में केंद्रित इन्द्रिय तो हमारी दृष्टि के लिये विशेष रूपों के दिखाने का साधन होती है, और कान की इन्द्रिय विशेष शब्द के सुनाने के लिये विशिष्ट होती है। यही कारण है कि नेत्र के द्वारा हम रूप तो देख सकते हैं और उसकी जान-पहचान भी कल्पित पाते हैं, परन्तु शब्द का श्रवण और उसकी जान पहचान नहीं पाते।

(८९) और फिर इस हेतु कि हम कान के मार्ग से शब्द का श्रवण और उसकी जान-पहचान पाते हैं, किंतु रूप का दर्शन और उसकी जान-पहचान नहीं पाते, तो ज्ञात हुआ कि आँख के रास्ते से जब जान-पहचान की वृत्तियाँ, जो मनोवृत्तियाँ हैं, निकलती हैं, तो साथ ही उनके आँख की इन्द्रिय भी किरण की तरह निकल उस वस्तु की आकृति होती हुई उस से एक होती है और उसी के दिखाने और जान-पहचान में विशिष्ट होती है। और ऐसे ही कान के मार्ग से जब जान-पहचान की वृत्तियाँ, निकलती हैं, तो कान की इन्द्रिय भी किरण की तरह उन के साथ मिश्र होकर निकलती है और शब्द का आकार होकर उससे एक होती है और उसके सुनाने और जान पहचान के लिये विशिष्ट होती है।

हुआ कि हम शब्द को और उसकी जान-पहचान को अपनी आत्मा दृष्टि से केवल देखते हैं। किंतु ये जान-पहचान के काम इसी भिन्न आत्मा के धर्म हैं जो हम में कल्पित हैं, वास्तव में हम तो केवल देखते हैं।

(८८) वह जो जान-पहचान का काम करती हैं, वास्तव में मनोवृत्तियाँ हैं और वही फिर स्मरण के समय भी हमारे भीतर पूर्ववत् जान-पहचान का काम करती हैं किंतु दूसरी शाखाएं भी मन से भिन्न निकलती हैं जो आँख कान, नाक में रहती हैं और जान-पहचान का काम नहीं करती, वरन् आँख में कंद्रिन इन्द्रिय तो हमारी दृष्टि के लिये विशेष रूपों के दिखाने का साधन होती है, और कान की इन्द्रिय विशेष शब्द के सुनाने के लिये विशिष्ट होती है। यही कारण है कि नेत्र के द्वारा हम रूप तो देख सकते हैं और उसकी जान-पहचान भी कल्पित पाते हैं, परन्तु शब्द का श्रवण और उसकी जान पहचान नहीं पाते।

(८९) और फिर इस हेतु कि हम कान के मार्ग से शब्द का श्रवण और उसकी जान-पहचान पाते हैं, किंतु रूप का दर्शन और उसकी जान-पहचान नहीं पाते, तो ज्ञात हुआ कि आँख के रास्ते से सब जान-पहचान की वृत्तियाँ, जो मनोवृत्तियाँ हैं, निकलती हैं, तो साथ ही उनके आँख की इन्द्रिय भी किरण की तरह निकल उस वस्तु की आकृति होती हुई उस से एक होती है और उसी के दिखाने और जान-पहचान में विशिष्ट होती है। और ऐसे ही कान के मार्ग से जब जान-पहचान की वृत्तियाँ निकलती हैं, तो कान की इन्द्रिय भी किरण की तरह उन के साथ मिश्र होकर निकलती है और शब्द का आकार होकर उससे एक होती है और उसके सुनाने और जान पहचान के लिये विशिष्ट होती है।

प्रत्येक वस्तु का अंधेरा दूर करती है, पर उसे स्वयं नहीं देखती, इसी तरह आँख भी अज्ञान को दूर करती है, स्वयं नहीं देखती, वरन् देखता वही आत्मा है जो देखने वाला है, और वही हमारा आत्मा और वही साक्षी है।

(९३) अब विश्वास हो सकता है कि क्या मनोवृत्तियाँ, क्या ज्ञानेन्द्रियाँ, सब की सब अज्ञान के दूर करने के यंत्र हैं, स्वयं दृष्टि नहीं, और उसी तरह जड़ हैं जिस प्रकार कि सूर्य की किरणें। किंतु दर्पण की तरह स्वच्छ हैं और हमारी आत्म-साक्षी की द्योतक हैं। और आत्मा उन में प्रकट हुआ जहाँ-जहाँ वह अपना काम करती हैं उन को, उन के कामों को और उन वस्तुओं को भी, जिन में ये काम करती हैं एक साथ देखता है। उस की दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता। जब वस्तु में अज्ञान होता है तो उन्हें अज्ञात देखता है, जब उन में ज्ञान-इंद्रियाँ काम करती हैं, तो उन्हें ज्ञात देखता है। इसलिये जैसा वह होती हैं और जिस गुण से गुणवान् होती हैं वह उन्हें ज्यों का त्यों प्रकाशता है, और वे परवाह है।

(९४) अज्ञात के अर्थ न मालूम के हैं, ज्ञात के अर्थ मालूम के हैं। जब तक कोई वस्तु अज्ञान के गुण से गुणवान् होती है, उसे अज्ञात बोलते हैं, और जब इन मनोवृत्तियों या ज्ञान की इंद्रियों से उस वस्तु का अज्ञान दूर होता है, जैसा कि वर्णन किया गया है, और फिर वह (वस्तु) ज्ञान के गुण से गुणवान् होती है, तो उसे मालूम या ज्ञात बोला करते हैं। इस हेतु कि विद्या का गुण या ज्ञान का बर्ताव उस वस्तु में इन्हीं वृत्तियों के कारण होता है, इसलिये वास्तव में यही मनोवृत्तियां और इंद्रियों की किरणें ज्ञान या समझ का तत्व हैं। वह साक्षी जो दृष्टि रूप और कूटस्थ है, स्वयं बुद्धि नहीं, वरन् उन में बसा हुआ बुद्धिमान् कहलाता है।

प्रत्येक वस्तु का अंधेरा दूर करती है, पर उसे स्वयं नहीं देखती, इसी तरह आँख भी अज्ञान को दूर करती है, स्वयं नहीं देखती, वरन् देखता वही आत्मा है जो देखने वाला है, और वही हमारा आत्मा और वही साक्षी है।

(९३) अब विश्वास हो सकता है कि क्या मनोवृत्तियाँ, क्या ज्ञानेन्द्रियाँ, सब की सब अज्ञान के दूर करने के यंत्र हैं, स्वयं दृष्टि नहीं, और उसी तरह जड़ हैं जिस प्रकार कि सूर्य की किरणें। किंतु दर्पण की तरह स्वच्छ हैं और हमारी आत्म-साक्षी की द्योतक हैं। और आत्मा उन में प्रकट हुआ जहाँ-जहां वह अपना काम करती हैं उन को, उन के कामों को और उन वस्तुओं को भी, जिन में ये काम करती हैं एक साथ देखता है। उस की दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता। जब वस्तु में अज्ञान होता है तो उन्हें अज्ञात देखता है, जब उन में ज्ञान-इंद्रियाँ काम करती हैं, तो उन्हें ज्ञात देखता है। इसलिये जैसा वह होती हैं और जिस गुण से गुणवान् होती हैं वह उन्हें ज्यों का त्यों प्रकाशता है, और वे परवाह है।

(९४) अज्ञात के अर्थ न मालूम के हैं, ज्ञात के अर्थ मालूम के हैं। जब तक कोई वस्तु अज्ञान के गुण से गुणवान् होती है, उसे अज्ञात बोलते हैं, और जब इन मनोवृत्तियों वा ज्ञान की इंद्रियों से उस वस्तु का अज्ञान दूर होता है, जैसा कि वर्णन किया गया है, और फिर वह (वस्तु) ज्ञान के गुण से गुणवान् होती है, तो उसे मालूम या ज्ञात बोला करते हैं। इस हेतु कि विद्या का गुण या ज्ञान का वर्ताव उस वस्तु में इन्हीं वृत्तियों के कारण होता है, इसलिये वास्तव में यही मनोवृत्तियां और इंद्रियों की किरणें ज्ञान या समझ का तत्व हैं। वह साक्षी जो दृष्टि रूप और कूटस्थ है, स्वयं बुद्धि नहीं, वरन् उन में बद्ध हुआ बुद्धिमान् कहलाता है।

होती हैं, और हम भी उन के साथ उतरते दृष्टिगोचर होते हैं। वरन् जब तक हम हृदयाकाश में नहीं उतर जाते, तो इन्हीं नाड़ियों में एक विचित्र स्वप्न-संसार रचते हैं और उस की जान-पहचान इन्हीं साधनों से करते हैं। और जब हम हृदयाकाश में उतर जाते हैं, तो इन्हें भी छोड़ जाते हैं। यही सुषुप्ति है। उस समय हमारी अपनी दृष्टि तो होती है किंतु उन आत्माओं के काम, जो जान-पहचान हैं, नहीं होते। इसलिये हम बेसमझ तो हो जाते हैं, परंतु जिस तरह बुद्धिमानी के समय बुद्धि को देखते हैं, यहाँ बेसमझी को भी देखते हैं, क्योंकि जाग कर अपनी नासमझी को स्वीकार करते हैं।

(६८) हम लिख चुके हैं कि यही बेसमझी वास्तव में अज्ञान है और इस हेतु कि सुषुप्ति में समझ का बर्ताव, जो भिन्न आत्मा (विज्ञान) का है, नहीं होता हम में अज्ञान का गुण भी भिन्न आरोपित होता है। इसी कारण से हम अपने आप को अज्ञान के गुण में देखते हैं किंतु पहचानते नहीं, क्योंकि "वहाँ बेसमझ हैं", ऐसा निश्चय नहीं पाते, वरन् केवल नासमझी को और अपने आप को देखते हैं। और जाग्रत् में जब यह समझ की आत्मा (विज्ञान) किसी कारण हम भिन्न आ जाती है, तो अपने अज्ञान को दूर करते हैं और वहाँ जो उसे दिखाई देता था, उस का निश्चय भी करते हैं और पह चानते हैं कि हम बेखबर बेसमझ या अज्ञान हो गये थे। तो इस प्रकार के विचार से हम जान सकते हैं कि क्या ज्ञान और क्या अज्ञान, दोनों हम में भिन्न धर्म कल्पित हैं। हम दोनों से पृथक् केवल दृष्टि-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप, सतस्वरूप हैं। और यह अज्ञान भी उसी आत्मा का मूल है, कि जो करने की आत्मा (प्राण) है।

(६९) ये आत्माएँ (वृत्तियाँ) सुषुप्ति के समय इस अज्ञान

होती हैं, और हम भी उन के साथ उतरते दृष्टिगोचर होते हैं। वरन् जब तक हम हृदयाकाश में नहीं उतर जाते, तो इन्हीं नाड़ियों में एक विचित्र स्वप्न-संसार रचते हैं और उस की जान-पहचान इन्हीं साधनों से करते हैं। और जब हम हृदयाकाश में उतर जाते हैं, तो इन्हें भी छोड़ जाते हैं। यही सुषुप्ति है। उस समय हमारी अपनी दृष्टि तो होती है किंतु उन आत्माओं के काम, जो जान-पहचान हैं, नहीं होते। इसलिये हम बेसमझ तो हो जाते हैं, परंतु जिस तरह बुद्धिमानी के समय बुद्धि को देखते हैं, यहां बेसमझी को भी देखते हैं, क्योंकि जाग कर अपनी नासमझी को स्वीकार करते हैं।

(६८) हम लिख चुके हैं कि यही बेसमझी वास्तव में अज्ञान है और इस हेतु कि सुषुप्ति में समझ का बर्ताव, जो भिन्न आत्मा (विज्ञान) का है, नहीं होता हम में अज्ञान का गुण भी भिन्न आरोपित होता है। इसी कारण से हम अपने आप को अज्ञान के गुण में देखते हैं किंतु पहचानते नहीं, क्योंकि "वहाँ बेसमझ हैं", ऐसा निश्चय नहीं पाते, वरन् केवल नासमझी को और अपने आप को देखते हैं। और जाग्रत् में जब यह समझ की आत्मा (विज्ञान) किसी कारण हम भिन्न आ जाती है, तो अपने अज्ञान को दूर करते हैं और वहाँ जो उसे दिखाई देता था, उस का निश्चय भी करते हैं और पहचानते हैं कि हम बेखबर बेसमझ या अज्ञान हो गये थे। तो इस प्रकार के विचार से हम जान सकते हैं कि क्या ज्ञान और क्या अज्ञान, दोनों हम में भिन्न धर्म कल्पित हैं। हम दोनों से पृथक् केवल दृष्टि-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप, सतस्वरूप हैं। और यह अज्ञान भी उसी आत्मा का मूल है, कि जो करने की आत्मा (प्राण) है।

(६९) ये आत्माएँ (वृत्तियाँ) सुषुप्ति के समय इस अज्ञान

(१०२) और भी बहुत से कारण हैं जिन से सिद्ध हुआ है कि यह मस्तिष्क का अपना गुण नहीं, क्योंकि मस्तिष्क ऐसी वस्तु नहीं जो किरण की तरह आँख कान से निकल कर वस्तुओं का पता लगावे। परन्तु ये वृत्तियाँ तो झटपट आकाश तक उसी तरह जा पहुँचती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें भी सूर्य से झटपट धरती तक आ जाती हैं, क्योंकि जब हम चंद्र की ओर दृष्टि करते हैं, तो यह (वृत्तियाँ) चंद्र में वरन् तारों में जा लगती हैं, उनके रूप में बनती उन से एक होती हुई उनकी दृष्टि और जान-पहचान का काम करती हैं और चंद्र से लग कर शीतल शांति होती हुई हमारे नेत्र और मस्तिष्क को ठंडक देती हैं।

(१०३) फिर जब हम किसी से दो-चार होते हैं, तो एक दूसरे की मनोवृत्तियाँ परस्पर घात प्रतिघात करती हैं, और हम निश्चय करते हैं कि हमारी दृष्टि उसकी दृष्टि से लड़ती है। और जब हम चंद या किसी यति की ओर देखते हुए आँखें मीचते हैं और फिर मन में उसका ध्यान करते हैं, तो ये मनोवृत्तियाँ जो असली चंद्र से टकराकर भीतर प्रविष्ट हुई थीं, मन के भीतर उसी चंद्र का आकार एक नया चंद्र बनाकर दिखाती हैं जो बुद्धिजन्य चंद्र कहलाता है।

(१०४) अतः जहाँ बुद्धि और वस्तु एक होती है वहाँ वस्तु तो प्रत्यक्ष विद्यमान होती है, और जहाँ केवल समझ होती है और वस्तु की आकृति पर बनती है, किंतु वस्तु उसके भीतर प्रवेश नहीं पाती तो वह केवल उसका ज्ञान होती है जैसा कि विचार के समय भी मस्तिष्क के भीतर ध्यान में बाह्य चंद्र तो नहीं होता, तो भी उसकी समझ होती है।

(१०५) स्वप्न में भी यद्यपि जगत् भीतर विद्यमान नहीं होता, तो भी उस की समझें जगत् के रूपमें मनुष्य को निद्रा के समय दिखाई देती हैं, तो सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क जगत् के रूप

(१०२) और भी बहुत से कारण हैं जिन से सिद्ध हुआ है कि यह मस्तिष्क का अपना गुण नहीं, क्योंकि मस्तिष्क ऐसी वस्तु नहीं जो किरण की तरह आँख कान से निकल कर वस्तुओं का पता लगावे। परन्तु ये वृत्तियाँ तो झटपट आकाश तक उसी तरह जा पहुँचती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें भी सूर्य से झटपट धरती तक आ जाती हैं, क्योंकि जब हम चंद्र की ओर दृष्टि करते हैं, तो यह (वृत्तियाँ) चंद्र में वरन् तारों में जा लगती हैं, उनके रूप में बनती उन से एक होती हुई उनकी दृष्टि और जान-पहचान का काम करती हैं और चंद्र से लग कर शीतल शांति होती हुई हमारे नेत्र और मस्तिष्क को ठंडक देती हैं।

(१०३) फिर जब हम किसी से दो-चार होते हैं, तो एक दूसरे की मनोवृत्तियाँ परस्पर घात प्रतिघात करती हैं, और हम निश्चय करते हैं कि हमारी दृष्टि उसकी दृष्टि से लड़ती है। और जब हम चंद्र या किसी वस्तु की ओर देखते हुए आँखें मीचते हैं और फिर मन में उसका ध्यान करते हैं, तो ये मनोवृत्तियाँ जो असली चंद्र से टकराकर भीतर प्रविष्ट हुई थीं, मन के भीतर उसी चंद्र का आकार एक नया चंद्र बनाकर दिखाती हैं जो बुद्धिजन्य चंद्र कहलाता है।

(१०४) अतः जहाँ बुद्धि और वस्तु एक होती है वहाँ वस्तु तो प्रत्यक्ष विद्यमान होती है, और जहाँ केवल समझ होती है और वस्तु की आकृति पर बनती है, किंतु वस्तु उसके भीतर प्रवेश नहीं पाती तो वह केवल उसका ज्ञान होती है जैसा कि विचार के समय भी मस्तिष्क के भीतर ध्यान में बाह्य चंद्र तो नहीं होता, तो भी उसकी समझ होती है।

(१०५) स्वप्न में भी यद्यपि जगत् भीतर विद्यमान नहीं होता, तो भी उस की समझें जगत् के रूप मनुष्य को निद्रा के समय दिखाई देती हैं, तो सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क जगत् के रूप

(१०९) वरन् बाह्य वस्तु पर पहले प्रकाश की किरणें पड़ती और अँधेरे को दूर करती हुई उसकी आकृति धारण करती हैं। फिर दृष्टि की किरणें आँख से निकल कर उसी प्रकाशित वस्तु पर पड़ती हुईं उस के रूप के आकार होती हैं, और इस दृष्टि पर सवार विज्ञान किरण की तरह निकल कर उस वस्तु का रूप धारण करती है। जब इस प्रकार यह विज्ञान किसी वस्तु का रूप धारण करता है, तो आत्म-दृष्टि उसे अनुभव करती है जिससे वस्तु का अनुभव होता है। यह कारण है कि पूरे परिमाण की वस्तु से परिचय होता है, क्योंकि सूर्य की किरण दृष्टि की किरण और विज्ञान की किरण का गुण है कि जिस वस्तु पर पड़ती है, उसके बराबर उस के रूप पर बन जाती है। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि बाहरी किरणों के कारण जो चित्र आँख में छपता है उस से मन परिचित नहीं होता वरन् उस रूप से परिचित होता है जो मन अर्थात् विज्ञान ने ग्रहण किया हो।

(११०) कल्पना करो कि उनके घमंड को बहाल भी करलें, तो भी दार्शनिक नियम से वह बहाल नहीं रहता, क्योंकि नेत्र में जो दृष्टि-पटल यह नियत करते हैं, स्वयं शरीर है और शरीर का गुण यह है कि यदि उस पर एक रेखा वा चिह्न करें और फिर उस पर दूसरी रेखा वा चिह्न लगा दें, तो दोनों बिगड़ जाते हैं। जैसे एक कागज़ के टुकड़े पर मोहर करें और फिर उसी पर मोहर को या दूसरी मोहर को वहाँ छाप दें, तो दोनों मोहरों की रेखाएँ बिगड़ जायँगी और स्पष्ट होकर दिखाई नहीं देंगी।

(१११) यहाँ भी प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु को हम देखते हैं जिससे एक चित्र के पश्चात् दूसरा चित्र छपता है। यही कहना होगा कि यह खराब हो जाना चाहिये न कि ठीक दिखाई देवे

(१०९) वरन् बाह्य वस्तु पर पहले प्रकाश की किरणें पड़ती और अँधेरे को दूर करती हुई उसकी आकृति धारण करती हैं। फिर दृष्टि की किरणें आँख से निकल कर उसी प्रकाशित वस्तु पर पड़ती हुईं उस के रूप के आकार होती हैं, और इस दृष्टि पर सवार विज्ञान किरण की तरह निकल कर उस वस्तु का रूप धारण करती है। जब इस प्रकार यह विज्ञान किसी वस्तु का रूप धारण करता है, तो आत्म-दृष्टि उसे अनुभव करती है जिससे वस्तु का अनुभव होता है। यह कारण है कि पूरे परिमाण की वस्तु से परिचय होता है, क्योंकि सूर्य की किरण दृष्टि की किरण और विज्ञान की किरण का गुण है कि जिस वस्तु पर पड़ती है, उसके बराबर उस के रूप पर बन जाती है। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि बाहरी किरणों के कारण जो चित्र आँख में छपता है उस से मन परिचित नहीं होता वरन् उस रूप से परिचित होता है जो मन अर्थात् विज्ञान ने ग्रहण किया हो।

(११०) कल्पना करो कि उनके घमंड को बहाल भी करलें, तो भी दार्शनिक नियम से वह बहाल नहीं रहता, क्योंकि नेत्र में जो दृष्टि-परल वह नियत करते हैं, स्वयं शरीर है और शरीर का गुण यह है कि यदि उस पर एक रेखा वा चिह्न करें और फिर उस पर दूसरी रेखा वा चिह्न लगा दे, तो दोनों बिगड़ जाते हैं। जैसे एक काग़ज़ के टुकड़े पर मोहर करें और फिर उसी पर मोहर को या दूसरी मोहर को वहाँ छाप दें, तो दोनों मोहरों की रेखाएँ बिगड़ जायँगी और स्पष्ट होकर दिखाई नहीं देंगी।

(१११) यहाँ भी प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु को हम देखते हैं जिससे एक चित्र के पश्चात् दूसरा चित्र छपता है। यही कहना होगा कि यह ख़राब हो जाना चाहिये न कि ठीक दिखाई देने

नहीं कल्पना कर सकते हैं। देखो गणेश जी की आकृत संसार में किसी ने नहीं देखी। पर हम वाणी से ही उस की आकृति ऐसी अन्दर ध्यान कर सकते हैं जिस का सिर हाथी का और शरीर मनुष्य का होता है। फिर यह कौन बात है जो इस तरह ध्यान के समय आकृति-वान होता और बदल जाता है? अतः यह मानना पड़ेगा कि यह वही समझ की आत्मा विज्ञान है जिसे हम मन कहते हैं और वही आँख और कान के मार्ग से किरणों की तरह निकल कर जहाँ वस्तु होती है जाती है, उस की आकृति पर पड़ती है और दिखाने का कारण होती है।

(११५) हाँ, इस में संशय नहीं कि जहां अंधेरा होता है, तो वह अंधेरे की शकल में बनती है। उस के भीतर जो वस्तु होती है, उस के खयाल में अंधेरा उसे रोकता है। सूर्य की किरणें तो उस की सहायक होती हैं, क्योंकि वह केवल अंधेरे को दूर करती हैं, परंतु वस्तुओं के अज्ञान को नहीं दूर करतीं। और यह समझ की आत्मा (विज्ञान) तो उस की आकृति पर बनती हुई उस के अज्ञान को भी उसी प्रकार दूर करती है जिस प्रकार किरणें अंधेरे को दूर करती हैं, और साक्षी आत्मा जो उन में प्रकट होता है, उन्हें अनुभव करता है। यही सत्य दृष्टि है।

(११६) किंतु जब हम आँख या कान बंद करके उन का फिर विचार करते हैं, तो हमारे ध्यान के भीतर वही वृत्ति उन की आकृति पर बनती है। इस हेतु कि वह वस्तुएँ उस के अधिकार में विद्यमान नहीं होतीं, इसलिये उसे विचार या केवल ज्ञान कहते हैं। अतः ज्ञात हुआ कि यह करने की आत्मा जो इस प्रकार बर्ताव करती है, वास्तव में ज्ञान है और साक्षी उसे भी ध्यान में देखता है, इस समझ को संस्कृत में विज्ञान बोलते हैं, और उस साक्षी को जो उस में प्रकट है विज्ञानमय

नहीं कल्पना कर सकते हैं। देखो गणेश जी की आकृत संसार में किसी ने नहीं देखी। पर हम वाणी से ही उस की आकृति ऐसी अन्दर ध्यान कर सकते हैं जिस का सिर हाथी का और शरीर मनुष्य का होता है। फिर यह कौन बात है जो इस तरह ध्यान के समय आकृति-वान होता और बदल जाता है? अतः यह मानना पड़ेगा कि यह वही समझ की आत्मा विज्ञान है जिसे हम मन कहते हैं और वही आँख और कान के मार्ग से किरणों की तरह निकल कर जहाँ वस्तु होती है जाती है, उस की आकृति पर पड़ती है और दिखाने का कारण होती है।

(११५) हाँ, इस में संशय नहीं कि जहां अंधेरा होता है, तो वह अंधेरे की शकल में बनती है। उस के भीतर जो वस्तु होती है, उस के खयाल में अंधेरा उसे रोकता है। सूर्य की किरणे तो उस की सहायक होती हैं, क्योंकि वह केवल अंधेरे को दूर करती हैं, परंतु वस्तुओं के अज्ञान को नहीं दूर करतीं। और यह समझ की आत्मा (विज्ञान) तो उस की आकृति पर बनती हुई उस के अज्ञान को भी उसी प्रकार दूर करती है जिस प्रकार किरणें अंधेरे को दूर करती हैं, और साक्षी आत्मा जो उन में प्रकट होता है, उन्हें अनुभव करता है। यही सत्य दृष्टि है।

(११६) किंतु जब हम आँख या कान बंद करके उन का फिर विचार करते हैं, तो हमारे ध्यान के भीतर वही वृत्ति उन की आकृति पर बनती है। इस हेतु कि वह वस्तुएँ उस के अधिकार में विद्यमान नहीं होतीं, इसलिये उसे विचार या केवल ज्ञान कहते हैं। अतः ज्ञात हुआ कि यह करने की आत्मा जो इस प्रकार बर्ताव करती है, वास्तव में ज्ञान है और साक्षी उसे भी ध्यान में देखता है, इस समझ को संस्कृत में विज्ञान बोलते हैं, और उस साक्षी को जो उस में प्रकट है विज्ञानमय

(१२०) दूसरी आत्माएँ शक्ति की आत्माएँ हैं। वह वही हैं जो शरीर के भीतर खींचती, निकालती, पकाती, रोकती और बनाती हैं जिसे पञ्चप्राण के नाम से हम कर्मकांड के प्रकरण में ब्योरेवार लिख आए हैं। और उनके बंधन में आया हुआ यही प्रजापति वद्ध, हर्ता-कर्ता, और स्रष्टा है। परंतु ये शक्ति की आत्माएँ शाखाओं के समान है, और वह समझ की आत्माएँ (अर्थात् (वृत्तियां) शाखा-प्रशाखा और वह इंद्रियाँ-उनकी पत्ती और फल हैं। इस प्रकार यह करने की आत्मा (प्राण) शरीर के भीतर फैली हुई कर्मों के भोग के लिये इस शरीर में इस प्रकार स्थिर की गई है जैसे घर मे खम्भे और मनुष्य की आकृति कहलाती हैं।

(१२१) अब यह सुनो कि वह मुक्तस्वरूप इस में किस प्रकार बद्ध होता है, वह समझ की आत्मा (विज्ञान)) जो शरीर के भीतर सिद्ध की गई है अनेक वृत्तियों से इस प्रकार विकीर्ण होती है जिस प्रकार सूर्य भी अपनी अनंत किरणों में विकीर्ण होता है। किंतु बुद्धिमानों ने समिष्ट रूप से उसे चार प्रकारों में नियत किया है, या तो वह संकल्प वा ख़याल करती है, या स्मरण करती है, या खोज करती है या अभिमान करती है। जब संकल्प वा ख़याल करती है, तो उसे मन बोलते हैं; जब स्मरण करती है तो उसे चित बोलते हैं; जब जाँच-पड़ताल करती है. तो उसे बुद्धि बोलते हैं, जब अभिमान करती है तो उसे अहंकार कहते हैं।

(१२२) वह जो पञ्च प्राण हैं, उन में उस चेतन-आत्मा के अस्तित्व का प्रकाश होता है, किंतु उस की ज्योति का प्रतिबिंब नहीं पड़ता, इसलिये वह विद्यमान तो हैं, पर ज्योतिर्मय नहीं। और उन में चेष्टा उसी तरह आ जाती है जिस प्रकार चुम्बक के कारण लोहे में चेष्टा आ जाती है। किन्तु इन

(१२०) दूसरी आत्माएँ शक्ति की आत्माएँ हैं। वह वही हैं शरीर के भीतर खींचती, निकालती, पकाती, रोकती और ती हैं जिसे पञ्चप्राण के नाम से हम कर्मकांड के प्रकरण में रेवार लिख आए हैं। और उनके बंधन में आया हुआ यह। ापति बद्ध, हर्ता-कर्ता, और स्रष्टा है। परंतु ये शक्ति की त्माएँ शाखाओं के समान हैं, और वह समझ की आत्माएँ ार्थात (वृत्तियां) शाखा-प्रशाखा और वह इंद्रियाँ-उनकी त्ती और फल हैं। इस प्रकार यह करने की आत्मा (प्राण) रीर के भीतर फैली हुई कर्मों के भोग के लिये इस शरीर में स प्रकार स्थिर की गई है जैसे घर में खम्भे और मनुष्य की ाकृति कहलाती हैं।

(१२१) अब यह सुनो कि वह मुक्तस्वरूप इस में किस ्रकार बद्ध होता है, वह समझ की आत्मा (विज्ञान) जो ्शरीर के भीतर सिद्ध की गई है अनेक वृत्तियों से इस प्रकार विकीर्ण होती है जिस प्रकार सूर्य भी अपनी अनंत किरणों में विकीर्ण होता है। किंतु बुद्धिमानों ने समष्टि रूप से उसे चार प्रकारों में नियत किया है, या तो वह संकल्प वा खयाल करती है, या स्मरण करती है, या खोज करती है या अभिमान करती है। जब संकल्प वा खयाल करती है, तो उसे मन बोलते हैं; जब स्मरण करती है तो उसे चित बोलते हैं; जब जाँच-पड़ताल करती है, तो उसे बुद्धि बोलते हैं, जब अभिमान करती है तो उसे अहंकार कहते हैं।

(१२२) वह जो पञ्च प्राण हैं, उन में उस चेतन-आत्मा के अस्तित्व का प्रकाश होता है, किंतु उस की ज्योति का प्रतिबिंब नहीं पड़ता, इसलिये वह विद्यमान तो हैं, पर ज्योतिर्मय नहीं। और उन में चेष्टा उसी तरह आ जाती है जिस प्रकार चुम्बक के कारण लोहे में चेष्टा आ जाती है। किन्तु इन

(१२५) जब यह अहंकार के बन्धन को विवेक से तोड़ना है, वरन् उसको अपने में भिन्न कल्पित जानता है (और यह तब ही होता है, जब अपने आप को केवल साक्षी पहचानता है), तो फिर यह उन में प्रकट हुआ भी बद्ध नहीं होता, वरन् वही मुक्त का मुक्त होता है। इस प्रकार बन्धनों से मुक्ति पाकर मुक्ति पाया होता है। इसी अहंकार से छूटना वास्तव में मुक्ति है और यही प्रसाद है। शास्त्र में इसी अहंकार को निर्बल किया जाता है, ज्ञान से इसी की जड़ उखाड़ी जाती है। इसी अहंकार को सूफी लोग नफ़्स नाम देते हैं और वह पहचान की वृत्तियां जो इसके अधीन हैं, सब नफ़्सानी कहलाती हैं और ये दूसरी हैवानी।

(१२६) इस प्रकार अहंकार में बद्ध हुआ अहंकारी और प्राण में बद्ध हुआ प्राणी और शरीर के बंधन में आया हुआ मनुष्य कहलाता है, परंतु उस के ये सामान्य बन्धन जो मनुष्य में ही दिखाई देते हैं, पशुओं में उस से कम और वनस्पतियों में उससे भी कम हैं, क्योंकि उन में कम इन्द्रियां वा वृत्तियाँ हैं। देखो वनस्पतियों में पञ्चप्राण तो हैं अहंकार नहीं और पशुओं में अहंकार तो है, बुद्धि नहीं। इस लिये वनस्पति का पशुओं से और पशुओं का मनुष्य अंतर से किया जाता है।

(१२७) फिर मनुष्यों में भी कुछ मंद बुद्धि और कुछ तीव्र बुद्धि हैं। यह सब न्यूनाधिकता उसी करने की आत्मा (प्राण वा अन्तःकरण) की है, कुछ आत्मा की नहीं, वरन् अकेला आत्मा क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या वनस्पति, सब का देखने वाला, साक्षी, सब में एक है, किंतु जिस-जिस व्यक्ति में प्रकट हुआ है, उस के अहंकार में कल्पित अभिमान का सम्बन्ध पाता है, उसी को अपना आप समझता है, और उसी के हानि-लाभ को अपने में मानता है। इस हेतु कि ये सब बातें अपनी दृष्टि

(१२५) जब यह अहंकार के बन्धन को विवेक से तोड़ता है, वरन् उसको अपने में भिन्न कल्पित जानता है (और यह तब ही होता है, जब अपने आप को केवल साक्षी पहचानता है), तो फिर यह उन में प्रकट हुआ भी बद्ध नहीं होता, वरन् वही मुक्त का मुक्त होता है। इस प्रकार बन्धनों से मुक्ति पाकर मुक्ति पाया होता है। इसी अहंकार से छूटना वास्तव में मुक्ति है और यही प्रसाद है। शास्त्र में इसी अहंकार को निर्बल किया जाता है, ज्ञान से इसी की जड़ उखाड़ी जाती है। इसी अहंकार को सूफी लोग नफ़्स नाम देते हैं और वह पहचान की वृत्तियां जो इसके अधीन हैं, सब नफ़्सानी कहलाती हैं और ये दूसरी हैवानी।

(१२६) इस प्रकार अहंकार में बद्ध हुआ अहंकारी और प्राण में बद्ध हुआ प्राणी और शरीर के बंधन में आया हुआ मनुष्य कहलाता है, परंतु उस के ये सामान्य बन्धन जो मनुष्य में ही दिखाई देते हैं, पशुओं में उस से कम और वनस्पतियों में उससे भी कम हैं, क्योंकि उन में कम इन्द्रियां वा वृत्तियाँ हैं। देखो वनस्पतियों में पञ्चप्राण तो हैं अहंकार नहीं और पशुओं में अहंकार तो है, बुद्धि नहीं। इस लिये वनस्पति का पशुओं से और पशुओं का मनुष्य अंतर से किया जाता है।

(१२७) फिर मनुष्यों में भी कुछ मंद बुद्धि और कुछ तीव्र बुद्धि हैं। यह सब न्यूनाधिकता उसी करने की आत्मा (प्राण वा अन्तःकरण) की है, कुछ आत्मा की नहीं, वरन् अकेला आत्मा क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या वनस्पति, सब का देखने वाला, साक्षी, सब में एक है, किंतु जिस-जिस व्यक्ति में प्रकट हुआ है, उस के अहंकार में कल्पित अभिमान का सम्बन्ध पाता है, उसी को अपना आप समझता है, और उसी के हानि-लाभ को अपने में मानता है। इस हेतु कि ये सब बातें अपनी दृष्टि

हुआ उनके गुणों से गुणवान होता है, पर अपने स्वरूपमें वह ज्यों का त्यों पवित्र, अकर्त्ता, अभोक्ता केवल साक्षी रहता है।

(१३०) देखो जब हम सुषुप्ति या समाधि में जाते हैं, तो अपनी संक्षिप्त उपाधियों अर्थात् मानवी समझों और मानवी करतूतों से निकल जाते हैं और स्वतंत्र तथा साक्षी स्वरूप होते हैं। इसी प्रकार इन्द्र या प्रजापति भी जब सोता या समाधि में होता है, तो वही मुक्त-स्वरूप साक्षी-मात्र होता है। यही कारण है कि समाधि या सुषुप्ति में सब एक हैं, जाग्रत् में भिन्न शरीरों भिन्न मनों में आप एक ही अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार यह इकलौता मुक्त स्वरूप भिन्न-भिन्न उपाधियों में आया हुआ नाना रूप से प्रकट हुआ विराट् भगवान् कहलाता है।

(१३१) उन्नति में तो सर्व-शक्तिमान सर्वज्ञ वही है, पतन में अल्प-शक्तिमान अल्पज्ञ वही है, किंतु क्या सर्व-शक्ति और सर्वज्ञता, क्या अल्प-शक्ति और अल्पज्ञता, दोनों भिन्न उपाधियों के धर्म हैं, उस के अपने नहीं। वह जो इन्हें भिन्न जानता है उन में नहीं फँसता, वरन् उपाधि के रूप में भी मुक्त होता उन का साक्षी रहता है, और "मैं ब्रह्म हूँ" खुल्लम-खुल्ला निश्चय करता है। यही विचार प्रत्यक्ष फल है।

(१३२) जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अपने करने की आत्मा (प्राण) से मिला हुआ मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार समस्त धरती और आकाश और जो कुछ उन में है एक समष्टि शरीर है और वही करने की आत्मा उस शरीर में मिली हुई विराट् भगवान कहलाती है जिसे सूफी लोग रहमान अर्थ करते हैं। परन्तु जिस तरह मानवशरीर के विचार से उस की अन्तरात्मा या अहंकार कहलाती है, उसी तरह समष्टि शरीर के विचार से ब्रह्मान की अन्तरात्मा परमेश्वर कहलाती है, जिसे हम हिरण्यगर्भ और प्रजापति भी कहते हैं।

हुआ उनके गुणों से गुणवान होता है, पर अपने स्वरूपमें वह ज्यों का त्यों पवित्र, अकर्त्ता, अभोक्ता केवल साक्षी रहता है।

(१३०) देखो जब हम सुषुप्ति या समाधि में जाते हैं, तो अपनी संक्षिप्त उपाधियों अर्थात् मानवी समझों और मानवी करतूतों से निकल जाते हैं और स्वतंत्र तथा साक्षी स्वरूप होते हैं। इसी प्रकार इन्द्र या प्रजापति भी जब सोता या समाधि में होता है, तो यही मुक्त-स्वरूप साक्षी-मात्र होता है। यही कारण है कि समाधि या सुषुप्ति में सब एक हैं, जाग्रत् में भिन्न शरीरों भिन्न मनों में आप एक ही अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार यह इकलौता मुक्त स्वरूप भिन्न-भिन्न उपाधियों में आया हुआ नाना रूप से प्रकट हुआ विराट् भगवान् कहलाता है।

(१३१) उन्नति में तो सर्व-शक्तिमान सर्वज्ञ यही है, पतन में अल्प-शक्तिमान अल्पज्ञ यही है, किंतु क्या सर्व-शक्ति और सर्वज्ञता, क्या अल्प-शक्ति और अल्पज्ञता, दोनों भिन्न उपाधियों के धर्म हैं, उस के अपने नहीं। वह जो उन्हें भिन्न जानता है उन में नहीं फँसता, वरन् उपाधि के रूप में भी मुक्त होता उन का साक्षी रहता है, और "मैं ब्रह्म हूँ" खुल्लम-खुल्ला निश्चय करता है। यही विचार प्रत्यक्ष फल है।

(१३२) जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अपने करने की आत्मा (प्राण) से मिला हुआ मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार समस्त धरती और आकाश और जो कुछ उन में हैं एक समष्टि शरीर है और वही करने की आत्मा उस शरीर में मिली हुई विराट् भगवान कहलाती है जिसे सूफी लोग रहमान अर्थ करते हैं। परन्तु जिस तरह मानवशरीर के विचार से उस की अन्तरात्मा या अहंकार कहलाती है, उसी तरह समष्टि शरीर के विचार से रहमान की अन्तरात्मा परमेश्वर कहलाती है जिसे हम हिरण्यगर्भ और प्रजापति भी कहते हैं।

का देवता कहते हैं और इन्हीं के नाम पर उनका नाम होता है।

(१३६) उदाहरणतः, जो महानात्मा (प्रजापति) की शाखा सूर्य में स्थिर है और आँख तक फैली हुई है और दिखाने का काम करती है, वही सूर्य देवता कहलाती है और जो उसकी शाखा चंद्रमा में केंद्रित और हृदय कमल तक फैली हुई है और विशेष सोच-समझ का काम करती है, वही चंद्र देवता कहलाती है, और उन्हीं का सूफी लोग सूर्य और चंद्र का मुअक्कल या देखने सोचने का फरिश्ता कहा करते हैं। और ये सब देवता वा इन्द्रियां अपने विशेष काम में बद्ध यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न नाम रखती है, किंतु सब प्रजापति की शाखाएँ हैं जो करने की आत्मा है। और शाखाएँ वास्तव में भिन्न नहीं होतीं, वरन् सब की सब एक वृक्ष होती हैं, इसलिये ये देवता भी सब के सब एक ईश्वर हैं।

(१३७) इसकी विवेचना में यद्यपि हमारे पास बड़ी-बड़ी दार्शनिक युक्तियाँ हैं, किंतु हम इसलिये नहीं कहते कि यह सूक्ष्म युक्तियाँ अदार्शनिकों की समझ में नहीं आ सकतीं। उत्तम है कि हम वैदिक आख्यानों से भाषा जानने वालों पर उन्हें खोलें। इसलिये हम "दो तत्ववेत्ताओं का विवाद" वेदों से अनुवादित करते हैं जो एक सगुण विद्या का विद्वान् अर्थात् इसी करने वाली आत्मा का ज्ञाता और ज्ञानी था, और दूसरा इस देखने वाली आत्मा से भी परिचित था और इसको भली भाँति जानता था। पहले का नाम बालाकी गर्ग गोत्र का ब्राह्मण है; दूसरे का नाम अजातशत्रु है, जो काशी का राजा था। यह गार्ग्य तो केवल करने वाली आत्मा (प्राण) को जानता था और वह राजा देखने वाली आत्मा को भी पहचानता था।

(१३८) * यजुर्वेद के आरण्यक भाग में हम यों सुनते हैं

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय दूसरा आरम्भ से

का देवता कहते हैं और इन्हीं के नाम पर उनका नाम होता है।

(१२६) उदाहरणतः, जो महानात्मा (प्रजापति) की शाखा सूर्य में स्थिर है और आँख तक फैली हुई है और दिखाने का काम करती है, वही सूर्य देवता कहलाती है और जो उसकी शाखा चंद्रमा में केंद्रित और हृदय कमल तक फैली हुई है और विशेष सोच-समझ का काम करती है, वही चंद्र देवता कहलाती है, और उन्हीं का सूफी लोग सूर्य और चंद्र का मुअक्कल या देखने सोचने का फरिश्ता कहा करते हैं। और ये सब देवता या इन्द्रियाँ अपने विशेष काम में बद्ध यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न नाम रखती है, किंतु सब प्रजापति की शाखाएँ हैं जो करने की आत्मा है। और शाखाएँ वास्तव में भिन्न नहीं होतीं, वरन् सब की सब एक वृक्ष होती हैं, इसलिये ये देवता भी सब के सब एक ईश्वर हैं।

(१२७) इसकी विवेचना में यद्यपि हमारे पास बड़ी-बड़ी दार्शनिक युक्तियाँ हैं, किंतु हम इसलिये नहीं कहते कि यह सूक्ष्म युक्तियाँ अदार्शनिकों की समझ में नहीं आ सकतीं। उत्तम है कि हम वैदिक आख्यानों से भाषा जानने वालों पर उन्हें खोलें। इसलिये हम "दो तत्वचेत्ताओं का विवाद" वेदों से अनुवादित करते हैं जो एक सगुण विद्या का विद्वान् अर्थात् इसी करने वाली आत्मा का ज्ञाता और ज्ञानी था, और दूसरा इस देखने वाली आत्मा से भी परिचित था और इसको भली भाँति जानता था। पहले का नाम बालाकी गर्ग गोत्र का ब्राह्मण है; दूसरे का नाम अजातशत्रु है, जो काशी का राजा था। यह गार्ग्य तो केवल करने वाली आत्मा (प्राण) को जानता था और वह राजा देखने वाली आत्मा को भी पहचानता था।

(१२८) * यजुर्वेद के आरण्यक भाग में हम यों सुनते हैं

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय दूसरा आरम्भ से

जलों से शरीरी हो कर उन्हीं में तैरता वनस्पति के रूप में आया हुआ यज्ञों में काम आता है, जिसे सोम बोलते हैं, और इसी को वेदविद् ब्राह्मण सोमराज कहते हैं। इसी को चंद्र, वनस्पति, यज्ञ और मन में उनका अभिमानी जानता हुआ उपासना करता हूँ। वह जो उसे इस प्रकार उपासता है, दिन-दिन उसके वंश की उन्नति होती है, दूध घृत अन्न सब कुछ उसके होता है, घटता नहीं।

(१४२) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बिजली, त्वचा और हृदय-कमल में व्यापक है और उनका अभिमानी हुआ कर्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी को उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ, कि इसी का अवलंबन करो।

(१४३) राजा ने सिर हिलाया और कहा कि नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक तेजोमय देवता है और मैं इसे बिजली, देह की त्वचा और मन के भीतर एक ही देवता हुआ उन्हीं का अभिमानी और निज तेज में कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है आप भी तेजस्वी होता है और उसकी संतान भी तेजस्वी जीवन व्यतीत करती है।

(१४४) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बाहर के आकाश और हृदय-आकाश में व्यापक है और उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१४५) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इस में भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक देवता है जो सब में पूर्ण हुआ सब कुछ करता है और देखने में उखड़ता नहीं। मैं भी इसे बाहर और भीतर के आकाश में एक ही अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो

जलों से शरीरी हो कर उन्हीं में तैरता वनस्पति के रूप में आया हुआ यज्ञों में काम आता है, जिसे सोम बोलते हैं, और इसी को वेदविद् ब्राह्मण सोमराज कहते हैं। इसी को चंद्र, वनस्पति, यज्ञ और मन में उनका अभिमानी जानता हुआ उपासना करता हूँ। वह जो उसे इस प्रकार उपासता है, दिन-दिन उसके वंश की उन्नति होती है, दूध घृत अन्न सब कुछ उसके होता है, घटता नहीं।

(१४२) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बिजली, त्वचा और हृदय-कमल में व्यापक है और उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसी को उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ, कि उसी का अवलंबन करो।

(१४३) राजा ने शिर हिलाया और कहा कि नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक तेजोमय देवता है और मैं इसे बिजली, देह की त्वचा और मन के भीतर एक ही देखता हुआ उन्हीं का अभिमानी और निज तेज से कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है आप भी तेजस्वी होता है और उसकी संतान भी तेजस्वी जीवन व्यतीत करती है।

(१४४) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बाहर के आकाश और हृदय-आकाश में व्यापक है और उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१४५) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इस में भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक देवता है जो सब में पूर्ण हुआ सब कुछ करता है और देखने में उखड़ता नहीं। मैं भी इसे बाहर और भीतर के आकाश में एक ही अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो

होती है और उस संतान के भी सब आश्रय या उपजीवी हो जाते हैं।

(१५०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो पानियों, वीर्य और हृदय में एक हो कर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ, तुम्हें भी कहता हूँ कि उसी का अवलंबन करो।

(१५१) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा, नहीं-नहीं। इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक देवता है। इसे, प्रतिरूप बोलते हैं। मैं भी इसको पानियों, वीर्य और हृदय में एक अभिमानी देवता कर्त्ता-भोक्ता, उपासना हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, उसकी संतति में शुद्ध संतान ही उत्पन्न होती हैं, उसकी जाति में जारज (हराम की) संतान उत्पन्न नहीं होती।

(१५२) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो दर्पणों, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में अभिमानी हो कर कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि तुम भी उसका अवलंबन करो।

(१५३) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक आत्मा है, जिसे मन-मोहन कहते हैं। मैं भी इसे दर्पणों, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता देवता जानता हुआ उपासता हूँ। वह जो इसकी इस तरह उपासना करते हैं, आप मन-मोहन होते और संतान भी मन-मोहन उत्पन्न करते हैं। उन्हीं पर प्रत्येक देख कर मोहित हो जाता है। वास्तव में यह सदाचार और सौंदर्य का देवता है।

(१५४) तब गार्ग्य बोला, यह पुरुष जो इदं, तत् इत्यादि संकेत, और इसके साथ २ प्राणात्मा में जीवन का कारण है औ

होती है और उस संतान के भी सब आश्रय या उपजीवी हो जाते हैं।

(१५०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो पानियों, वीर्य और हृदय में एक हो कर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ, तुम्हें भी कहता हूँ कि उसी का अवलंबन करो।

(१५१) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा, नहीं-नहीं। इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक देवता है। इसे, प्रतिरूप बोलते हैं। मैं भी इसको पानियों, वीर्य और हृदय में एक अभिमानी देवता कर्ता-भोक्ता, उपासना हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, उसकी संतति में शुद्ध संतान ही उत्पन्न होती हैं, उसकी जाति में जारज (हराम की) संतान उत्पन्न नहीं होती।

(१५२) तब गर्ग्य बोला—यह पुरुष जो दर्पणों, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में अभिमानी हो कर कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि तुम भी उसका अवलंबन करो।

(१५३) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक आत्मा है, जिसे मन-मोहन कहते हैं। मैं भी इसे दर्पणों, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता देवता जानता हुआ उपासता हूँ। वह जो इसकी इस तरह उपासना करते हैं, आप मन-मोहन होते और संतान भी मन-मोहन उत्पन्न करते हैं। उन्हीं पर प्रत्येक देख कर मोहित हो जाता है। वास्तव में यह सदाचार और सौंदर्य का देवता है।

(१५४) तब गार्ग्य बोला, वह पुरुष जो इदं, तत् इत्यादि संकेत, और इसके साथ २ प्राणात्मा में जीवन का कारण है औ

भौहों और हृदय में एक करके जानता-पहचानता हूँ और उपासता हूँ। वह जो इसे इस तरह उपासता है, दीर्घ-आयु वाला है और नियत काल तक जीवित रहता है, बीच में नहीं मरता।

(१६०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो प्रजापति, बुद्धि और हृदय में एक अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ, कि तुम इसी की उपासना करो।

(१६१) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा नहीं नहीं। इस में भी झगड़ा मत करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक महान् देव है जो निकटवर्ती देवता है, और सब देवता इसी एक की शाखाएँ हैं, हम इसी को हिरण्य गर्भ कहते हैं, साधारण लोग इसी को ईश्वर कहतेहैं, और यही तत्त्वविदों में प्रथम बुद्धि (सोच) सूफ़ियों में पहिला संकल्प वा फुरना अथवा आदि कारण कहलाता है। मैं इसे प्रजापति, बुद्धि और हृदय में व्यापक देखता हुआ सबका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है बुद्धिमान और विचारवान् कहलाता है, और उसी की सन्तान भी बुद्धिमान होती है।

(१६२) तब गार्ग्य चुपका हो गया। आगे कुछ न बोला। क्योंकि देवताओं की आरम्भ से अन्तिम पंक्ति तक जितने देवता हैं वह उस ने क्रमानुसार बतलाए, यहाँ तक कि जो आदि संकल्प रूप ईश्वर का पद है उसे भी प्रकट कर दिया, और ये सब देवता उसी की शाखाएँ हैं इमने अपने की आत्मा (प्राण) विवेक करके दिखलाई है। राजा ने सब से शिर हिलाया और उन की उपासनाओं के फल और परिणाम भी साथ-साथ वर्णन कर दिए, जिस से कि गार्ग्य जान ले कि, राजा उन्हें जानता और पहचानता है, और यह कि निस्संदेह

मौहों और हृदय में एक करके जानता-पहचानता हूँ और उपासता हूँ। वह जो इसे इस तरह उपासता है, दीर्घ-आयु वाला है और नियत काल तक जीवित रहता है, बीच में नहीं मरता।

(१६०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो प्रजापति, बुद्धि और हृदय में एक अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ, कि तुम इसी की उपासना करो।

(१६१) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा नहीं नहीं। इस में भी झगड़ा मत करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक महान् देव है जो निकटवर्ती देवता है, और सब देवता इसी एक की शाखाएँ हैं, हम इसी को हिरण्य गर्भ कहते हैं, साधारण लोग इसी को ईश्वर कहते हैं, और यही तत्त्वविदों में प्रथम बुद्धि (सोच) सूफ़ियों में पहिला संकल्प वा फ़ुरना अथवा आदि कारण कहलाता है। मैं इसे प्रजापति, बुद्धि और हृदय में व्यापक देखता हुआ सबका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है बुद्धिमान और विचारवान् कहलाता है, और उसी की सन्तान भी बुद्धिमान होती है।

(१६२) तब गार्ग्य चुपका हो गया। आगे कुछ न बोला। क्योंकि देवताओं की आरम्भ से अन्तिम पंक्ति तक जितने देवता हैं वह उस ने क्रमानुसार बतलाए, यहाँ तक कि जो आदि संकल्प रूप ईश्वर का पद है उसे भी प्रकट कर दिया, और ये सब देवता उसी की शाखाएँ हैं इसने करने की आत्मा (प्राण) विवेक करके दिखलाई है। राजा ने सब से शिर हिलाया और उन की उपासनाओं के फल और परिणाम भी साथ-साथ वर्णन कर दिए, जिस से कि गार्ग्य जान ले कि राजा उन्हें जानता और पहचानता है, और यह कि निस्संदेह

और सेवक हैं । स्वामी तो वही अकेली देखने की आत्मा है जिसके लिये ये सब काम करते हैं। बिना इस के ये सब बेकार वा व्यर्थ होते हैं, और कुछ नहीं जानते। यद्यपि वास्तविक करना उस (साक्षी आत्मा) में नहीं, तो भी उसके लिये जो यह सेवक (देवता) करते हैं, वही अकेला आत्मा उसका स्वामी उसमें कर्ता भोक्ता है।

(१६६) सोए हुए के पास जाना इसलिये आवश्यक था कि जाग्रत् में करने की आत्मा (प्राण) और वह देखने की आत्मा दोनों स्वामी और पति की तरह मिली हुई आँख, नाक, कान में काम करती हैं. अनजान को एका-एक अंतर नहीं हो सकता कि इनमें कौन-सी है जो देखती है और कौन-सी है जो करती है? क्योंकि उनके अपने-अपने धर्म दूसरे के ज्ञात होते हैं. वास्तव में वह जो देखती है स्वयं दिखाई नहीं देती, और वह जो करती है, दिखाई देती है, स्वयं नहीं देखती। जागृति में उसका देखना इसका देखना प्रतीत होता है, क्योंकि देखने वाली तो स्वयं दिखाई नहीं देती। फिर किस प्रकार उसका देखना इसका समझा जाय? वरन् यह जो करती दिखाई देती है, उसमें प्रकट हुई एक होती है, इसलिये उसका देखना इसका देखना अनुमान होता है।

(१६७) नींद में करने की आत्मा (प्राण) तो आँख नाक कान में विद्यमान होती है, परंतु देखने की आत्मा उससे अलग हो जाती है, जिस कारण से सामान्य लोग उसे नींद में बेख़बरी की अवस्था बोलते हैं। यहां उन का विवेक हो सकता है कि करने की आत्मा अलग है, देखने की आत्मा अलग। और यह स्पष्ट है कि करना वास्तव में सेवक का धर्म है स्वामी का धर्म नहीं। वरन् जिस लिये कियाजाता है, वही भोक्ता, वही स्वामी होता है।

और सेवक हैं । स्वामी तो वही अकेली देखने की आत्मा है जिसके लिये ये सब काम करते हैं । बिना इस के ये सब बेकार वा व्यर्थ होते हैं, और कुछ नहीं जानते । यद्यपि वास्तविक करना उस (साक्षी आत्मा) में नहीं, तो भी उसके लिये जो यह सेवक (देवता) करते हैं, वही अकेला आत्मा उसका स्वामी उसमें कर्ता भोक्ता है ।

(१६६) सोए हुए के पास जाना इसलिये आवश्यक था कि जाग्रत् में करने की आत्मा (प्राण) और वह देखने की आत्मा दोनों स्वामी और पति की तरह मिली हुई आँख, नाक, कान में काम करती हैं. अनजान को एका-एक अंतर नहीं हो सकता कि उनमें कौन-सी है जो देखती है और कौन-सी है जो करती है ? क्योंकि उनके अपने-अपने धर्म दूसरे के ज्ञात होते हैं. वास्तव में वह जो देखती है स्वयं दिखाई नहीं देती, और वह जो करती है, दिखाई देती है, स्वयं नहीं देखती । जागृति में उसका देखना इसका देखना प्रतीत होता है, क्योंकि देखने वाली तो स्वयं दिखाई नहीं देती । फिर किस प्रकार उसका देखना इसका समझा जाय ? वरन् यह जो करती दिखाई देती है, उसमें प्रकट हुई एक होती है, इसलिये उसका देखना इसका देखना अनुमान होता है ।

(१६७) नींद में करने की आत्मा (प्राण) तो आँख नाक कान में विद्यमान होती है, परंतु देखने की आत्मा उससे अलग हो जाती है, जिस कारण से सामान्य लोग उसे नींद में बेखबरी की अवस्था बोलते हैं । यहां उन का विवेक हो सकता है कि करने की आत्मा अलग है, देखने की आत्मा अलग । और यह स्पष्ट है कि करना वास्तव में सेवक का धर्म है स्वामी का धर्म नहीं । वरन् जिस लिये कियाजाता है, वही भोक्ता, वही स्वामी होता है ।

वता के भोक्ता नहीं, क्योंकि यदि ये स्वयं भोक्ता होते, तो उस समय भी जब वे बुला गये थे, वाणी को भोगते। यह नियम है कि जिसका जो भोग होता है, जब वह उसे मिले, तो वह भोग लेता है। देखो आग का काम जलाना और प्रकाश देना है, जब उसमें कोई तिनका फेंक दिया जाता है, तो उसी समय उसे जलाती और प्रकाश देती है। यदि ये (देवता) अपने आप कुछ सुनते समझते होते, तो बुलाने से वाणी को सुनते और समझ का प्रकाश देते। यद्यपि ऐसा नहीं हुआ। तो जिस तरह तिनका फेंकने से जब न जले तो निश्चय होता है कि यह अग्नि नहीं है, उसी तरह वाणी के न सुनने से निश्चय होता है कि गार्ग्य के उपास्य (देवता) अपने आप वाणी के भोक्ता नहीं। जिस तरह वे वाणी के भोक्ता नहीं, उसी तरह से देखने चखने और सूंघने इत्यादि के भी भोक्ता नहीं। सब भोग देने के लिये सेवक और साधन हैं। वह जो सेव्य और भोक्ता है, इन से पृथक् है और वही वास्तव में उपास्य है।

(१७२) देखो, सोए हुए में जिस प्रकार शब्द सुनाई नहीं देता, उसी तरह देखने की वस्तुएँ भी यद्यपि पास धरी होती हैं, किंतु दिखाई नहीं देतीं, और ऐसे ही गंध की वस्तुएँ भी पास होती हैं किंतु सूंघी नहीं जातीं, ऐसे ही मुख में यदि कुछ वस्तुएँ डालें तो न वह स्वाद देती हैं न खाई जाती हैं। इस लिये भाषाविदों को पूरा विश्वास हो सकता है कि जिस प्रकार पत्थर भी भोक्ता नहीं, उसी प्रकार सेवा करने की आत्माएँ (प्राण) भी जो देवता हैं अपने आप भोक्ता नहीं। जिस प्रकार चलाया हुआ पत्थर भी चोट देता है, उसी तरह ये करने की आत्माएँ भी ऐसे चेतन की चलाई हुई चलती और काम करती हैं; वास्तव में पत्थर के समान जड़ हैं। जिस प्रकार पत्थर को उपास्य ठहराना जड़ को उपास्य ठहराना है, उसी प्रकार प्राण को

वता के भोक्ता नहीं, क्योंकि यदि ये स्वयं भोक्ता होते, तो उस समय भी जब वे बुला गये थे, वाणी को भोगते। यह नियम है कि जिसका जो भोग होता है, जब वह उसे मिले, तो वह भोग लेता है। देखो आग का काम जलाना और प्रकाश देना है, जब इसमें कोई तिनका फेंक दिया जाता है, तो उसी समय उसे जलाती और प्रकाश देती है। यदि ये (देवता) अपने आप कुछ सुनते समझते होते, तो बुलाने से वाणी को सुनते और समझ का प्रकाश देते। यद्यपि ऐसा नहीं हुआ। तो जिस तरह तिनका फेंकने से जब न जले तो निश्चय होता है कि यह अग्नि नहीं है, उसी तरह वाणी के न सुनने से निश्चय होता है कि गार्ग्य के उपास्य (देवता) अपने आप वाणी के भोक्ता नहीं। जिस तरह वे वाणी के भोक्ता नहीं, उसी तरह से देखने चखने और सूंघने इत्यादि के भी भोक्ता नहीं। सब भोग देने के लिये सेवक और साधन हैं। वह जो सेव्य और भोक्ता है, इन से पृथक् है और वही वास्तव में उपास्य है।

(१७२) देखो, सोए हुए में जिस प्रकार शब्द सुनाई नहीं देता, उसी तरह देखने की वस्तुएँ भी यद्यपि पास धरी होती हैं, किंतु दिखाई नहीं देतीं, और ऐसे ही गंध की वस्तुएँ भी पास होती हैं किंतु सूंघी नहीं जातीं, ऐसे ही मुख में यदि कुछ वस्तुएँ डालें तो न वह स्वाद देती है न खाई जाती है। इस लिये भाषाविदों को पूरा विश्वास हो सकता है कि जिस प्रकार पत्थर भी भोक्ता नहीं, उसी प्रकार सेवा करने की आत्माएँ (प्राण) भी जो देवता हैं अपने आप भोक्ता नहीं। जिस प्रकार चलाया हुआ पत्थर भी चोट देता है, उसी तरह ये करने की आत्माएँ भी ऐसे चेतन की चलाई हुई चलती और काम करती हैं; वास्तव में पत्थर के समान जड़ हैं। जिस प्रकार पत्थर को उपास्य ठहराना जड़ को उपास्य ठहराना है, उसी प्रकार प्राण को

प्रकार ये देवता भी अंग और इंद्रियों के तद्वत् हैं, किस प्रकार उनके नाम से वाणी को सुने? इसी कारण से सेवा करने के देवता के नाम से राजा ने उसे बुलाया और जगाया, न जागा।

(१७६) गार्ग्य के मत में तो यही देवता कर्त्ता, भोक्ता, स्वामी हैं, परंतु इस समय चेतन आत्मा से पृथक् हैं, अतः सुनते समझते नहीं। इसलिये सिद्ध होता है कि काम करने के देवता सेवक हैं, भोक्ता या सेव्य नहीं। यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि काम करने की शक्तियाँ यद्यपि देवता हैं, परन्तु मनुष्य के भीतर आई हुई वह सर्वसाधारण के निकट देवता नाम नहीं पातीं, वरन् इंद्रिय और प्राण नाम पाती हैं, और उन्हीं प्रसिद्ध नामों से नहीं बुलाया गया, इसलिये उन्हों ने नहीं सुना, तो यह गुमान भी ठीक नहीं। क्योंकि गार्ग्य ने सिद्ध किया था कि जो चंद्रमा में और सूर्य में है, वही चंद्र देवता है और वही स्वामी है। जब उपासना करने वाला उन्हें पहचानता है, तो क्या वे अपने नामों को नहीं जानते? जानते तो अवश्य हैं परन्तु जिस के कारण उन में पहचान होती है, वह प्रसाद की आत्मा उन में प्रकट नहीं, इसलिये वह सब मृतक और जड़ हैं।

(१७७) यदि कोई आपत्ति करे कि "अच्छा आत्मा के नाम लेने से भी तो आत्मा आवाज़ नहीं सुनता", तो यह भी आपत्ति बेसमझी की है, क्योंकि आत्मा तो कर्त्ता-भोक्ता राजा ने कल्पित किया है, और वह इस समय स्वप्न के भोग पा रहा है और जाग्रत के भोग देने वाले साधनों से सम्बन्ध छोड़ गया है, इसी कारण सामान्य लोग उसे सोता हुआ कहते हैं, सोया हुआ क्योंकर सुने?

(१७८) किंतु प्राण देवता तो सोया हुआ नहीं, वरन् अपना काम करता है। देखो श्वास लेता है। यदि वह सोच समझ का गुण रखता, तो अवश्य था कि वाणी का भोग

प्रकार ये देवता भी अंग और इंद्रियों के तद्वत् हैं, किस प्रकार उनके नाम से वाणी को सुने ? इसी कारण से सेवा करने के देवता के नाम से राजा ने उसे बुलाया और जगाया, न जागा।

(१७६) गार्ग्य के मत में तो यही देवता कर्त्ता, भोक्ता, स्वामी हैं. परंतु इस समय चेतन आत्मा से पृथक् हैं, अतः सुनते समझते नहीं। इसलिये सिद्ध होता है कि काम करने के देवता सेवक हैं, भोक्ता या सेव्य नहीं। यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि काम करने की शक्तियाँ यद्यपि देवता हैं, परन्तु मनुष्य के भीतर आई हुई वह सर्वसाधारण के निकट देवता नाम नहीं पातीं, वरन् इंद्रिय और प्राण नाम पाती हैं, और उन्हीं प्रसिद्ध नामों से नहीं बुलाया गया, इसलिये उन्हों ने नहीं सुना, तो यह गुमान भी ठीक नहीं। क्योंकि गार्ग्य ने सिद्ध किया था कि जो चंद्रमा में और सूर्य में है, वही चंद्र देवता है और वही स्वामी है। जब उपासना करने वाला उन्हें पहचानता है, तो क्या वे अपने नामों को नहीं जानते? जानते तो अवश्य हैं परन्तु जिस के कारण उन में पहचान होती है, वह प्रसाद की आत्मा उन में प्रकट नहीं, इसलिये वह सब मृतक और जड़ हैं।

(१७७) यदि कोई आपत्ति करे कि "अच्छा आत्मा के नाम लेने से भी तो आत्मा आवाज़ नहीं सुनता", तो यह भी आपत्ति बेसमझी की है, क्योंकि आत्मा तो कर्त्ता-भोक्ता राजा ने कल्पित किया है, और वह इस समय स्वप्न के भोग पा रहा है और जाग्रत के भोग देने वाले साधनों से सम्बन्ध छोड़ गया है, इसी कारण सामान्य लोग उसे सोता हुआ कहते हैं, सोया हुआ क्योंकर सुने ?

(१७८) किंतु प्राण देवता तो सोया हुआ नहीं, वरन् अपना काम करता है। देखो श्वास लेता है। यदि वह सोच समझ का गुण रखता, तो अवश्य था कि वाणी का भोग

है, ठीक नहीं है, क्योंकि वह बद्ध और अष्ट है, यद्यपि करने का साधन या यंत्र है।

(१८१) वह दूसरी आत्मा देखने की, यद्यपि निजी देखना रखती है, करना या निश्चय या निजी विचार नहीं रखती, तो भी इस प्राण देवता (सेवक) की सेवाएँ उस में कहने मात्र संबंध पाती हैं और इन दूसरों के कामों से वही कर्त्ता भोक्ता होता है, वही सेव्य और वही मुक्त है जिसे निर्गुण कहते हैं, और उसी की पहचान पर मुक्ति निर्भर है।

(१८२) वास्तव में यों है कि यही आत्मा ईश्वर है, पर देखना तो इस का निजी गुण है और कर्त्ता-भोक्ता परधर्म इस में कल्पित हैं। वह जो ईश्वर को नित्य कर्ता और नित्य भोक्ता मानते हैं, वास्तव में भूल करते हैं, क्योंकि वह इसी प्राणात्मा को जो करने की आत्मा है ईश्वर जानते हैं, और देखना गुण जो आत्मा का है इस में कल्पित आया हुआ इसी का पाते हैं, इस लिये इसे अकर्त्ता, अभोक्ता और माया से कर्त्ता-भोक्ता मानते हैं, और यही इस अविवेक का यहाँ फल है।

(१८३) अब क़दाचित् मायाविद् यह दरियाफ़्त करे कि फिर क्यों राजा ने हाथ से उसे हिला-हिला जगाया और क्यों ज़ोर से पुकारा? तो इसका कारण यह है कि जैसे तिनकों को आग पर रख कर हिलाते और फूंकते हैं, जिससे कि भिन्न अग्नि तिनकों पर प्रज्वलित हो जाय, इसी तरह हिलाने और उच्च स्वर से पुकारने से तात्पर्य यह था कि ये सेवक देवता जो गार्ग्य के उपास्य हैं, उस चेतन आत्मा से प्रज्वलित और दीप्तमान हो जायँ और वह दीप्तमान हो गये। इस लिये वह सोया हुआ जाग उठा और उस के आने से वह सोचता समझता हो गया, और सत्कार पूर्वक राजा से बातें करने लग गया।

(१८४) राजा का तात्पर्य यह था कि इन सेवा करने वाले

है, ठीक नहीं है, क्योंकि वह जड़ और अज्ञ है, यद्यपि करने का साधन या यंत्र है ।

(१८१) वह दूसरी आत्मा देखने की, यद्यपि निजी देखना रखती है, करना या निश्चय या निजी विचार नहीं रखती, तो भी इस प्राण देवता (सेवक) की सेवाएँ उस में कहने मात्र संबंध पाती हैं और इन दूसरों के कामों से वही कर्त्ता भोक्ता होता है, वही सेव्य और वही मुक्त है जिसे निर्गुण कहते हैं, और उसी की पहचान पर मुक्ति निर्भर है ।

(१८२) वास्तव में यों है कि यही आत्मा ईश्वर है, पर देखना तो इस का निजी गुण है और कर्त्ता-भोक्ता परधर्म इस में कल्पित हैं । वह जो ईश्वर को नित्य कर्ता और नित्य भोक्ता मानते हैं, वास्तव में भूल करते हैं, क्योंकि वह इसी प्राणात्मा को जो करने की आत्मा है ईश्वर जानते हैं, और देखना गुण जो आत्मा का है इस में कल्पित आया हुआ इसी का पाते हैं, इस लिये इसे अकर्ता, अभोक्ता और माया से कर्त्ता-भोक्ता मानते हैं, और यही इस अविवेक का यहाँ फल है ।

(१८३) अब कदाचित् भाषाविद् यह दरियाफ़्त करे कि फिर क्यों राजा ने हाथ से उसे हिला-हिला जगाया और क्यों ज़ोर से पुकारा ? तो इसका कारण यह है कि जैसे तिनकों को आग पर रख कर हिलाते और फूंकते हैं, जिससे कि भिन्न अग्नि तिनकों पर प्रज्वलित हो जाय, इसी तरह हिलाने और उच्च स्वर से पुकारने से तात्पर्य यह था कि ये सेवक देवता जो गार्ग्य के उपास्य हैं, उस चेतन आत्मा से प्रज्वलित और दीप्तमान हो जायँ और वह दीप्तमान हो गये । इस लिये वह सोया हुआ जाग उठा और उस के आने से वह सोचता समझता हो गया, और सत्कार पूर्वक राजा से बातें करने लग गया ।

(१८४) राजा का तात्पर्य यह था कि इन सेवा करने वाले

तरह चन्द्रलोक और सूर्यलोक में और ब्रह्मलोक में जहाँ-जहाँ यह करने की आत्मा फैली है, सब में यह शुद्धात्मा प्रज्वलित हुआ उन में उन के कामों के कारण कर्ता-भोक्ता होता है।

(१८७) मनुष्य में जितने भोग देने के लिये यह करने की आत्मा (प्राण) कर्म के बंधन में संक्षिप्त खुली है, मानवी-भोग इसी के हैं। देवताओं में जितने अधिक भोगों के लिये खुली है, देवताओं के भोग भी इसी के हैं, और ब्रह्मलोक में उत्तम पुण्यों के कारण सत्य संकल्प रूप में खुली है, वहां सत्य संकल्प के भोग भी इसी के हैं। वास्तव में यही मनुष्य, यही प्रजापति है, तो भी प्रजापति के लोक में यह आत्मा इस करने की आत्मा (प्राण) के कारण सत्य संकल्प आदिक भोग पाता है और मनुष्य में इसी के कारण से असत संकल्प आदिक भोग पाता है, वास्तव में अकर्ता, अभोक्ता, दृष्टि स्वरूप, आनन्द स्वरूप है, किंतु अनजान इन सत्य संकल्पादि उपाधियो से उसे ईश्वर और असत संकल्प आदि उपाधियों से मनुष्य मानते हैं, और इन्हीं उपाधियों के कारण उसे बद्ध जानते हैं, यद्यपि वह इनके बंधन के अधीन नहीं (क्योंकि निद्रा में इन बंधनों से वह तत्काल चला जाता है, इस लिये बद्ध नहीं), वही निर्गुण का निर्गुण है। यह गार्ग्य को उसने बतलाया।

(१८८) फिर इस हेतु कि यह करने की आत्मा (प्राण) और शरीर गृह की तरह रचे जाते हैं, बिना शरीर के आत्मा कुछ नहीं कर सकती और बिना आत्मा के शरीर स्थिर नहीं रहता। जैसा कि खंभों के आधार पर घर स्थिर होता है, इसी तरह इस करने की आत्मा के आश्रय में शरीर स्थिर है। जिस प्रकार कि खंभो के निकालने से घर गिर जाता है, इसी तरह इस करने की आत्मा के उखड़ने से शरीर भी गिर जाता है। इससे ज्ञात

तरह चन्द्रलोक और सूर्यलोक में और ब्रह्मलोक में जहाँ-जहाँ यह करने की आत्मा फैली है, सब में यह शुद्धात्मा प्रज्वलित हुआ उन में उन के कामों के कारण कर्ता-भोक्ता होता है।

(१८७) मनुष्य में जितने भोग देने के लिये यह करने की आत्मा (प्राण) कर्म के बंधन में संक्षिप्त खुली है, मानवी-भोग इसी के हैं। देवताओं में जितने अधिक भोगों के लिये खुली है, देवताओं के भोग भी इसी के हैं, और ब्रह्मलोक में उत्तम पुण्यों के कारण सत्य संकल्प रूप में खुली है, वहां सत्य संकल्प के भोग भी इसी के हैं। वास्तव में यही मनुष्य, यही प्रजापति है, तो भी प्रजापति के लोक में यह आत्मा इस करने की आत्मा (प्राण) के कारण सत्य संकल्प आदिक भोग पाता है और मनुष्य में इसी के कारण से असत्य संकल्प आदिक भोग पाता है, वास्तव में अकर्ता, अभोक्ता, दृष्टि स्वरूप, आनन्द स्वरूप है, किंतु अनजान इन सत्य संकल्पादि उपाधियों से उसे ईश्वर और असत्य संकल्प आदि उपाधियों से मनुष्य मानते हैं, और इन्हीं उपाधियों के कारण उसे बद्ध जानते हैं, यद्यपि वह इनके बंधन के अधीन नहीं (क्योंकि निद्रा में इन बंधनों से वह तत्काल चला जाता है, इस लिये बद्ध नहीं), वही निर्गुण का निर्गुण है। यह गार्ग्य को उसने जतलाया।

(१८८) फिर इस हेतु कि यह करने की आत्मा (प्राण) और शरीर गृह की तरह रचे जाते हैं, विना शरीर के आत्मा कुछ नहीं कर सकती और विना आत्मा के शरीर स्थिर नहीं रहता। जैसा कि खंभों के आधार पर घर स्थिर होता है, इसी तरह इस करने की आत्मा के आश्रय में शरीर स्थिर है। जिस प्रकार कि खंभों के निकालने से घर गिर जाता है, इसी तरह इस करने की आत्मा के उखड़ने से शरीर भी गिर जाता है। इससे ज्ञात हुआ कि संपूर्ण देवता, जो करने की आत्मा है, खंभे की तरह

(१६२) दूसरा कारण यह है कि भोग कर्मों के कारण से होता है। संघात का संघात से या संघात के अंश का संघात से अपने कर्मों से संबंध नहीं, वरन् वही संबंध है जो अंग का संघात से होता है। और आत्मा का कर्म-संबंध भोग पर्यंत है और विविध है। जब उसे जाग्रत् के भोग पाने होते हैं, तो जागता है। जब नींद के भोग पाने होते हैं, तो सो जाता है। और फिर जाग्रत् में भी (भोग) विविध हैं, कभी दुःख कभी सुख, कभी मोह कभी विवेक, कभी भलाइयों कभी बुराइयों के संबंध दिखाई देते हैं, किंतु अंश का पूर्ण से एक ही प्रकार का संबंध होता है, विविध नहीं होता।

(१९३) देखो, क्या छत क्या दीवारें, क्या दीवार की ईंटें, क्या खंभे, सबको घर के साथ एक ही संबंध परस्पर जोड़ने का है, उस से विभिन्न नहीं। परंतु मनुष्य को उसमें बैठना-सोना, खाना-पीना, गरम-ठंढी हवा पाना, कभी इस कमरे में कभी उस कमरे में आना-जाना विविध अपेक्षा से विविध संबंध होते हैं, इसलिये मनुष्य भोक्ता है, घर भोग्य है, और शरीर भी सहित करने की आत्माओं के, जो गार्ग्य ने दिखलाई, एक ही प्रकार का मिलाप-संबंध यावज्जीवन रखते हैं। आत्मा विविध कर्म-संबंध रखता है, इसलिये भी प्राण कर्त्ता भोक्ता नहीं, यही आत्मा जो देखने की आत्मा है उनका स्वामी और उनका कर्त्ता-भोक्ता है।

(१९४) फिर इस हेतु कि खंभे, ताक, लकड़ी, दरवाज़ा इत्यादि जो घर के अंश हैं, अपने कर्मों के कारण अपना जन्म या अस्तित्व नहीं पाते, वरन् सब मनुष्य के लिये बनाये जाते हैं। और मनुष्य का उन में भोग पाना अपनी मज़दूरी के कारण होता है, चाहे वह स्वयं मज़दूरी करके बनाता है या दूसरे से धन देकर तैयार कराता है, या भाड़े पर उन्हें उपयोग में लाता है। फलतः उनकी तैयारी मनुष्य के कर्मों से होती है, अपने

(१९२) दूसरा कारण यह है कि भोग कर्मों के कारण से होता है। संघात का संघात से या संघात के अंश का संघात से अपने कर्मों से संबंध नहीं, वरन् वही संबंध है जो अंश का संघात से होता है। और आत्मा का कर्म-संबंध भोग पर्यंत है और विविध है। जब उसे जाग्रत् के भोग पाने होते हैं, तो जागता है। जब नींद के भोग पाने होते हैं, तो सो जाता है। और फिर जाग्रत् में भी (भोग) विविध हैं, कभी दुःख कभी सुख, कभी मोह कभी विवेक, कभी भलाइयों कभी बुराइयों के संबंध दिखाई देते हैं, किंतु अंश का पूर्ण से एक ही प्रकार का संबंध होता है, विविध नहीं होता।

(१९३) देखो, क्या छत क्या दीवारें, क्या दीवार की ईंटें, क्या खंभे, सबको घर के साथ एक ही संबंध परस्पर जोड़ने का है, उस से विभिन्न नहीं। परंतु मनुष्य को उसमें बैठना-सोना, खाना-पीना, गरम-ठंढी हवा पाना, कभी इस कमरे में कभी उस कमरे में आना-जाना विविध अपेक्षा से विविध संबंध होते हैं, इसलिये मनुष्य भोक्ता है, घर भोग्य है, और शरीर भी सचित करने की आत्माओं के, जो गार्ग्य ने दिखलाई, एक ही प्रकार का मिलाप-संबंध यावज्जीवन रखते हैं। आत्मा विविध कर्म-संबंध रखता है, इसलिये भी प्राण कर्त्ता भोक्ता नहीं, वही आत्मा जो देखने की आत्मा है उनका स्वामी और उनका कर्त्ता-भोक्ता है।

(१९४) फिर इस हेतु कि खंभे, ताक, लकड़ी, दरवाज़ा इत्यादि जो घर के अंश हैं, अपने कर्मों के कारण अपना जन्म या अस्तित्व नहीं पाते, वरन् सब मनुष्य के लिये बनाये जाते हैं। और मनुष्य का उन में भोग पाना अपनी मज़दूरी के कारण होता है, चाहे वह स्वयं मज़दूरी करके बनाता है या दूसरे से धन देकर तैयार कराता है, या भाड़े पर उसे उपयोग में लाता है। फलतः उनकी तैयारी मनुष्य के कर्मों से होती है, अपने

है, अविद्या और भ्रांति से जानता है, जैसा कि सर्व साधारण लोग भी घर का भोक्ता मनुष्य को समझते हैं, यद्यपि मनुष्य भी एक इसी आत्मा का पहला घर है, और फिर उस के द्वारा बाहर का घर बरन् संसार-रूप घर इसी के भोग के लिये तैयार हुआ है, और सब का स्वामी और भोक्ता यही चेतन-आत्मा है। हाँ क्रम यह है कि पहले उस का शरीर उस का भोग है, और फिर उस का घर और फिर सारा संसार। इस लिये मनुष्य जो घरों का भोक्ता उदाहरण में दिखलाया है, केवल बाह्य रूप से है, क्योंकि सर्व साधारण अविद्या के कारण उसे चेतन वाला जानते और भोक्ता ख्याल करते हैं। वास्तव में सारे संसार का भोक्ता यही आत्मा है, दूसरा नहीं।

(१९८) यद्यपि सारा संसार क्या यह क्या वह, सब इसी के भोग हैं, परन्तु अविद्या और कर्मों के बंधन में कुछ भोग पाता है कुछ नहीं पाता वरन् कुछ चाहता है, नहीं मिलते, तो अपनी दीनता देखता है, और जब विद्यावान् होता है, तो अपने आप को इन आत्माओं और कर्मों के बन्धन से मुक्त देखता है (क्योंकि निद्रा में उसे कोई भी बन्धन नहीं होता), तो फिर यह सब का भोक्ता हो जाता है। इस तरह अविद्या और कर्मों के कारण यही बद्ध और विद्या के कारण यही मुक्त होता है, वरन् अपनी स्वतंत्रता में वह कर्ता हुआ अकर्ता, और भोक्ता हुआ अभोक्ता होता है।

(१९९) जब विद्या के कारण वह, अपना स्वरूप अकर्ता अभोक्ता, नित्य मुक्त, अविनाशी आनन्द, सच्चिदानंद जानता है, तो उसे उतनी ही देर है, जब तक कि प्रारब्ध समाप्त नहीं होती, और फिर तो वह सब में सब कुछ होता हुआ सब का स्वामी, सब का भोक्ता, सत्य संकल्प होता है। इस प्रकार राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य को सोए हुए मनुष्य के निकट ले जा कर हाथ

है, अविद्या और भ्रांति से जानता है, जैसा कि सर्व साधारण लोग भी घर का भोक्ता मनुष्य को समझते हैं, यद्यपि मनुष्य भी एक इसी आत्मा का पहला घर है, और फिर उस के द्वारा बाहर का घर वरन् संसार-रूप घर इसी के भोग के लिये तैयार हुआ है, और सब का स्वामी और भोक्ता यही चेतन-आत्मा है। हाँ क्रम यह है कि पहले उस का शरीर उस का भोग है, और फिर उस का घर और फिर सारा संसार। इस लिये मनुष्य जो घरों का भोक्ता उदाहरण में दिखलाया है, केवल बाह्य रूप से है, क्योंकि सर्व साधारण अविद्या के कारण उसे चेतन वाला जानते और भोक्ता ख्याल करते हैं। वास्तव में सारे संसार का भोक्ता यही आत्मा है, दूसरा नहीं।

(१९८) यद्यपि सारा संसार क्या यह क्या वह, सब इसी के भोग हैं, परन्तु अविद्या और कर्मों के बंधन में कुछ भोग पाता है कुछ नहीं पाता वरन् कुछ चाहता है, नहीं मिलते, तो अपनी दीनता देखता है, और जब विद्यावान् होता है, तो अपने आप को इन आत्माओं और कर्मों के बन्धन से मुक्त देखता है (क्योंकि निद्रा में उसे कोई भी बन्धन नहीं होता), तो फिर यह सब का भोक्ता हो जाता है। इस तरह अविद्या और कर्मों के कारण यही बद्ध और विद्या के कारण यही मुक्त होता है, वरन् अपनी स्वतंत्रता में वह कर्ता हुआ अकर्ता, और भोक्ता हुआ अभोक्ता होता है।

(१९९) जब विद्या के कारण वह, अपना स्वरूप अकर्ता अभोक्ता, नित्य मुक्त, अविनाशी आनन्द, सच्चिदानंद जानता है, तो उसे उतनी ही देर है, जब तक कि प्रारब्ध समाप्त नहीं होती, और फिर तो वह सब में सब कुछ होता हुआ सब का स्वामी, सब का भोक्ता, सत्य संकल्प होता है। इस प्रकार राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य को सोए हुए मनुष्य के निकट ले जा कर हाथ

उस का आकाश है चला जाता है, तो कहा जाता है कि वह सोता है, वास्तव में वह सोता नहीं, वरन् उन करने की आत्माओं का प्रयोग नहीं करता है और उन की शक्तियाँ इस के साथ चली जाती हैं। इसलिये यों कहा जाता है कि वह सूंघने, वाक्, चक्षु, और कर्ण की शक्तियों तथा मन की शक्ति को अपने साथ ले गया। यहां मालूम हो सकता है कि वास्तव में वह अकर्त्ता अभोक्ता केवल दृष्टि और आनंद-मात्र है, उन के साथ मिलने से वह संसारी और बद्ध होता है। और ये संसारी बंधन उसे कोई बांध नहीं लेते, यदि बाँध लेते तो किस प्रकार ऐसी सुगमता से नींद में उन से अलग हो जाता।

(२०३) ऐ गार्ग्य! इस प्रकार की दरियाफ़्त से विवेक हो सकता है कि वह तेरा आत्मा है, क्योंकि तू उसके सोए हुए का निश्चय करता है कि मैं सो गया। और जब वह फिर इन करने की आत्माओं को वर्तता है, तू निश्चय करता है कि मैं सूंघता, बोलता, सुनता, सोचता और समझता हूँ। फिर ये सब गुण तुम में दूसरों के कल्पित होते हैं। इन कल्पित कामों के समय भी तू वास्तव में कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाता। तो भी जैसे सेना लड़ती है, तो यही कहा जाता है कि राजा लड़ता है, इस तरह तू भी कर्त्ता भोक्ता कहलाता है, क्योंकि तुझ बिन दूसरा कौन कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। शिल्पी यदि शस्त्र से कुछ चलाता है, तो शस्त्र कर्त्ता नहीं हो जाता, वरन् कर्त्ता वह होता है जिसके कारण शस्त्र काम करते हैं।

(२०४) इस प्रकार दूसरी आत्मा के कामों से तू कर्त्ता भोक्ता, संसारी, बद्ध अर्थात् सगुण ब्रह्म है, किंतु स्वरूप में वस्तुतः ज्यों का त्यों निर्गुण, असंग, नित्यमुक्त तू ही है, और दूसरी आत्माएँ सब तेरी सेवा की आत्माएँ हैं। यह शुद्ध आत्मा है, यही परब्रह्म है। इस से बढ़ कर आगे कुछ न

उस का आकाश है चला जाता है, तो कहा जाता है कि यह सोता है, वास्तव में यह सोता नहीं, वरन् उन करने की आत्माओं का प्रयोग नहीं करता है और उन की शक्तियाँ इस के साथ चली जाती हैं। इसलिये यों कहा जाता है कि वह सूंघने, वाक्, चक्षु, और कर्ण की शक्तियों तथा मन की शक्ति को अपने साथ ले गया। यहां मालूम हो सकता है कि वास्तव में यह अकर्त्ता अभोक्ता केवल दृष्टि और आनंद-मात्र है, उन के साथ मिलने से यह संसारी और बद्ध होता है। और ये संसारी बंधन उसे कोई बांध नहीं लेते, यदि बाँध लेते तो किस प्रकार ऐसी सुगमता से नींद में उन से अलग हो जाता।

(२०३) ऐ गार्ग्य! इस प्रकार की दरियाफ्त से विवेक हो सकता है कि वह तेरा आत्मा है, क्योंकि तू उसके सोए हुए का निश्चय करता है कि मैं सो गया। और जब वह फिर इन करने की आत्माओं को वर्तता है, तू निश्चय करता है कि मैं सूंघता, बोलता, सुनता, सोचता और समझता हूं। फिर ये सब गुण तुम में दूसरों के कल्पित होते हैं। इन कल्पित कामों के समय भी तू वास्तव में कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाता। तो भी जैसे सेना लड़ती है, तो यही कहा जाता है कि राजा लड़ता है, इस तरह तू भी कर्त्ता भोक्ता कहलाता है, क्योंकि तुझ बिन दूसरा कौन कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। शिल्पी यदि शस्त्र से कुछ बनाता है, तो शस्त्र कर्त्ता नहीं हो जाता, वरन् कर्त्ता वह होता है जिसके कारण शस्त्र काम करते हैं।

(२०४) इस प्रकार दूसरी आत्मा के कामों से तू कर्त्ता भोक्ता, संसारी, बद्ध अर्थात् सगुण ब्रह्म है, किंतु स्वरूप में वस्तुतः ज्यों का त्यों निर्गुण, असंग, नित्यमुक्त तू ही है, और दूसरी आत्माएँ सब तेरी सेवा की आत्माएँ हैं। यह शुद्ध आत्मा है, यही परब्रह्म है। इस से बढ़ कर आगे कुछ न

(२०८) जाग्रत् और स्वप्न के बन्धन उसे बंदी नहीं करते, क्योंकि जहाँ उपाधियाँ किसी को वन्दी करलें, फिर दूसरे लोक में उसे सैर करनी नहीं मिलती। यहां तो निश्चय होता है कि वह सम्राट् के समान स्वतंत्र, दोनों लोकों में क्या जाग्रत क्या स्वप्न, जो उस के जाग्रत् और स्वप्न राज्य हैं, सैर करता है। जिस प्रकार सम्राट् भी अपने राज्य में सैर करता वन्दी नहीं होता, वरन् स्वतन्त्र है, इसी तरह यह भी अपने साम्राज्यों में, जो जाग्रत् स्वप्न हैं, फिरता हुआ उन का अधीन नहीं, वरन् उन का स्वामी और पति है, और उसी से ये सब शक्तियाँ पाते उस के लिये काम करते हैं।

(२०९) जिस प्रकार सम्राट् भी अपने सेवकों की शक्तियाँ और उच्च पद छीन लेता है और काम से पृथक् कर देता है, उसी तरह यह भी इंद्रिय-रूपी सेवकों को काम से पृथक् करके सुषुप्ति में जो उस का सुषुप्ति-राज्य है चला जाता है, फिर किस प्रकार कह सकते हैं कि वह इन्द्रियों या मनोवृत्तियों का बंधुआ (उपाधिवान्) या अधीनी है? कदापि नहीं। सुषुप्ति में भी अविद्या और अज्ञान का बन्धन उस में उसी तरह कल्पित होता है जिस तरह स्वप्न में खयाल या कल्पना का बन्धन होता है, या जाग्रत् में इन्द्रियों का बन्धन होता है। यदि सुषुप्ति में अविद्या उसे बन्दी करती, तो किस प्रकार जाग्रत् वा स्वप्न में उसे सैर होती? वरन् जिस प्रकार यह इंद्रियों और मनोवृत्तियों की शक्तियां छीन लेता और उन्हें काम से पृथक् करता हुआ सुषुप्ति में चला जाता है, उसी तरह अविद्या की शक्तियाँ छीन लेता और उन्हें फेंक देता हुआ स्वप्न और जाग्रत् में आ जाता है।

(२१०) तो ज्ञात हुआ कि क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, कोई भी इस सम्राट को वंदी नहीं कर सकता, वरन्

(२०८) जाग्रत् और स्वप्न के बन्धन उसे बंदी नहीं करते, क्योंकि जहाँ उपाधियाँ किसी को बन्दी करलें, फिर दूसरे लोक में उसे सैर करनी नहीं मिलती। यहां तो निश्चय होता है कि वह सम्राट् के समान स्वतंत्र, दोनों लोकों में क्या जाग्रत क्या स्वप्न, जो उस के जाग्रत् और स्वप्न राज्य हैं, सैर करता है। जिस प्रकार सम्राट् भी अपने राज्य में सैर करता बन्दी नहीं होता, वरन् स्वतन्त्र है, इसी तरह यह भी अपने साम्राज्यों में, जो जाग्रत् स्वप्न हैं, फिरता हुआ उन का अधीन नहीं, वरन् उन का स्वामी और पति है, और उसी से ये सब शक्तियाँ पाते उस के लिये काम करते हैं।

(२०९) जिस प्रकार सम्राट् भी अपने सेवको की शक्तियाँ और उच्च पद छीन लेता है और काम से पृथक् कर देता है, उसी तरह यह भी इंद्रिय-रूपी सेवको को काम से पृथक् करके सुषुप्ति में जो उस का सुषुप्ति-राज्य है चला जाता है, फिर किस प्रकार कह सकते हैं कि वह इन्द्रियो या मनोवृत्तियों का बँधुआ (उपाधिवान्) या अधीनी है ? कदापि नहीं। सुषुप्ति में भी अविद्या और अज्ञान का बन्धन उस में उसी तरह कल्पित होता है जिस तरह स्वप्न में खयाल या कल्पना का बन्धन होता है, या जाग्रत् में इन्द्रियों का बन्धन होता है। यदि सुषुप्ति में अविद्या उसे बन्दी करती, तो किस प्रकार जाग्रत् या स्वप्न में उसे सैर होती ? वरन् जिस प्रकार यह इंद्रियो और मनोवृत्तियों की शक्तियां छीन लेता और उन्हें काम से पृथक् करता हुआ सुषुप्ति में चला जाता है, उसी तरह अविद्या की शक्तियाँ छीन लेता और उन्हें फेंक देता हुआ स्वप्न और जाग्रत् में आ जाता है।

(२१०) तो ज्ञात हुआ कि क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, कोई भी इस सम्राट को बंदी नहीं कर सकता, वरन्

और वह जो उसे देखता है और साक्षी देता है, दूसरा है। फिर किस प्रकार हो सकता है कि तुझे चोट लगी और तुझे पीड़ा हुई ?

(२१३) किंतु तू जो अपने आप को साक्षी नहीं जानता, इस अविद्या के कारण उन्हें अपने मे मानता है, वरन् अपने आप को संघात जानता है, और यह तेरा निश्चय भी कि "मुझे पीड़ा हुई", उसी प्रकार की भूल है जैसा कि उदाहरण में कहते हैं कि * "मारे जुमा तो फाते खेरा, यह तेरी वड़ियाई"। इस प्रकार तू पराये के पापों से पापी और पराये के दुखों से दुखी होता दीन दास ठहरता है।

(२१४) तू विचार करके देख कि जिस प्रकार तू जाग्रत् में जाग्रत् शरीर को अपना आप मानता है और उस के दुख-सुख से दुखी सुखी होता है, उसी तरह स्वप्न में भी तू काल्पनिक शरीर को अपना आप मानता है और कल्पित मनुष्यों से धक्के खाता और मार-पीट खाता-सा होता है। वहाँ स्वप्न में यद्यपि तू पीड़ा पाता और चिल्लाता है, किंतु वहाँ न तो तेरा शरीर होता है और न कोई मारने वाला। पर वहाँ ये सब तेरी निद्रा की विचित्रताएँ हैं। ऐसे ही यहाँ जाग्रत् में भी न तो कोई मारता है न मार खाता है, ये तेरी जाग्रत् की विचित्रताएँ हैं। क्या नींद क्या जाग्रत्, तेरी अविद्या के रचित लोक हैं, और तेरा ही मोह संक्षिप्त संघात में तुझे अभिमान दिलाता दुखी-सुखी करता है और भोक्ता बनाता है।

(२१५) जब तू भली भाँति विचार करेगा और जान लेगा कि जैसे सुषुप्ति में जब वह जाना है, तो वहाँ न कोई काम होता है और न कोई दूसरा, वरन् ठीक आनन्द विद्यमान होता है। ऐसे ही तेरा स्वरूप वह है जिसे न तो तलवार काट सकती है,

* लखनऊ में इस तरह कहते हैं कि "मारे घुटना, फूटे कपार"।

है। और वह जो इसे देखता है और साक्षी देता है, दूसरा है। फिर किस प्रकार हो सकता है कि तुझे चोट लगी और तुझे पीड़ा हुई?

(२१३) किंतु तू जो अपने आप को साक्षी नहीं जानता, इस अविद्या के कारण उन्हें अपने मे मानता है, वरन् अपने आप को संघात जानता है, और यह तेरा निश्चय भी कि "मुझे पीड़ा हुई", उसी प्रकार की भूल है जैसा कि उदाहरण में कहते हैं कि * "मारे जुमा तो फाते खैरा, यह तेरी बढ़ियाई"। इस प्रकार तू पराये के पापों से पापी और पराये के दुखों से दुखी होता दीन दास ठहरता है।

(२१४) तू विचार करके देख कि जिस प्रकार तू जाग्रत् में जाग्रत् शरीर को अपना आप मानता है और उस के दुख-सुख से दुखी सुखी होता है, उसी तरह स्वप्न में भी तू काल्पनिक शरीर को अपना आप मानता है और कल्पित मनुष्यों से धक्के खाता और मार-पीट खाता-सा होता है। वहाँ स्वप्न में यद्यपि तू पीड़ा पाता और चिल्लाता है, किंतु वहाँ न तो तेरा शरीर होता है और न कोई मारने वाला। पर वहाँ ये सब तेरी निद्रा की विचित्रताएँ हैं। ऐसे ही यहाँ जाग्रत् में भी न तो कोई मारता है न मार खाता है, ये तेरी जाग्रत् की विचित्रताएँ हैं। क्या नींद क्या जाग्रत्, तेरी अविद्या के रचित लोक हैं, और तेरा ही मोह संक्षिप्त संघात में तुझे अभिमान दिलाता दुखी-सुखी करता है और भोक्ता बनाता है।

(२१५) जब तू भली भाँति विचार करेगा और जान लेगा कि जैसे सुषुप्ति में जब वह जाता है, तो वहाँ न कोई काम होता है और न कोई दूसरा, वरन् ठीक आनन्द विद्यमान होता है। ऐसे ही तेरा स्वरूप वह है जिसे न तो तलवार काट सकती है,

* लखनऊ में इस तरह कहते हैं कि "मारे घुटना, फूटे कपार"।

भी आकर अपने आप को साक्षी जानता, सब बर्ताव को उपाधियों के धर्म देखता, और अपने नित्य आनन्द में स्थित रहता है। वही वास्तव में महाब्राह्मण अर्थात् पूर्ण ज्ञानी है, और वही पूर्ण मुक्त है। वह जो इसे नहीं जानते, वही बद्ध जीव हैं। उस जीवन मुक्त को तो मृत्यु के पश्चात् फिर संसार नहीं, वरन् वहीं द्युलोक उस का सिंहासन है, और अविद्या तत्काल दूर हो जाती है, और सत्यसंकल्प आदिक भिन्न हिरण्य गर्भ के धर्म उस में सुभक्त प्रसाद में आरोपित आ जाते हैं। और यह बद्ध जीव जन्म-मरण-रूप संसार पाता है। इस कारण कि अविद्या और मोह में बँधा हुआ है, उसे जीव कहते हैं, और इसे ईश्वर। इस प्रकार राजा ने गार्ग्य को समझाया, और उस ने इस से प्रसाद पाकर धन्यवाद अर्पण किया।

(२१६) ऐ गार्ग्य! यही आत्मा जो अद्वैत, अखंड, सुषुप्ति में अकेला सिद्ध हुआ है, यही पर ब्रह्म है। इसी से समस्त करने की आत्माएँ, जो प्राण कहलाती हैं, निकलती हैं। सर्वलोक, सर्व देवता और सर्व भूत इससे इस प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे कि अग्नि का प्रकाश अग्नि से उत्पन्न होता है, या जिस प्रकार मकड़ी से जाल के रूप में तारें निकलती हैं। उसकी उपनिषद् यह है कि वह सत का भी सत है, प्राण भी सत है, और वह प्राणों का भी सत है। यही उसकी उपनिषद् अर्थात् पहचान है।

दूसरा अध्याय।

(१) संक्षिप्त तात्पर्य ऊपर की आख्यायिका का यह है कि "मैं तुझे ब्रह्म बतलाता हूँ", ऐसा गार्ग्य का दावा था और

भी आकर अपने आप को साक्षी जानता, सब बर्ताव को उपाधियों के धर्म देखता, और अपने नित्य आनन्द में स्थित रहता है। वही वास्तव में महाब्राह्मण अर्थात् पूर्ण ज्ञानी है, और वही पूर्ण मुक्त है। वह जो इसे नहीं जानते, वही बद्ध जीव हैं। उस जीवन मुक्त को तो मृत्यु के पश्चात् फिर संसार नहीं, वरन् वही द्युलोक उस का सिंहासन है, और अविद्या तत्काल दूर हो जाती है, और सत्यसंकल्प आदिक भिन्न हिरण्य गर्भ के धर्म उस में सुमस्त प्रसाद में आरोपित आ जाते हैं। और यह बद्ध जीव जन्म-मरण-रूप संसार पाता है। इस कारण कि अविद्या और मोह में बँधा हुआ है, उसे जीव कहते हैं, और इसे ईश्वर। इस प्रकार राजा ने गार्ग्य को समझाया, और उस ने इस से प्रसाद पाकर धन्यवाद अर्पण किया।

(२३६) ऐ गार्ग्य! यही आत्मा जो अद्वैत, अखंड, सुषुप्ति में अकेला सिद्ध हुआ है, यही पर ब्रह्म है। इसी से समस्त करने की आत्माएँ, जो प्राण कहलाती हैं, निकलती हैं। सर्वलोक, सर्व देवता और सर्व भूत इससे इस प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे कि अग्नि का प्रकाश अग्नि से उत्पन्न होता है, या जिस प्रकार मकड़ी से जाल के रूप में तार निकलते हैं। उसकी उपनिषद यह है कि वह सत का भी सत है, प्राण भी सत है, और वह प्राणों का भी सत है। यही उसकी उपनिषद अर्थात् पहचान है।

दूसरा अध्याय।

(१) संक्षिप्त तात्पर्य ऊपर की आख्यायिका का यह है कि "मैं तझे ब्रह्म बतलाता हूँ", ऐसा गार्ग्य का दावा था और

की आत्माएँ, क्या लोक परलोक, क्या देवता जो उनके विद्यानी और सबके उपास्य हैं, और क्या आकाश से पृथिवी पर्यंत भूत सबके सब उत्पन्न होते हैं। और ये सब सत हैं, और यही आत्मा इन सतों का भी सत है। यही उसकी उपनिषद् अर्थात् पहचान है। इस तरह राजा ने गार्ग्य को आत्मा ही परब्रह्म प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया।

(४)* अब इसमें जो सूक्ष्म भेद हैं जिस की व्याख्या में मूर्त अमूर्त ब्राह्मण और शिशु ब्राह्मण वर्णन करते हैं, और हम भाषाविदों के लिये कहते हैं, वह ये हैं, कि सामान्य लोग यह जानते हैं, ईश्वर परमात्मा जगत् का कारीगर है। जिस तरह कारीगर बढ़ई लकड़ी से तखत बनाता है, इसी तरह ईश्वर भी असत् (शून्यता) से सत् (जगत्) बनाता है। और जैसा तखत से बढ़ई जो उस का कर्त्ता है अलग है, इसी तरह ईश्वर भी संसार से अलग है जो किसी ने देखा-भाला नहीं।

(५) किंतु इस वैदिक आख्यायिका से, जो ऊपर अनुवाद की गई है, ईश्वर—आत्मा कारीगर तो सिद्ध होता है, परंतु जगत् से अलग, नहीं कहा जाता, क्योंकि समस्त जगत् क्या शरीर, क्या प्राण, सब उसकी प्रभायें वा विभूतियाँ सिद्ध की हैं, और वही उसका उपादान कारण और वही उस का रचयिता ठहरता है। और जब कि वही उस का उपादान है, तो नास्ति से जगत्की अस्ति नहीं होती, बरन् अस्ति से सत् होता है। और दार्शनिक नियम के अनुसार भी यही ठीक है, क्यों कि दार्शनिक तत्त्वदर्शी लोग जानते हैं कि नास्ति से अस्ति का होना असंभव है। यदि नास्ति से कोई वस्तु उत्पन्न हो जाती, तो सब से सबकी उत्पत्ति हो जाती, और ऐसा होता

---

* बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीयाध्याय के दूसरे और तीसरे ब्राह्मण को शिशु और मूर्त अमूर्त ब्राह्मण कहते हैं।

की आत्माएँ, क्या लोक परलोक, क्या देवता जो उनके विज्ञानी और सबके उपास्य हैं, और क्या आकाश से पृथिवी पर्यंत भूत सबके सब उत्पन्न होते हैं। और ये सब सत हैं, और यही आत्मा इन सतों का भी सत है। यही उसकी उपनिषद् अर्थात् पहचान है। इस तरह राजा ने गार्ग्य को आत्मा ही परब्रह्म प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया।

(४)* अब इसमे जो सूक्ष्म भेद हैं जिस की व्याख्या में मूर्त अमूर्त ब्राह्मण और शिशु ब्राह्मण वर्णन करते हैं, और हम भाषाविदों के लिये कहते हैं, वह ये हैं, कि सामान्य लोग यह जानते हैं, ईश्वर परमात्मा जगत् का कारीगर है। जिस तरह कारीगर बढ़ई लकड़ी से तखत बनाता है, इसी तरह ईश्वर भी असत् (शून्यता) से सत् (जगत्) बनाता है। और जैसा तखत से बढ़ई जो उस का कर्त्ता है अलग है, इसी तरह ईश्वर भी संसार से अलग है जो किसी ने देखा-भाला नहीं।

(५) किंतु इस वैदिक आख्यायिका से, जो ऊपर अनुवाद की गई है, ईश्वर—आत्मा कारीगर तो सिद्ध होता है, परंतु जगत् से अलग, नहीं कहा जाता, क्योंकि समस्त जगत् क्या शरीर, क्या प्राण, सब उसकी प्रभायें वा विभूतियाँ सिद्ध की हैं, और वही उसका उपादान कारण और वही उस का रचयिता ठहरता है। और जब कि वही उस का उपादान है, तो नास्ति से जगत्की अस्ति नहीं होती, वरन् अस्ति से सत् होता है। और दार्शनिक नियम के अनुसार भी यही ठीक है, क्यों कि दार्शनिक तत्त्वदर्शी लोग जानते हैं कि नास्ति से अस्ति का होना असंभव है। यदि नास्ति से कोई वस्तु उत्पन्न हो जाती, तो सब से सबकी उत्पत्ति हो जाती, और ऐसा होता

---

* बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीयाध्याय के दूसरे और तीसरे ब्राह्मण को शिशु और मूर्त अमूर्त ब्राह्मण कहते हैं।

जो अनपढ़ हैं कुछ भी नहीं हैं। फिर, इस हेतु कि श्रुति स्पष्ट वर्णन करती है कि जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिस में स्थित रहता है, और विनाश के समय फिर जिस में लय होता है, वही ब्रह्म है। तो ज्ञात हुआ कि ब्रह्म उस का उपादान कारण भी है, किंतु तिरखान की तरह नहीं, क्योंकि तिरखान जो तखत बनाता है, तो फिर वह तिरखान में स्थित नहीं रहता, वरन् संभव है कि तिरखान मर जाय और तखत बना रहे। इसी तरह जब तखत टूट जाता है, तो तिरखान में लय नहीं हो जाता।

(९) वरन् लकड़ी में तखत उत्पन्न होता है और फिर लकड़ी में उत्पन्न हुआ स्थित रहता है। यदि लकड़ी न हो, तो फिर तखत भी जाता रहे। फिर जब तोड़ा जाता है तो लकड़ी में लय हो जाता है। इस लकड़ी को तखत का उपादान कारण कहते हैं। ईश्वर आत्मा भी वास्तव में जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि इस में यह जगत् उत्पन्न होता है, और उत्पन्न हुआ उसी में ठहरता है, और दूर हुआ भी उसी में लय होता है। ऐसा श्रुति निश्चय करती है।

(१०) यह तो कोई भी नहीं मान सकता कि ईश्वर परमात्मा न हो और जगत् ठहरा रहे, जैसा तिरखान न हो तो तखत ठहरा रहता है। इस प्रकार के तर्क और श्रुतियों के द्वारा जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही निकलता है, जो सत है और जगत् भी उसी सत से निकला उसमें ठहरा हुआ सत है। और प्राण भी एक उसी जगत् का अंश हैं, वह भी उसी से जो असली सत् है निकलते उसी में ठहरते उसी में अस्तित्व पाते हैं। इसी कारण से राजा अजातशत्रु ने कहा कि प्राण सत हैं और वह प्राणों का भी सत है, यही उसकी पहचान है।

(११) निस्संदेह लकड़ी तखत का उपादान कारण है,

जो अनपढ़ हैं कुछ भी नहीं हैं। फिर, इस हेतु कि श्रुति स्पष्ट वर्णन करती है कि जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिस में स्थित रहता है, और विनाश के समय फिर जिस में लय होता है, वही ब्रह्म है। तो ज्ञात हुआ कि ब्रह्म उस का उपादान कारण भी है, किंतु तिरखान की तरह नहीं, क्योंकि तिरखान जो तख्त बनाता है, तो फिर वह तिरखान में स्थित नहीं रहता, वरन् संभव है कि तिरखान मर जाय और तख्त बना रहे। इसी तरह जब तख्त टूट जाता है, तो तिरखान में लय नहीं हो जाता।

(९) वरन् लकड़ी में तख्त उत्पन्न होता है और फिर लकड़ी में उत्पन्न हुआ स्थित रहता है। यदि लकड़ी न हो, तो फिर तख्त भी जाता रहे। फिर जब तोड़ा जाता है तो लकड़ी में लय हो जाता है। इस लकड़ी को तख्त का उपादान कारण कहते हैं। ईश्वर आत्मा भी वास्तव में जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि इस में यह जगत् उत्पन्न होता है, और उत्पन्न हुआ उसी में ठहरता है, और दूर हुआ भी उसी में लय होता है। ऐसा श्रुति निश्चय करती है।

(१०) यह तो कोई भी नहीं मान सकता कि ईश्वर परमात्मा न हो और जगत् ठहरा रहे, जैसा तिरखान न हो तो तख्त ठहरा रहता है। इस प्रकार के तर्क और श्रुतियों के द्वारा जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही निकलता है, जो सत है और जगत् भी उसी सत से निकला उसमें ठहरा हुआ सत है। और प्राण भी एक उसी जगत् का अंश हैं, वह भी उसी से जो असली सत् है निकलते उसी में ठहरते उसी में अस्तित्व पाते हैं। इसी कारण से राजा अजातशत्रु ने कहा कि प्राण सत हैं और वह प्राणों का भी सत है, यही उसकी पहचान है।

(११) निस्संदेह लकड़ी तख्त का उपादान कारण है,

है, तो उस की यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि जैसा उस का बदलना कठिन है, वैसा असत् से सत् होना भी कठिन है। दोनों नहीं हो सकते।

(१४) जब दीपक में उस की प्रभाएँ प्रकट होती हैं, तो दीपक वास्तव में बदल नहीं जाता, या सूर्य की किरणें सूर्य से निकलती हैं, तो सूर्य विकारवान् नहीं हो जाता, सोने में सोनार भूषण बनाता है, तो सोना ताँबा नहीं हो जाता। मरु में मृगतृष्णा प्रतीत होती है, तो मरु जल नहीं हो जाता, रज्जु में सर्प का भान होता है, तो रज्जु सर्प नहीं बन जाती, सीप में चाँदी का ख्याल उत्पन्न होता है, तो सीप चाँदी नहीं हो जाती है। इसी तरह परमात्मा भी यदि नाना जगत् रूप होकर दिखाई दिया है, तो वह कुछ जगत् नहीं बन गया।

(१५) बरन् जिस प्रकार चाँदी के विचार में सीप सीप ही है, सर्प के निश्चय में रज्जु रज्जु ही है; मरुस्थल में यदि जल दिखाई देता है, पर बालू नहीं भीग जाती, दीपक यद्यपि अगणित किरणों मारता है, पर दीपक दूर नहीं हो जाता, बरन् सब किरणें दीपक की विचित्र दृष्टि गोचर होती हैं। इसी तरह परमात्मा भी कुछ जगत् नहीं हो जाता, बरन् संसार इसी की एक सामान्य चमक है। लाल की आब लाल रूप है, पर लाल अपनी आब में दिखाई देता है, बदल नहीं जाता।

(१६) जिस प्रकार दीपक की किरणें दीपक की केवल एक चमक है और उससे भिन्न नहीं, या लाला की आब ताब (कांति) उसी की चमत्कारी (स्पष्टिकरण) है, और उससे भिन्न नहीं, इसी तरह नाना रूप जगत् भी चेतन (ज्योति) परमात्मा की चमक है जो उससे भिन्न नहीं। और यह स्पष्ट है कि दीपक की किरणों का उपादान वही दीपक है, या लाल की आब (चमक) का उपादान वही लाल है। और न तो दीपक बिना दीपक के हो

है, तो उस की यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि जसा उस का बदलना कठिन है, वैसा असत् से सत् होना भी कठिन है। दोनों नहीं हो सकते।

(१४) जब दीपक में उस की प्रभाएँ प्रकट होती हैं, तो दीपक वास्तव में बदल नहीं जाता, या सूर्य की किरणें सूर्य से निकलती हैं, तो सूर्य विकारवान् नहीं हो जाता, सोने में सोनार भूषण बनाता है, तो सोना ताँबा नहीं हो जाता। मरु में मृगतृष्णा प्रतीत होती है, तो मरु जल नहीं हो जाता, रज्जु में सर्प का भान होता है, तो रज्जु सर्प नहीं बन जाती, सीप में चाँदी का ख्याल उत्पन्न होता है, तो सीप चाँदी नही हो जाती है। इसी तरह परमात्मा भी यदि नाना जगत् रूप होकर दिखाई दिया है, तो वह कुछ जगत् नहीं बन गया।

(१५) वरन् जिस प्रकार चाँदी के विचार में सीप सीप ही है, सर्प के निश्चय में रज्जु रज्जु ही है; मरुस्थल में यदि जल दिखाई देता है, पर बालू नहीं भीग जाती, दीपक यद्यपि अगणित किरणें मारता है, पर दीपक दूर नही हो जाता, वरन् सब किरणें दीपक की विचित्र दृष्टि गोचर होती हैं। इसी तरह परमात्मा भी कुछ जगत् नहीं हो जाता, वरन् संसार इसी की एक सामान्य चमक है। लाल की आब लाल रूप है, पर लाल अपनी आब में दिखाई देता है, बदल नहीं जाता।

(१६) जिस प्रकार दीपक की किरणें दीपक की केवल एक चमक है और उससे भिन्न नहीं, या लाला की आब ताब (कांति) उसी की चमत्कारी (स्पष्टिकरण) है, और उससे भिन्न नहीं, इसी तरह नाना रूप जगत् भी चेतन (ज्योति) परमात्मा की चमक है जो उससे भिन्न नहीं। और यह स्पष्ट है कि दीपक की किरणों का उपादान वही दीपक है, या लाल की आब (चमक) का उपादान वही लाल है। और न तो दीपक बिना दीपक के हो

यहाँ यह है कि जैसे अग्नि अपनी किरणों की आप ही उपादान है, इसी तरह परमात्मा भी इन सब का आप ही उपादान है। किंतु इस हेतु कि अग्नि स्वयं जड़ है, उपादान तो हो सकती है, पर कर्त्ता नहीं हो सकती, वरन् उसमें से किरणें स्वाभाविक रूप से निकलती हैं। इस लिये दूसरा उदाहरण स्मरण किया कि जैसे मकड़ी भी अपनी तारें शिकार के लिये फैलाती है, वैसा ही उससे जगत् फैला है।

(२०) देखो, मकड़ी अपनी तारें फैलाने में स्वाभाविक रीति से विवश नहीं वरन् चेतन होने के कारण स्वाधीन है, चाहे फैलावे चाहे न फैलावे। इसी तरह यद्यपि जगत् भी परमात्मा की किरणें हैं, परंतु अग्नि की किरणों के रूप में उससे विवशतः नहीं प्रकट होतीं, वरन् उनके प्रकट होने में वह पूर्ण स्वाधीन और पूर्ण सामर्थ्यवान् है। यही स्वाधीनता और यही पूर्ण शक्ति उसकी माया है। वह अपने अधिकार से उन्हें उत्पन्न करता और अपने ही अधिकार से उन्हें लोप करता है, यह श्रुति का अभिप्राय है।

(२१) किंतु मकड़ी में ख़याल हो सकता है कि उससे पँच-भौतिक शरीर भिन्न है और चेतन जीव जो उसमें केंद्रित है भिन्न है, शरीर तो तारों का उपादान है और जीव चेतन कर्त्ता है। इस लिये श्रुति ने अग्नि की किरणों को भी उदाहरण में सम्मि-लित किया है कि जिस प्रकार अग्नि का तेज (किरण) अग्नि से भिन्न नहीं, उसी तरह जगत् की नाना किरणें भी चेतन से भिन्न नहीं, वरन् उसी की दमक चमक हैं। इस लिये स्वाधी-नता में तो मकड़ी का उदाहरण युक्ततम है, और उसी का प्रकाश होने में अग्नि का उदाहरण युक्ततम है, और यह दोनों उदाहरण ठीक उतरते हैं।

(२२) देखो, अग्नि की किरण अग्नि से भिन्न नहीं, वरन्

कहाँ यह है कि जैसे अग्नि अपनी किरणों की आप ही उपादान है, इसी तरह परमात्मा भी इन सब का आप ही उपादान है। किंतु इस हेतु कि अग्नि स्वयं जड़ है, उपादान तो हो सकती है, पर कर्त्ता नहीं हो सकती, बरन् उसमें से किरणें स्वाभाविक रूप से निकलती हैं। इस लिये दूसरा उदाहरण स्मरण किया कि जैसे मकड़ी भी अपनी तारें शिकार के लिये फैलाती है, वैसा ही उससे जगत् फैला है।

(२०) देखो, मकड़ी अपनी तारें फैलाने में स्वाभाविक रीति से विवश नहीं बरन् चेतन होने के कारण स्वाधीन है, चाहे फैलावे चाहे न फैलावे। इसी तरह यद्यपि जगत् भी परमात्मा की किरणें हैं, परंतु अग्नि की किरणों के रूप में उससे विवशतः नहीं प्रकट होतीं, बरन् उनके प्रकट होने में वह पूर्ण स्वाधीन और पूर्ण सामर्थ्यवान् है। यही स्वाधीनता और यही पूर्ण शक्ति उसकी माया है। वह अपने अधिकार से उन्हें उत्पन्न करता और अपने ही अधिकार से उन्हें लोप करता है, यह श्रुति का अभिप्राय है।

(२१) किंतु मकड़ी में ख़याल हो सकता है कि उससे पंच-भौतिक शरीर भिन्न है और चेतन जीव जो उसमें केंद्रित है भिन्न है, शरीर तो तारों का उपादान है और जीव चेतन कर्त्ता है। इस लिये श्रुति ने अग्नि की किरणों को भी उदाहरण में सम्मिलित किया है कि जिस प्रकार अग्नि का तेज (किरण) अग्नि से भिन्न नहीं, उसी तरह जगत् की नाना किरणें भी चेतन से भिन्न नहीं, बरन् उसी की दमक चमक हैं। इस लिये स्वाधीनता में तो मकड़ी का उदाहरण युक्ततम है, और उसी का प्रकाश होने में अग्नि का उदाहरण युक्ततम है, और यह दोनों उदाहरण ठीक उतरते हैं।

(२२) देखो, अग्नि की किरण अग्नि से भिन्न नहीं, बरन्

देखो, मरुस्थल में पानी है तो नहीं, पर दिखाई देता है, इसी कारण सर्व-साधारण उसे मिथ्या कहते हैं। और यहाँ भी यदि विचार से देखें, तो किरणों की असलीयत अर्थात् नाम-रूप मरुस्थल के जल की तरह बिना "है" के, जो परमात्मा है, मिथ्या है, किंतु जिस प्रकार मृग-तृष्णा का जल बालुका के अस्तित्व में अस्तित्व पाया हुआ-सा दिखाई देता है, उसी तरह यह अस्तित्व हीन नाम रूप जगत् भी परमात्मा के अस्तित्व में प्रकट हुआ सत सा दिखाई देता है।

(२५) परंतु जिस प्रकार मृग-तृष्णास्थल का पानी भी सत होता है और बालुका उस की सत की भी सत है, उसी तरह जगत् भी सत है और परमात्मा उस के सत का भी सत है। यही परमात्मा की उपनिषद् या पहचान है।

(२६) यह न मान लेना चाहिये कि "मृग-तृष्णास्थल में यद्यपि पानी का नाम रूप मिथ्या (अस्तित्व हीन) है, किंतु इसलिये कि उस का पानी प्यास की शांति और स्नानादि की निवृत्ति नहीं कर सकता, इसलिये असत् निश्चित होता है, परंतु संसार का पानी तो प्यास बुझाता और स्नान का फल देता है, इसलिये किस प्रकार निश्चय करें कि मृग-तृष्णास्थल के जल के समान असत झलक रखता है"? तो यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मृग-तृष्णास्थल में केवल जल की आकृति और उस का नाम प्रकट हुए हैं, उसी तरह संसार के जल में उस का रूप और साथ ही उस के गुणों के नाम रूप भी प्रकट हुए हैं, इसलिये यह तो स्नान इत्यादि का फल देता है, वह नहीं देता।

(२७) देखो, स्वप्न में जब हम नदी प्रवाहित देखते हैं, तो वास्तव में वह असत अवश्य होती है, किंतु जिस प्रकार उस में रूप साथ है, उस के प्रभाव या गुण भी नाम-रूप से कल्पित

देखो, मरुस्थल में पानी है तो नहीं, पर दिखाई देता है, इसी कारण सर्व-साधारण उसे मिथ्या कहते हैं। और यहाँ भी यदि विचार से देखें, तो किरणों की असलीयत अर्थात् नामरूप मरुस्थल के जल की तरह बिना "है" के, जो परमात्मा है, मिथ्या है, किंतु जिस प्रकार मृग-तृष्णा का जल बालुका के अस्तित्व में अस्तित्व पाया हुआ-सा दिखाई देता है, उसी तरह यह अस्तित्व हीन नाम रूप जगत् भी परमात्मा के अस्तित्व में प्रकट हुआ सत सा दिखाई देता है।

(२५) परंतु जिस प्रकार मृग-तृष्णास्थल का पानी भी सत होता है और बालुका उस की सत की भी सत है, उसी तरह जगत् भी सत है और परमात्मा उस के सत का भी सत है। यही परमात्मा की उपनिषद् या पहचान है।

(२६) यह न मान लेना चाहिये कि "मृग-तृष्णास्थल में यद्यपि पानी का नाम रूप मिथ्या (अस्तित्व हीन) है, किंतु इसलिये कि उस का पानी प्यास की शांति और स्नानादि की निवृत्ति नहीं कर सकता, इसलिये असत् निश्चित होता है, परंतु संसार का पानी तो प्यास बुझाता और स्नान का फल देता है, इसलिये किस प्रकार निश्चय करें कि मृग-तृष्णास्थल के जल के समान असत झलक रखता है"? तो यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मृग-तृष्णास्थल में केवल जल की आकृति और उस का नाम प्रकट हुए हैं, उसी तरह संसार के जल में उस का रूप और साथ ही उस के गुणों के नाम रूप भी प्रकट हुए हैं, इसलिये यह तो स्नान इत्यादि का फल देता है, वह नहीं देता।

(२७) देखो, स्वप्न में जब हम नदी प्रवाहित देखते हैं, तो वास्तव में वह असत अवश्य होती है, किंतु जिस प्रकार उस में रूप साथ है, उस के प्रभाव या गुण भी नाम-रूप से कल्पित

साधारण लोग सत अर्थात् अस्तित्व संभव (अर्थात् जिस का होना तथा न होना दोनों, अथवा सत, असत् दोनों संभव हैं) बोलते हैं, और वह स्वयं सत का भी सत् अर्थात् सत स्वरूप होता है, इसलिये उस की उपनिषद् अर्थात् पहचान "सत का भी सत" है।

(३१) अब हम उस की किरणों की श्रृंखला पर भी संक्षिप्त संकेत करते हैं कि पहले सृष्टि के आरंभ में उस का प्रकाश आकाश के रूप में होता है, और स्थिरता और श्रृंखला की किरणें भी उस के साथ २ होती हैं। इसलिये इसी आत्मा का इस आभास में आकाश नाम होता है। फिर इस के बाद वायु के रूप मे प्रकाश निकलता है, उस में प्रकाशित हुआ यह वायु कहलाता है। और फिर आकाश और वायु में अंतर रूप प्रकाश लगता है, इसलिये आकाश और वायु दोनों पृथक् २ ज्ञात होते हैं। और फिर आकाश में कारण का और वायु में कार्य का प्रकाश लगता है, इसलिये निश्चय होता है कि आकाश से वायु उत्पन्न होती है।

(३२) फिर वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से मिट्टी (पृथ्वी) इस तरह उत्पन्न होते हैं। अतः वास्तव में सब के सब प्रकाश (अर्थात् रूप, प्रभाव, बर्ताव, स्थिरता और श्रृंखला) इसी ज्योति से उठते हैं। परंतु इन के पारस्परिक संबंध और अंतर और कारण-कार्य के हेतु से ये विचित्र पञ्चविध भूत उत्पन्न होते दिखाई देते हैं, वास्तव में वही अपने इन प्रकाशों में प्रकाशमान पँच भौतिक रूप में प्रकट होता है जैसा कि स्वाँगी अपने स्वाँग बनाता है।

(३३) फिर उन पँचविध प्रकाशों अर्थात् भूतों की छाँट होती है, प्रत्येक भूत का तत्व (सार) निकाला जाता है। यह तत्व (सार) या तो सूक्ष्मतर हैं, या सूक्ष्म या स्थूल। उन में

साधारण लोग सत अर्थात् अस्तित्व संभव (अर्थात् जिस का होना तथा न होना दोनों, अथवा सत असत् दोनों संभव हैं) बोलते हैं, और वह स्वयं सत का भी सत् अर्थात् सत स्वरूप होता है, इसलिये उस की उपनिषद् अर्थात् पहचान "सत का भी सत" है।

(३१) अब हम उस की किरणों की श्रृंखला पर भी संक्षिप्त संकेत करते हैं कि पहले सृष्टि के आरंभ में उस का प्रकाश आकाश के रूप में होता है, और स्थिरता और श्रृंखला की किरणें भी उस के साथ २ होती हैं। इसलिये इसी आत्मा का इस आभास में आकाश नाम होता है। फिर इस के बाद वायु के रूप में प्रकाश निकलता है, उस में प्रकाशित हुआ यह वायु कहलाता है। और फिर आकाश और वायु में अंतर रूप प्रकाश लगता है, इसलिये आकाश और वायु दोनों पृथक् २ ज्ञात होते हैं। और फिर आकाश में कारण का और वायु में कार्य का प्रकाश लगता है, इसलिये निश्चय होता है कि आकाश से वायु उत्पन्न होती है।

(३२) फिर वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से मिट्टी (पृथ्वी) इस तरह उत्पन्न होते हैं। अतः वास्तव में सब के सब प्रकाश (अर्थात् रूप, प्रभाव, बर्ताव, स्थिरता और श्रृंखला) इसी ज्योति से उठते हैं। परंतु इन के पारस्परिक संबंध और अंतर और कारण-कार्य के हेतु से ये विचित्र पञ्च-विध भूत उत्पन्न होते दिखाई देते हैं, वास्तव में वही अपने इन प्रकाशों में प्रकाशमान पँच भौतिक रूप में प्रकट होता है "जैसा कि स्वाँगी अपने स्वाँग बनाता है।

(३३) फिर उन पँचविध प्रकाशों अर्थात् भूतों की छाँट होती है, प्रत्येक भूत का तत्त्व (सार) निकाला जाता है। वह तत्त्व (सार) या तो सूक्ष्मतर है, या सूक्ष्म या स्थूल। उन में

है। इसी प्रकार श्रोत्र शब्द का, त्वक् शीतोष्ण दशाओं का, घ्राण गंध का और रसना मिठाई खटाई का कारण व साधन होती है, क्योंकि ये सब प्रकाश व किरणें उन्हीं के धर्म हैं, जिन से ये ज्ञानेंद्रियाँ प्राण की भांति निकाली गई हैं, इसलिये वह अपने जनक के धर्म को स्वीकार करके विषय (पदार्थ) का ज्ञान पाती हैं।

(३७) किंतु मन तो उन पँचभूतों के सतोगुण से मिलाकर बनाया गया है, इस लिये सबके धर्मों के प्रकाशों को ग्रहण करता है, सब की दरियाफ्त (जाँच पड़ताल) का कारण वा साधन होता है, और सब की सोच समझ का काम करता है। किंतु यह ज्ञानेंद्रियां तो बाह्य अंगों अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा, और त्वचा में रक्खी गई हैं, यह मन हृदयकमल और मस्तिष्क में रक्खा गया है, इसलिये भीतर की वस्तुओं का जो सुख दुख या आभास है पता लगाता है। बाहर की वस्तुओं का पता लगाने के लिये उन्हीं मार्गों से, जहां ज्ञानेंद्रियाँ केन्द्रित हैं, निकलता है। और उन ज्ञानेंद्रियों की सहायता से बाहर विशेष विशेष रूप आदि भी दरियाफ्त कर जाता है। पँच प्राण तो भीतर के काम करते हैं, और कर्मेंद्रियाँ बाहर के काम, जैसे चलना पकड़ना इत्यादि, और ये इस मन के संकल्प के अधीन होती हैं। परंतु पँच प्राण आभ्यंतरिक मन के भी प्रकाश से पहले प्रकाशित हैं, इसलिये इस मन के संकल्प के अधीन नहीं होते बरन् कर्मों के, जो भोग देने के लिये तैयार होते हैं, अधीन होते हैं।

(३८) यद्यपि ज्ञानेंद्रियां, कर्मेंद्रियाँ, मन और प्राण भिन्न २ अंग वा आभास हैं, किंतु उनका बर्ताव तब होता है जब मन तो प्राणों में और ज्ञानेंद्रियाँ मन और प्राणों में संबंध पाती हैं। क्योंकि जिस प्रकार अग्नि लकड़ी पर लगने से प्रकाश और

है। इसी प्रकार श्रोत्र शब्द का, त्वक् शीतोष्ण दशाओं का, घ्राण गंध का और रसना मिठाई खटाई का कारण व साधन होती है, क्योंकि ये सब प्रकाश व किरणें उन्हीं के धर्म हैं, जिन से ये ज्ञानेंद्रियाँ प्राण की भांति निकाली गई हैं, इसलिये वह अपने जनक के धर्म को स्वीकार करके विषय (पदार्थ) का ज्ञान पाती हैं।

(३७) किंतु मन तो उन पँचभूतों के सतोगुण से मिलाकर बनाया गया है, इस लिये सबके धर्मों के प्रकाशों को ग्रहण करता है, सब की दरियाफ्त (जाँच पड़ताल) का कारण या साधन होता है, और सब की सोच समझ का काम करता है। किंतु वह ज्ञानेंद्रियां तो बाह्य अंगों अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा, और त्वचा में रक्खी गई हैं, यह मन हृदयकमल और मस्तिष्क में रक्खा गया है, इसलिये भीतर की वस्तुओं का जो सुख दुख या आभास है पता लगाता है। बाहर की वस्तुओं का पता लगाने के लिये उन्हीं मार्गों से, जहां ज्ञानेंद्रियाँ केन्द्रित हैं, निकलता है। और उन ज्ञानेंद्रियों की सहायता से बाहर विशेष विशेष रूप आदि भी दरियाफ्त कर जाता है। पँच प्राण तो भीतर के काम करते हैं, और कर्मेंद्रियाँ बाहर के काम, जैसे चलना पकड़ना इत्यादि, और ये इस मन के संकल्प के अधीन होती हैं। परंतु पँच प्राण आभ्यंतरिक मन के भी प्रकाश से पहले प्रकाशित हैं, इसलिये इस मन के संकल्प के अधीन नहीं होते वरन् कर्मों के, जो भोग देने के लिये तैयार होते हैं, अधीन होते हैं।

(३८) यद्यपि ज्ञानेंद्रियां, कर्मेंद्रियाँ, मन और प्राण भिन्न २ अंग या आभास हैं, किंतु उनका बर्ताव तब होता है जब मन तो प्राणों में और ज्ञानेंद्रियाँ मन और प्राणों में संबंध पाती हैं। क्योंकि जिस प्रकार अग्नि लकड़ी पर लगने से प्रकाश और

प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इसी तमोगुण प्रकाश से बनाए गए हैं, और उन के भीतर वही सतोगुण और रजोगुण प्रकाश से संयुक्त सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार रक्खा हुआ है जिस प्रकार मनुष्य में रक्खा हुआ है। यदि वह (सूक्ष्म शरीर) पृथ्वी में न होता तो पृथ्वी घास-पात को क्योंकर उत्पन्न करती? या वह गड़ी (दफन की) हुई वस्तु को किस प्रकार खा जाती? प्रत्येक वस्तु में दृष्टि करके देखें तो क्या अग्नि क्या जल प्रत्येक वस्तु को खा कर अपना रूप कर लेते हैं, और उन के भीतर वही पाँच प्राण अर्थात् करने की आत्माएँ हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, और वह सब का जीव वा सूक्ष्म शरीर है।

(४२) जिस प्रकार मनुष्य के शरीर भी विभिन्न वस्तुओं और विभिन्न तत्वों से संयुक्त हैं, उसी प्रकार प्रत्येक के शरीर और देह भी विभिन्न वस्तुओं और विभिन्न तत्वों से संयुक्त हैं। देखो, मनुष्य के शरीर के अंतर्गत अस्थियाँ मांस मज्जा रक्त इत्यादि विभिन्न भाग हैं, इसी प्रकार बनस्पति-वर्ग और खनिज-वर्ग में भी है जिस का अनुसंधान प्रायः प्राकृतिक विद्या अर्थात् (विज्ञान वा साइंस) में जिआलोजी (पृथ्वी-विद्या) द्वारा होता है। और यह सब उसी तमोगुण-रूपी किरणों से निर्मित होते हैं जिन के क्षोभ वा उत्ताप से सूक्ष्म स्थूल कोमल कठोर पाये जाते हैं।

(४३) फिर इस हेतु कि उन सब मानव शरीर के अङ्गों में, जो विभिन्न तत्वों के अंश से बना है, एक परस्पर मिलाप वा संबंध का आभास लगाया गया है, जिस सम्बन्ध के कारण वह एक शरीर दिखाई देता है। इसी प्रकार क्या धरती क्या आकाश क्या तारे यद्यपि विभिन्न तत्व पृथक्-पृथक् अङ्ग वा अंश हैं, तो भी इन सब में एक परस्पर संबन्ध का आभास लगाया गया है। जैसे पृथिवी का संबन्ध आकाश, जल और

प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इसी तमोगुण प्रकाश से बनाए गए हैं, और उन के भीतर वही सतोगुण और रजोगुण प्रकाश से संयुक्त सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार रक्खा हुआ है जिस प्रकार मनुष्य में रक्खा हुआ है। यदि वह (सूक्ष्म शरीर) पृथ्वी में न होता तो पृथ्वी घास-पात को क्योंकर उत्पन्न करती? या वह गड़ी (दफन की) हुई वस्तु को किस प्रकार खा जाती? प्रत्येक वस्तु में दृष्टि करके देखें तो क्या अग्नि क्या जल प्रत्येक वस्तु को खा कर अपना रूप कर लेते हैं, और उन के भीतर वही पँच प्राण अर्थात् करने की आत्माएँ हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, और वह सब का जीव वा सूक्ष्म शरीर है।

(४२) जिस प्रकार मनुष्य के शरीर भी विभिन्न वस्तुओं और विभिन्न तत्वों से संयुक्त हैं, उसी प्रकार प्रत्येक के शरीर और देह भी विभिन्न वस्तुओं और विभिन्न तत्वों से संयुक्त हैं। देखो, मनुष्य के शरीर के अंतर्गत अस्थियाँ मांस मज्जा रक्त इत्यादि विभिन्न भाग हैं, इसी प्रकार बनस्पति-वर्ग और खनिज-वर्ग में भी है जिस का अनुसंधान प्रायः प्राकृतिक विद्या अर्थात् (विज्ञान वा साइंस) में जिआलोजी (पृथ्वी-विद्या) द्वारा होता है। और यह सब उसी तमोगुण-रूपी किरणों से निर्मित होते हैं जिन के क्षोभ वा उत्ताप से सूक्ष्म स्थूल कोमल कठोर पाये जाते हैं।

(४३) फिर इस हेतु कि उन सब मानव शरीर के अङ्गों में, जो विभिन्न तत्वों के अंश से बना है, एक परस्पर मिलाप वा संबंध का आभास लगाया गया है, जिस सम्बन्ध के कारण वह एक शरीर दिखाई देता है। इसी प्रकार क्या धरती क्या आकाश क्या तारे यद्यपि विभिन्न तत्व पृथक्-पृथक् अङ्ग वा अंश हैं, तो भी इन सब में एक परस्पर संबन्ध का आभास लगाया गया है। जैसे पृथिवी का संबन्ध आकाश, जल और

प्रत्येक अंश वा भाग में केंद्रित है।

(४७) हम भी नेत्र से देखते हैं, वह भी सूर्य से देखता है, क्योंकि जैसे हमारी आँख हमारे देखने का स्थान है, वैसे ही सूर्य भी, जो उस की आँख है, उस के देखने का स्थान है। हम कानों से सुनते हैं, तो वह दिशाओं से सुनता है, वही दिशाएँ उस के कान हैं। हम मन में सोचते समझते और चिंता करते हैं, वह भी चंद्रमा में, जो उस का मन है, सोचता समझता और चिंता करता है, और जिस-जिस अंग में जिस-जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध हमारे शरीर में है, उसी प्रकार विशिष्ट विशिष्ट अङ्ग से ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ का विराट् शरीर से संबन्ध है। जिस प्रकार यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर मिलकर मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार यह ब्रह्मांड और ईश्वर भी मिलकर विराट् पुरुष कहलाता है।

(४८) यही कारण है कि ज्ञानी जन निश्चय करते हैं कि मनुष्य विराट् पुरुष की आकृति पर उत्पन्न किया गया है, और हम कहते हैं कि हम उसी के पुत्र उसी का रूप हैं। हम पुत्र हैं, प्रजापति पिता है। वह धरती और आकाश का सम्राट् है, हम उसी के राजकुमार हैं और उस का उत्तराधिकार पाने वाले हैं। अब यों समझो कि जब वह सब में सब कुछ करता है, तो इसी कारण वेदान्तियों में उसे समष्टि शब्द से संबोधित करते हैं, किंतु हम जो उसी के अनुरूप अपने संक्षिप्त शरीर विशेष में सब कुछ करते हैं व्यष्टि शब्द से संबोधित किये जाते हैं।

(४९) हमारा शरीर व्यष्टि है, उसका शरीर समष्टि। हमारा सूक्ष्म शरीर व्यष्टि है उसका सूक्ष्म शरीर समष्टि। किंतु यह स्पष्ट है कि व्यष्टि अपनी समष्टि से, खंड अपने समग्र (पर) से, और अंश अपने अंशी व अंग अपने अंगी से पृथक् नहीं हो जाते, वरन् वही होते हैं। इसी प्रकार हमारे नेत्र उसी के नेत्र

प्रत्येक अंश वा भाग में केंद्रित है।

(४७) हम भी नेत्र से देखते हैं, वह भी सूर्य से देखता है, क्योंकि जैसे हमारी आँख हमारे देखने का स्थान है, वैसे ही सूर्य भी, जो उस की आँख है, उस के देखने का स्थान है। हम कानों से सुनते हैं, तो वह दिशाओं से सुनता है, वही दिशाएँ उस के कान हैं। हम मन में सोचते समझते और चिंता करते हैं, वह भी चंद्रमा में, जो उस का मन है, सोचता समझता और चिंता करता है, और जिस-जिस अंग में जिस-जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध हमारे शरीर में है, उसी प्रकार विशिष्ट विशिष्ट अङ्ग से ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ का विराट् शरीर से संबन्ध है। जिस प्रकार यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर मिलकर मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार यह ब्रह्मांड और ईश्वर भी मिलकर विराट् पुरुष कहलाता है।

(४८) यही कारण है कि ज्ञानी जन निश्चय करते हैं कि मनुष्य विराट् पुरुष की आकृति पर उत्पन्न किया गया है, और हम कहते हैं कि हम उसी के पुत्र उसी का रूप हैं। हम पुत्र हैं, प्रजापति पिता है। वह धरती और आकाश का सम्राट् है, हम उसी के राजकुमार हैं और उस का उत्तराधिकार पाने वाले हैं। अब यों समझो कि जब वह सब में सब कुछ करता है, तो इसी कारण वेदान्तियों में उसे समष्टि शब्द से संबोधित करते हैं, किंतु हम जो उसी के अनुरूप अपने संक्षिप्त शरीर विशेष में सब कुछ करते हैं व्यष्टि शब्द से संबोधित किये जाते हैं।

(४९) हमारा शरीर व्यष्टि है, उसका शरीर समष्टि। हमारा सूक्ष्म शरीर व्यष्टि है उसका सूक्ष्म शरीर समष्टि। किंतु यह स्पष्ट है कि व्यष्टि अपनी समष्टि से, खंड अपने समग्र (घर) से, और अंश अपने अंशी व अंग अपने अंगी से पृथक् नहीं हो जाते, वरन् वही होते हैं। इसी प्रकार हमारे नेत्र उसी के नेत्र

(५३) जिस प्रकार बछड़े के लिये आवश्यक है कि उसके लिये घर, फिरने का कमरा, बांधनेकी खूँटी, रस्सी और घास हो, इसी तरह बछड़े का घर तो शरीर है जिसमें वह रहता है, बिना शरीर के वह काम नहीं कर सकता।

(५४) मस्तिष्क और नेत्र बरन् समस्त अंग इसके फिरने के कमरे हैं, प्रत्येक अंग में वह फिरता अपना काम करता है, किंतु मस्तिष्क विशेष जो उसकी ज्ञान की आत्मायें (वृत्तियां) हैं खेलने का कमरा है, क्योंकि वह जो उसकी स्वाभाविक काम की शाखाएँ हैं वह तो प्रत्येक अंग में केंद्रित हैं, और मुख्यतः यकृत् उसका मूल है, परन्तु ज्ञान की आत्माएँ (वृत्तियाँ) शाखाओं की भाँति उससे निकल कर जब हृदय और मस्तिष्कमें फैलती हैं, तो सोच समझ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियों का काम करती हैं, इस लिये हाथ और मस्तिष्क ज्ञान के बर्ताव का मुख्य कमरा है।

(५५) प्राण उसकी खूँटी है क्योंकि जिस प्रकार बछड़ा खूँटी से बँधा हुआ घर से बाहर नहीं निकल जाता, इसी तरह जब तक प्राण शरीर में स्थिर रहता है यह शरीर भी रहता है, और जब प्राण अंग २ से पृथक होता है, तो फिर यह शरीर से निकल जाता है। इसी को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं।

(५६) जो कुछ भोजन किया जाता है, पहला रासायनिक परिवर्तन उस का आमाशय में होता है, उस भोजन में जो स्थूलता और फोक होता है भिन्न होकर आँतों के मार्ग से मल होकर बाहर निकल जाता है। वह जो उस का सूक्ष्म रस होता है, यकृत् में जाता है, और वहाँ परिपाक पाता है, और उस की स्थूलता मूत्र के रूप में मूत्राशय में आ जाती है, और लिंग के मार्ग से निकल जाती है। और उस में से जो सूक्ष्मता यकृत् में पकती है उस से रक्त, पित्त, वात और कफ बनते

(५३) जिस प्रकार बछड़े के लिये आवश्यक है कि उसके लिये घर, फिरने का कमरा, बांधनेकी खूँटी, रस्सी और घास हो, इसी तरह बछड़े का घर तो शरीर है जिसमें यह रहता है, बिना शरीर के वह काम नहीं कर सकता।

(५४) मस्तिष्क और नेत्र बरन् समस्त अंग इसके फिरने के कमरे हैं, प्रत्येक अंग में वह फिरता अपना काम करता है, किंतु मस्तिष्क विशेष जो उसकी ज्ञान की आत्मायें (वृत्तियां) हैं खेलने का कमरा है, क्योंकि वह जो उसकी स्वाभाविक काम की शाखाएँ हैं वह तो प्रत्येक अंग में केंद्रित हैं, और मुख्यतः यकृत् उसका मूल है, परन्तु ज्ञान की आत्माएँ (वृत्तियाँ) शाखाओं की भाँति उससे निकल कर जब हृदय और मस्तिष्कमें फैलती हैं, तोसोच समझ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियों का काम करती हैं, इस लिये हाथ और मस्तिष्क ज्ञान के बर्ताव का मुख्य कमरा है।

(५५) प्राण उसकी खूँटी है क्योंकि जिस प्रकार बछड़ा खूँटी से बँधा हुआ घर से बाहर नहीं निकल जाता, इसी तरह जब तक प्राण शरीर में स्थिर रहता है यह शरीर भी रहता है, और जब प्राण अंग २ से पृथक होता है, तो फिर यह शरीर से निकल जाता है। इसी को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं।

(५६) जो कुछ भोजन किया जाता है, पहला रासायनिक परिवर्तन उस का आमाशय में होता है, उस भोजन में जो स्थूलता और फोक होता है भिन्न होकर आँतों के मार्ग से मल होकर बाहर निकल जाता है। वह जो उस का सूक्ष्म रस होता है, यकृत् में जाता है, और वहाँ परिपाक पाता है, और उस की स्थूलता मूत्र के रूप में मूत्राशय में आ जाती है, और लिंग के मार्ग से निकल जाती है। और उस में से जो सूक्ष्मता यकृत् में पकती है उस से रक्त, पित्त, वात और कफ बनते

भोजन उस का शरीर होता है। इसलिये भोजन रस्सी के समान है। इस प्रकार इस रज्जु से, उस खूंटी से बँधा हुआ यह प्राण शरीर में काम करता है। जब यह वाष्प रूप प्राण (अर्थात् उदान प्राण) सहकता है, तो फिर यह नवयुवक बछड़े की तरह शरीर से निकल जाता है। यही इस का स्वभाव है।

(६०) यह हमारी अपनी कपोल-कल्पना नहीं वरन् प्राणों की पहचान में शिशु* ब्राह्मण इसी तरह वर्णन करता है। क्योंकि हम आरण्यक भाग में सुनते हैं कि जो व्यक्ति बछड़े को, उस के घर को, उस के घर के कमरों को, उस की खूँटी को और उस के बाँधने की रस्सी को जानता है, अपने विरोधी भाइयों पर विजय पाता है।

(६१) विरोधी भाई यहाँ वही इंद्रियाँ और मन हैं, क्योंकि वही इसे विषयों में लगाते, इस को देखने की आत्मा की पहचान से रोकते हैं जो इस का उच्चतम मनोरथ है। जब वह इस प्रकार इस बछड़े को उस के पूर्वोक्त कारणों सहित जान जाता है तो फिर उनको विषयों से सुगमता पूर्वक रोक लेता है। यही इस की पहचान का फल है, ऐसा श्रुति वर्णन करती है।

(६२) दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुँह सब सात भाई हैं जो इसे विषयों में लगाते हैं, अन्तर्मुख नहीं होने देते। इन्हीं को वश में करने के लिये समस्त शास्त्र-विधानों का पालन और उपासना की जाती है, परंतु इस बछड़े की पहचान से फिर यह सुगमता पूर्वक वश में हो जाते हैं।

(६३) यह प्राण वास्तव में बछड़ा है, इस का यही शरीर घर है, और मस्तिष्क इसका फिरने और निकलने का कमरा है, वाष्प-आत्मा (उदान प्राण) उस की खूँटी है, भोजन उस की रस्सी है, नेत्र के कमरे में सात ग्वाले हैं जो उसे

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २ ब्रा० २

भोजन उस का शरीर होता है। इसलिये भोजन रस्सी के समान है। इस प्रकार इस रज्जु से, उस खूंटी से बँधा हुआ यह प्राण शरीर में काम करता है। जब यह वाष्प रूप प्राण (अर्थात् उदान प्राण) सरकता है, तो फिर यह नवयुवक बछड़े की तरह शरीर से निकल जाता है। यही इस का स्वभाव है।

(६०) यह हमारी अपनी कपोल-कल्पना नहीं वरन् प्राणों की पहचान में शिशु* ब्राह्मण इसी तरह वर्णन करता है। क्योंकि हम आरण्यक भाग में सुनते हैं कि जो व्यक्ति बछड़े को, उस के घर को, उस के घर के कमरों को, उस की खूंटी को और उस के बाँधने की रस्सी को जानता है, अपने विरोधी भाइयों पर विजय पाता है।

(६१) विरोधी भाई यहाँ वही इंद्रियाँ और मन हैं, क्योंकि वही इसे विषयों में लगाते, इस को देखने की आत्मा की पहचान से रोकते हैं जो इस का उच्चतम मनोरथ है। जब वह इस प्रकार इस बछड़े को उस के पूर्वोक्त कारणों सहित जान जाता है तो फिर उनको विषयों से सुगमता पूर्वक रोक लेता है। यही इस की पहचान का फल है, ऐसा श्रुति वर्णन करती है।

(६२) दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुँह सब सात भाई हैं जो इसे विषयों में लगाते हैं, अन्तर्मुख नहीं होने देते। इन्हीं को वश में करने के लिये समस्त शास्त्र-विधानों का पालन और उपासना की जाती है, परंतु इस बछड़े की पहचान से फिर यह सुगमता पूर्वक वश में हो जाते हैं।

(६३) यह प्राण वास्तव में बछड़ा है, इस का यही शरीर घर है, और मस्तिष्क इसको फिरने और निकलने का कमरा है, वाष्प-आत्मा (उदान प्राण) उस की खूँटी है, भोजन उस की रस्सी है, नेत्र के कमरे में सात ग्वाले हैं जो उसे

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद अ० २ ब्रा० २

र सात ऋषि रहते हैं, और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को बत-
लाता है । चमस नाम एक बरतन का है जो यज्ञ के काम में
लाया जाता है, और वह गोल होता है । और बिल (बेल) भी
एक प्रसिद्ध वृक्ष का फल है जिसमें भारतीय चिकत्सक लोग
ओषधि रक्खा करते हैं । यदि बेल के ऊपर चमस को औंधा
करके रक्खें, तो ठीक मनुष्य के शिर की आकृति हो जाती है ।
इस लिये मंत्र में अलंकार रूप में पढ़ा गया है कि एक औंधा
चमस बेल है अर्थात् मनुष्य का शिर है ।

(६७) और उसमें विश्व रूप यश रक्खा हुआ है, अर्थात्
यही प्राण जो करने की आत्मा है एक यश है, जो उस में भरा
हुआ है । और वह विश्व रूप है, क्योंकि समस्त जगत् इसी
का बना हुआ है । इसके किनारे पर सात ऋषि हैं अर्थात्
आँख कान नाक मुँह जो किनारे हैं सात ऋषि हैं, और वाक
आठवां है जो ब्रह्म को बताता है ।

(६८) दो कान दो नाक दो आँख एक मुँह सब सात ज्ञान-
शक्तियां (इन्द्रियां) सात ऋषि हैं जो ब्रह्म को सुनते हैं, और
वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को अपने भीतर वर्णन करता है । इस
प्रकार इन ऋषियों की सभा में ब्रह्म की कथा होती है । और
चमस बेल मस्तिष्क में, जो यश का पात्र है, यश मिलता है ।
यह इस मंत्र का तात्पर्य है ।

(६९) ये दोनों कान तो मानो गौतम और भारद्वाज ऋषि
हैं । दाहनी ओर गौतम, बाईं ओर भारद्वाज ऋषि हैं । ये दोनों
आँख मानो विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं । दाहनी ओर
विश्वामित्र और बाईं ओर जमदग्नि है । ये दोनों नासारंध्र
(नाक के छिद्र) मानो वशिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं । दाहना नासा-
रंध्र वशिष्ठ बायां नासा-रंध्र कश्यप ऋषि हैं । वाक् मानो अत्रि
ऋषि है, जो ब्रह्म की कथा सुनाता है और खाता भी है । जिस

पर सात ऋषि रहते हैं, और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को बतलाता है। चमस नाम एक बरतन का है जो यज्ञ के काम में लाया जाता है, और वह गोल होता है। और बिल (बेल) भी एक प्रसिद्ध वृक्ष का फल है जिसमें भारतीय चिकत्सक लोग ओषधि रक्खा करते हैं। यदि बेल के ऊपर चमस को औंधा करके रक्खें, तो ठीक मनुष्य के शिर की आकृति हो जाती है। इस लिये मंत्र में अलंकार रूप में पढ़ा गया है कि एक औंधा चमस बेल है अर्थात् मनुष्य का शिर है।

(६७) और उसमें विश्व रूप यश रक्खा हुआ है, अर्थात् यही प्राण जो करने की आत्मा है एक यश है, जो उस में भरा हुआ है। और वह विश्व रूप है, क्योंकि समस्त जगत् इसी का बना हुआ है। इसके किनारे पर सात ऋषि हैं अर्थात् आँख कान नाक मुँह जो किनारे हैं सात ऋषि हैं, और वाक आठवां है जो ब्रह्म को बताता है।

(६८) दो कान दो नाक दो आँख एक मुँह सब सात ज्ञान-शक्तियां (इन्द्रियां) सात ऋषि हैं जो ब्रह्म को सुनते हैं, और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को अपने भीतर वर्णन करता है। इस प्रकार इन ऋषियों की सभा में ब्रह्म की कथा होती है। और चमस बेल मस्तिष्क में, जो यश का पात्र है, यश मिलता है। यह इस मंत्र का तात्पर्य है।

(६९) ये दोनों कान तो मानो गौतम और भारद्वाज ऋषि हैं। दाहनी ओर गौतम, बाईं ओर भारद्वाज ऋषि हैं। ये दोनों आँखें मानो विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं। दाहनी ओर विश्वामित्र और बाईं ओर जमदग्नि है। ये दोनों नासारंध्र (नाक के छिद्र) मानो वशिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं। दाहना नासा रंध्र वशिष्ठ बायां नासा-रंध्र कश्यप ऋषि है।. वाक् मानो अत्रि ऋषि है, जो ब्रह्म की कथा सुनाता है और खाता भी है। जिस

शरीर वाला नहीं हो जाता, इसलिये जो अशरीरी है वही शरीर वाला और जो अरूप है वही रूपवाला हो सकता है। यदि अशरीरी शरीर वाला नहीं हो सकता, तो क्या शरीर शरीर वाला हो सकता है? कदापि नहीं। वह तो स्वयं शरीर है। किस प्रकार शरीर वाला निश्चित हो सकता है? इसलिये उनका ख़याल जो ईश्वर को शरीर वाला होना नहीं मानते हैं, ठीक नहीं है।

(७४) यहाँ यह अवश्य है कि जब वह शरीर की उपाधियों से शरीर वाला होता है या नाम-रूप उपाधियों से नाम-रूप वाला होता है, तो उस में शरीर या नाम-रूप प्रवेश होने नहीं पाते, वरन् वह ज्यों का त्यों शुद्ध पवित्र, अशरीरी और अनाम-रूप रहता है। जिस प्रकार स्फटिक का ग्लास भी लाल मदिरा से भरा हुआ लाल निश्चित होता है, तो भी दूसरे की लालिमा से स्पर्श नहीं पाता है। इसीप्रकार शुद्ध ब्रह्म भी शरीर या नाम रूप उपाधियों से शरीर वाला और नाम रूप वाला होता है, तो भी उन से स्पर्श नहीं पाता।

(७५) वरन् क्या शरीर, क्या नाम, क्या रूप, सब उसी के प्रकाश हैं और वह अपने ही प्रकाशों से प्रकाशमान् होता शरीर वाला और रूप वाला कहलाता है। इस बात का विवरण हम पहले लिख आये हैं। जब वह इन प्रकाशों को दूर करता है, तो वही अशरीरी और अनामरूप, सत् का भी सत्, अपने आनंद में होता है जैसा कि सुषुप्ति में अनेक बार सिद्ध कर दिखाया है। अब इस ब्राह्मण में यह सिद्ध करना है कि उन रूपों को जो सब में सत् दिखाई देते हैं, और जिन से वह रूप वाला प्रकट हुआ है बुद्धि से निषेध करके कि "यह रूप भी वह नहीं" इस निषेध के बाद यह जो शेष अरूप रहता है, वही सत् है और वही सत् का भी सत् है।

शरीर वाला नहीं हो जाता, इसलिये जो अशरीरी है वही शरीर वाला और जो अरूप है वही रूपवाला हो सकता है। यदि अ-शरीरी शरीर वाला नहीं हो सकता, तो क्या शरीर -शरीर वाला हो सकता है? कदापि नहीं। वह तो स्वयं शरीर है। किस प्रकार शरीर वाला निश्चित हो सकता है? इसलिये उनका खयाल जो ईश्वर को शरीर वाला होना नहीं मानते हैं, ठीक नहीं है।

(७४) यहाँ यह अवश्य है कि जब वह शरीर की उपाधियों से शरीर वाला होता है या नाम-रूप उपाधियों से नाम-रूप वाला होता है, तो उस में शरीर या नाम-रूप प्रवेश होने नहीं पाते, वरन् वह ज्यों का त्यों शुद्ध पवित्र, अशरीरी और अनाम-रूप रहता है। जिस प्रकार स्फटिक का ग्लास भी लाल मदिरा से भरा हुआ लाल निश्चित होता है, तो भी दूसरे की लालिमा से स्पर्श नहीं पाता है। इसीप्रकार शुद्ध ब्रह्म भी शरीर या नाम रूप उपाधियों से शरीर वाला और नाम रूप वाला होता है, तो भी उन से स्पर्श नहीं पाता।

(७५) वरन् क्या शरीर, क्या नाम, क्या रूप, सब उसी के प्रकाश हैं और वह अपने ही प्रकाशों से प्रकाशमान् होता शरीर वाला और रूप वाला कहलाता है। इस बात का विवरण हम पहले लिख आये हैं। जब वह इन प्रकाशों को दूर करता है, तो वही अशरीरी और अनामरूप, सत् का भी सत्, अपने आनंद में होता है जैसा कि सुषुप्ति में अनेक बार सिद्ध कर दिखाया है। अब इस ब्राह्मण में यह सिद्ध करना है कि उन रूपों को जो सब में सत् दिखाई देते हैं, और जिन से वह रूप वाला प्रकट हुआ है बुद्धि से निषेध करके कि "यह रूप भी वह नहीं" इस निषेध के बाद यह जो शेष अरूप रहता है, वही सत् है और वही सत् का भी सत् है।

हैं, और दानों रूप उस निर्विवाद अरूपी सत्य के हैं।

(८०) यह मूर्त रूप जो ब्रह्म का है, आकाश और वायु के अतिरिक्त तीन भूत अग्नि जल पृथ्वी का है। यही मरनेवाला है, यही परिच्छिन्न है, यही चल है, यही प्रत्यक्ष वा इंद्रिय-ग्राह्य है। और यही सत है। इस मूर्त अर्थात् मरने वाले, परिच्छिन्न, चल, प्रत्यक्ष और सत के जो तीन भूत अग्नि, जल और पृथ्वी हैं, उन का यह सूर्य मंडल सार है जो प्रत्यक्ष तपता और चढ़ता है। उन्हीं के सत का यह रस है।

(८१) अब अमूर्त क्या है? यही आकाश और वायु अमूर्त हैं। यही अमर है। यही अपरिच्छिन्न, यही अचल, यही बुद्धि-ग्राह्य वा अतीन्द्रिय और यही सत है। इस अमूर्त, अमर, अपरिमित, अचल, बुद्धिग्राह्य सत के जो दो भूत आकाश और वायु हैं, यह करने की आत्मा (प्राण) उन का सार है, जो इस सारे मंडल के भीतर स्थित है, और सूर्य पुरुष कहलाती है, और यही उन के सत का रस है। यह अधिदेव है, इसी को हम हिरण्यगर्भ और दूसरे इसी को ईश्वर बोलते हैं।

(८२) यह न मान लेना चाहिए कि पहले मूर्त में तीन तत्त्व अग्नि जल पृथ्वी वर्णन किए हैं, तो उस में आकाश या वायु का अंश नहीं, वरन् है, यद्यपि बहुत अल्प है, किंतु अधिकता से वह तीन तत्व हैं, यह श्रुति का तात्पर्य है। जैसे कि मनुष्य का शरीर मिट्टी के अंश की अधिकता के कारण पार्थिव बोला जाता है। इसी तरह सूर्य में जो करने की आत्मा (प्राण) है, यह नहीं कि अग्नि जल पृथ्वी का सार जो सतो-गुण है उस में नहीं है, वरन् है, किंतु बहुत थोड़ा है। आकाश और वायु का सतोगुण अधिकता से मिलाया गया है, इस-लिये वह अमूर्त है, यह अभिप्राय है।

(८३) अब अध्यात्म वर्णन करते हैं। यह जो मूर्त है, अर्थात्

हैं, और दोनों रूप उस निर्विवाद अरूपी सत्य के हैं।

(८०) यह मूर्त रूप जो ब्रह्म का है, आकाश और वायु के अतिरिक्त तीन भूत अग्नि जल पृथ्वी का है। यही मरनेवाला है, यही परिच्छिन्न है, यही चल है, यही प्रत्यक्ष वा इंद्रियग्राह्य है। और यही सत है। इस मूर्त अर्थात् मरने वाले, परिच्छिन्न, चल, प्रत्यक्ष और सत के जो तीन भूत अग्नि, जल और पृथ्वी हैं, उन का यह सूर्य मंडल सार है जो प्रत्यक्ष तपता और चढ़ता है। उन्हीं के सत का यह रस है।

(८१) अब अमूर्त क्या है? यही आकाश और वायु अमूर्त हैं। यही अमर है। यही अपरिच्छिन्न, यही अचल, यही बुद्धि-ग्राह्य वा अतीन्द्रिय और यही सत है। इस अमूर्त, अमर, अपरिमित, अचल, बुद्धिग्राह्य सत के जो दो भूत आकाश और वायु हैं, यह करने की आत्मा (प्राण) उन का सार है, जो इस सारे मंडल के भीतर स्थित है, और सूर्य पुरुष कहलाती है, और यही उन के सत का रस है। यह अधिदेव है, इसी को हम हिरण्यगर्भ और दूसरे इसी को ईश्वर बोलते हैं।

(८२) यह न मान लेना चाहिए कि पहले मूर्त में तीन तत्त्व अग्नि जल पृथ्वी वर्णन किए हैं, तो उस में आकाश या वायु का अंश नहीं, वरन् है, यद्यपि बहुत अल्प है, किंतु अधिकता से वह तीन तत्व हैं, यह श्रुति का तात्पर्य है। जैसे कि मनुष्य का शरीर मिट्टी के अंश की अधिकता के कारण पार्थिव बोला जाता है। इसी तरह सूर्य में जो करने की आत्मा (प्राण) है, यह नहीं कि अग्नि जल पृथ्वी का सार जो सतोगुण है उस में नहीं है, वरन् है, किंतु बहुत थोड़ा है। आकाश और वायु का सतोगुण अधिकता से मिलाया गया है, इसलिये वह अमूर्त है, यह अभिप्राय है।

(८३) अब अध्यात्म वर्णन करते हैं। वह जो मूर्त है, अर्थात्

(८७) देखा, जब ये वासनाएँ हमारे भीतर प्रकाशमान् होती हैं, तो इन्हीं को मनुष्य अपने विचार या वृत्तियाँ कहता है, और जब ये प्रकाशमान नहीं होतीं, तो सबकी समझें चित्र की तरह शांत भीतर में रहती हैं। अतः वासना नाम उन्हीं समझों का है जो विना प्रकाशमान के हमारे भीतर हैं, किंतु हम में वह बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् कुछ स्वाभाविक रीति से, कुछ शिक्षा के ढंग पर, कुछ जिज्ञासा व जाँच पड़ताल के ढंग पर प्रकाशमान होती हैं। और हिरण्यगर्भ में जो सौर-मंडल के भीतर बतलाया गया है समष्टि सूक्ष्म शरीर है। उसमें सबकी समझें एक साथ सृष्टि के आदि से तत्क्षण प्रकाशमान हैं, और प्रलय पर्यंत अर्थात् महा प्रलय तक स्थित हैं। इस लिये वह सर्वज्ञ है, और हम अल्पज्ञ।

(८८) जब अंतरिक्ष (परलोक) से हिरण्यगर्भ निकलता है, तो समस्त वस्तुओं की समझें एक साथ बिजली की तरह यों प्रकाशमान होती हैं कि "यह वस्तु इस प्रकार बनती है, और उस समय बनती है, और उस नियत समय तक स्थित रहती है, या रहेगी, इत्यादि" और फिर उसके ये संकल्प महाप्रलय तक एक ही वृत्ति रूप से स्थिर रहते हैं। इसी कारण से श्रुति ने उसे बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान् होता वर्णन किया है, और उसकी जिज्ञासा का फल भी वर्णन किया है, कि वह जो इस पर विश्वास लाता है, उसे श्री अर्थात् लक्ष्मी मिलती है।

(८९) किंतु हमारी सब समझें भी यद्यपि समरूप से हमारे भीतर केंद्रित हैं, तो भी एक साथ एकाएक प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् बालकपन में वही स्वाभाविक रूप से, जितनी आवश्यकता है, प्रकाशमान होती हैं, और युवावस्था में भी उतनी ही जो कि उचित है। और फिर कुछ शिक्षा से और कुछ अनुभव से प्रकाशमान होती हैं, इस-लिये अध्यात्म वासना रूप

(८७) देखो, जब ये वासनाएँ हमारे भीतर प्रकाशमान होती हैं, तो उन्हीं को मनुष्य अपने विचार या वृत्तियाँ कहता है, और जब ये प्रकाशमान नहीं होतीं, तो सबकी समझें चित्र की तरह शांत भीतर में रहती हैं। अतः वासना नाम उन्हीं समझों का है जो बिना प्रकाशमान के हमारे भीतर हैं, किंतु हम में वह बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् कुछ स्वाभाविक रीति से, कुछ शिक्षा के ढंग पर, कुछ जिज्ञासा व जाँच पड़ताल के ढंग पर प्रकाशमान होती हैं। और हिरण्य-गर्भ में जो सौर-मंडल के भीतर बतलाया गया है समष्टि सूक्ष्म शरीर है। उसमें सबकी समझें एक साथ सृष्टि के आदि से तत्क्षण प्रकाशमान हैं, और प्रलय पर्यंत अर्थात् महा प्रलय तक स्थित हैं। इस लिये वह सर्वज्ञ है, और 'हम अल्पज्ञ।'

(८८) जब अंतरिक्ष (परलोक) से हिरण्यगर्भ निकलता है, तो समस्त वस्तुओं की समझें एक साथ बिजली की तरह यों प्रकाशमान होती हैं कि "यह वस्तु इस प्रकार बनती है, और उस समय बनती है, और उस नियत समय तक स्थित रहती है, या रहेगी, इत्यादि" और फिर उसके ये संकल्प महाप्रलय तक एक ही वृत्ति रूप से स्थिर रहते हैं। इसी कारण से श्रुति ने उसे बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान् होता वर्णन किया है, और उसकी जिज्ञासा का फल भी वर्णन किया है, कि वह जो इस पर विश्वास लाता है, उसे श्री अर्थात् लक्ष्मी मिलती है।

(८९) किंतु हमारी सब समझें भी यद्यपि समरूप से हमारे भीतर केंद्रित हैं, तो भी एक साथ एकाएक प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् बालकपन में वही स्वाभाविक रूप से, जितनी आवश्यकता है, प्रकाशमान होती हैं, और युवावस्था में भी उतनी ही जो कि उचित है। और फिर कुछ शिक्षा से और कुछ अनुभव से प्रकाशमान होती हैं, इस-लिये अध्यात्म वासना रूप

निश्चित होता है, वैसे ही यह मूर्त उपाधि में परिच्छिन्न हुआ भी शरीर वाला अल्पज्ञ जीव या मनुष्य होता है।

(९३) किंतु वास्तव में क्या मूर्त क्या अमूर्त क्या मर क्या अमर होना दोनों भिन्न तत्त्वों के धर्म हैं, और क्या समझें क्या बुद्धियाँ उन्हीं की वासना उन्हीं की सार हैं, जो एकत्रित होकर अंतः करण या हिरण्यगर्भ कहलाती हैं। और सब संभव सत (अर्थात् सद् सत्) हैं, उचित सत (अर्थात् वास्तव में सत) नहीं। वह मूर्त उपाधियाँ तो नियत समय तक सत हैं, ये अमूर्त उपाधियाँ आत्म-साक्षात्कार तक सत हैं, क्योंकि साक्षात्कार के पश्चात् क्या मूर्त क्या अमूर्त सब मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। इस लिये वह सब वास्तव में सत नहीं, वरन् सत वही है जो इन सब के निषेध से शेष रहता है और कोई भी गुण नहीं रखता। उसे स्रष्टा, या पालन कर्त्ता, या सर्वशक्तिमान, या सर्वज्ञ, इन गुणों से भी बद्ध या नियत करना भूल है, क्योंकि ये सब गुण या रूप अपने से भिन्न हिरण्यगर्भ के धर्म हैं जो उसमें कल्पित हैं।

(९४) जब वह किसी गुण से भी गुणी नहीं और किसी नाम से भी नामी नहीं, इसलिये वाणी, बुद्धि और मन की वहाँ तक पहुँच नहीं (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह)। अतः आवश्यक है कि उसे नाम-रूप, मूर्त अमूर्त में पहचानते हुए उन उपाधियों का ऐसे निषेध करें, कि न तो वह नाम है न रूप है, न मूर्त है न अमूर्त है, न सर्वज्ञ न अल्पज्ञ है, सब के निषेध का शेष है। यही सत्य है और यही हमारा आत्मा है, और यही विधि उस के ठीक पहचानने की है। इसलिये मूर्त अमूर्त ब्राह्मण ने क्या मूर्त क्या अमूर्त सब उसी के रूप वर्णन करके फिर "यह नहीं, यह नहीं" (नेति नेति), वरन् इन सब से परे, मूर्त रहित, अमूर्त, सब का आत्मा सिद्ध किया है। यही

निश्चित होता है, वैसे ही यह मूर्त उपाधि में परिच्छिन्न हुआ भी शरीर वाला अल्पज्ञ जीव या मनुष्य होता है।

(९३) किंतु वास्तव में क्या मूर्त क्या अमूर्त क्या मर क्या अमर होना दोनों भिन्न तत्त्वों के धर्म हैं, और क्या समझें क्या बुद्धियाँ उन्हीं की वासना उन्हीं की सार हैं, जो एकत्रित होकर अंतः करण या हिरण्यगर्भ कहलाती हैं। और सब संभव सत (अर्थात् सद् सत्) हैं, उचित सत (अर्थात् वास्तव में सत) नहीं। वह मूर्त उपाधियाँ तो नियत समय तक सत हैं, ये अमूर्त उपाधियाँ आत्म-साक्षात्कार तक सत हैं, क्योंकि साक्षात्कार के पश्चात् क्या मूर्त क्या अमूर्त सब मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। इस लिये यह सब वास्तव में सत नहीं, वरन् सत वही है जो इन सब के निषेध से शेष रहता है और कोई भी गुण नहीं रखता। उसे स्रष्टा, या पालन कर्त्ता, या सर्व-शक्तिमान, या सर्वज्ञ, इन गुणों से भी बद्ध या नियत करना भूल है, क्योंकि ये सब गुण या रूप अपने से भिन्न हिरण्यगर्भ के धर्म हैं जो उसमें कल्पित हैं।

(९४) जब वह किसी गुण से भी गुणी नहीं और किसी नाम से भी नामी नहीं, इसलिये वाणी, बुद्धि और मन की वहाँ तक पहुँच नहीं (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह)। अतः आवश्यक है कि उसे नाम-रूप, मूर्त अमूर्त में पहचानते हुए उन उपाधियों का ऐसे निषेध करें, कि न तो वह नाम है न रूप है, न मूर्त है न अमूर्त है, न सर्वज्ञ न अल्पज्ञ है, सब के निषेध का शेष है। यही सत्य है और यही हमारा आत्मा है, और यही विधि उस के ठीक पहचानने की है। इसलिये मूर्त अमूर्त ब्राह्मण ने क्या मूर्त क्या अमूर्त सब उसी के रूप वर्णन करके फिर "यह नहीं, यह नहीं" (नेति नेति), वरन् इन सब से परे, मूर्त रहित, अमूर्त, सब का आत्मा सिद्ध किया है। यही

उसे नहीं जानते ।

(९७) प्रमाण और वेदों की दृष्टि से यही सत्य है कि क्या मूर्त क्या अमूर्त वह सब में सब कुछ है। और क्या मूर्त क्या अमूर्त सब से निर्लिप्त सब से परे है, या यों निश्चय करें कि "सब वही है" या यों निश्चय करें कि "मैं वही हूँ"। यही उसकी पहचान और तत्त्व-ज्ञान है। इसी पहचान पर मुक्ति निर्भर है। आपा जानने वालों को चाहिए कि पहले इसी निश्चय पर विश्वास लाएँ कि "सब वही है" या "मैं वही हूँ" फिर उस को अध्यारोप अपवाद न्याय से, जैसा मूर्त अमूर्त ब्राह्मण में ढंग बतलाया गया है, उस का ज्ञान प्राप्त करें। और वह यही ढंग है कि सब नाम-रूप उस में कल्पित हैं, जो कुछ नाम या रूप या गुण या बुद्धि और चिन्तन में आवे, सब का निषेध वा अपवाद करता जाय। वह जो सब के निषेध वा अपवाद के पश्चात् उन का अपवाद करने वाला आत्मा अपना आप है, वही शेष है, वही निर्विवाद निर्गुण रहेगा। क्योंकि जब सब गुण और 'क्यों क्या' का वह अपवाद कर लेगा, तो उस का अपना आप जिस ने सब का अपवाद किया है उस का निषेध नहीं हो सकता, वरन् वही शेष रह सकता है। उस समय "ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय प्राप्त हो सकता है।

(९८) किंतु जिस को यह "अहं ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय न प्राप्त हो, उस को चाहिए कि इस पर विश्वास अवश्य लाए, क्योंकि इसी विश्वास के कारण वह देवयान सड़क पर चलता ब्रह्मलोक जायगा, और स्वयं प्रजापति उसे शिक्षा देगा। और इसी विश्वास को साक्षात्कार का फल लगा देगा, और अपने साथ प्रसाद में प्रविष्ट कर लेगा। इस हेतु कि यही विश्वास वास्तव में आत्म-साक्षात्कार का बीज है, इसलिए जिस के पास बीज नहीं वह फल भी नहीं खा सकता।

उसे नहीं जानते ।

(९७) प्रमाण और वेदों की दृष्टि से यही सत्य है कि क्या मूर्त क्या अमूर्त वह सब में सब कुछ है। और क्या मूर्त क्या अमूर्त सब से निर्लिप्त सब से परे है, या यों निश्चय करें कि "सब वही है" या यों निश्चय करें कि "मैं वही हूँ"। यही उसकी पहचान और तत्त्व-ज्ञान है। इसी पहचान पर मुक्ति निर्भर है। आपा जानने वालों को चाहिए कि पहले इसी निश्चय पर विश्वास लायें कि "सब वही है" या 'मैं वही हूँ" फिर उस को अध्यारोप अपवाद न्याय से, जैसा मूर्त अमूर्त ब्राह्मण में ढंग बतलाया गया है, उस का ज्ञान प्राप्त करें। और वह यही ढंग है कि सब नाम-रूप उस में कल्पित हैं, जो कुछ नाम या रूप या गुण या बुद्धि और चिन्तन में आवे, सब का निषेध वा अपवाद करता जाय। वह जो सब के निषेध वा अपवाद के पश्चात् उन का अपवाद करने वाला आत्मा अपना आप है, वही शेष है, वही निर्विवाद निर्गुण रहेगा। क्योंकि जब सब गुण और 'क्यों क्या' का वह अपवाद कर लेगा, तो उस का अपना आप जिस ने सब का अपवाद किया है उस का निषेध नहीं हो सकता, वरन् वही शेष रह सकता है। उस समय "ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय प्राप्त हो सकता है।

(९८) किंतु जिस को यह "अहं ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय न प्राप्त हो, उस को चाहिए कि इस पर विश्वास अवश्य लाए, क्योंकि इसी विश्वास के कारण वह देवयान सड़क पर चलता ब्रह्मलोक जायगा, और स्वयं प्रजापति उसे शिक्षा देगा। और इसी विश्वास को साक्षात्कार का फल लगा देगा और अपने साथ प्रसाद में प्रविष्ट कर लेगा। इस हेतु कि यही विश्वास वास्तव में आत्म-साक्षात्कार का बीज है, इसलिए जिस के पास बीज नहीं वह फल भी नहीं खा सकता।

(१००) तो भी उसकी स्तुति, उसका भजन, उसकी पूजा उन्हीं उपाधियों में होती है, इसलिये भाषाविदों को चाहिये कि शास्त्र के अनुसार क्या मूर्त क्या अमूर्त सब में उसे स्मरण करता हुआ उन्हीं गुणों से जो सर्वज्ञ आदिक हैं प्रत्येक मूर्त अमूर्त में पूजा करे, और प्रर्थना करे कि "ऐ परमात्मदेव! अपने प्रसाद और अनुग्रह से हमारी अविद्या का परदा उठाओ और अपने प्रसाद में मिलाप दो, कि हम तेरी प्रतिष्ठा करें और तुम हमारी प्रतिष्ठा करो, जिस से मैं उसी तरह देखूं "जो तू है वही मैं हूँ"। और यही तेरा परमपद है और यही तेरी अभेदता है। और यही मेरी मुक्ति और यही मेरा प्रसाद में प्रविष्ट होना है।" वह जो कोई अपनी मन मानी पूजा या बंदगी का विधान ठहराता है, अपनी आयु नष्ट करता है, कुछ भी अंत में प्राप्त नहीं होता। इसलिये वेदों के अनुसार उसे कर्म और उपासना करनी चाहिए जिस में फल भी नियत हैं और भीतर (अन्तःकरण) की शुद्धि भी नियत है। पाश्चात्य विचारों पर उसे नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वह स्वयं देहाभिमानी विरेचन के शिष्य हैं, और उनका अंतिम परिणाम शुभ नहीं।

तीसरा अध्याय।

(१) हम इस पहचान को उदाहरण की रीति से सुगम करते हैं, क्योंकि भाषाविद् जब तक इस करने की आत्मा और देखने की आत्मा में अंतर नहीं करेगा, तब तक मोक्ष नहीं पावेगा। वरन् सब से कठिन यही है कि करने की आत्मा से देखने की आत्मा अलग करके अपना आत्मा साक्षी जाने और स्वयं पूर्ण ज्ञान के कारण असंग, अकर्त्ता, अभोक्ता, द्रष्टा हो कर जगत् में रहे। यही जीवन मुक्ति है।

(१००) तो भी उसकी स्मृति, उसका भजन, उसकी पूजा उन्हीं उपाधियों में होती है, इसलिये भाषाविदों को चाहिये कि शास्त्र के अनुसार क्या मूर्त क्या अमूर्त सब में उसे स्मरण करता हुआ उन्हीं गुणों से जो सर्वज्ञ आदिक हैं प्रत्येक मूर्त अमूर्त में पूजा करे, और प्रर्थना करे कि "ऐ परमात्मदेव! अपने प्रसाद और अनुग्रह से हमारी अविद्या का परदा उठाओ और अपने प्रसाद में मिलाप दो, कि हम तेरी प्रतिष्ठा करें और तुम हमारी प्रतिष्ठा करो, जिस से मैं उसी तरह देखूँ "जो तू है वही मैं हूँ"। और यही तेरा परमपद है और यही तेरी अभेदता है। और यही मेरी मुक्ति और यही मेरा प्रसाद में प्रविष्ट होना है।" वह जो कोई अपनी मन मानी पूजा या बंदगी का विधान ठहराता है, अपनी आयु नष्ट करता है, कुछ भी अंत में प्राप्त नहीं होता। इसलिये वेदों के अनुसार उसे कर्म और उपासना करनी चाहिए जिस में फल भी नियत हैं और भीतर (अन्तःकरण) की शुद्धि भी नियत है। पाश्चात्य विचारों पर उसे नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वह स्वयं देहाभिमानी विरेचन के शिष्य हैं, और उनका अंतिम परिणाम शुभ नहीं।

तीसरा अध्याय।

(१) हम इस पहचान को उदाहरण की रीति से सुगम करते हैं, क्योंकि भाषाविद जब तक इस करने की आत्मा और देखने की आत्मा में अंतर नहीं करेगा, तब तक मोक्ष नहीं पावेगा। वरन् सब से कठिन यही है कि करने की आत्मा से देखने की आत्मा अलग करके अपना आत्मा साक्षी जाने और स्वयं पूर्ण ज्ञान के कारण असंग, अकर्त्ता, अभोक्ता, द्रष्टा हो कर जगत् में रहे। यही जीवन मुक्ति है।

तरह पाँव चलते हैं, हाथ पकड़ते हैं, कभी नाचते हैं, कभी कूदते हैं, कभी लपते, कभी कुश्ती करते हैं, और फिर एक दूसरे अपने आपको बचाते दूसरों को पछाड़ते हैं, और विचित्र विचित्र तमाशा करते हैं, पर यह तमाशा इसी करने की आत्मा के पैबंध (सम्बन्ध) से होता है।

(६) जब यह करने की आत्मा मूर्तियों से संबंध तोड़ती है, तो फिर ये मूर्तियाँ मृतक के समान न तो स्वयं अपने आप चलती, न पकड़ती, न नाचती, न कूदती हैं, वरन् पत्थर की तरह रह जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि मूर्तमात्र शरीर सब पुतलियों की तरह जड़ है, और करने की आत्मा तार प्रति तार उनके भीतर प्रत्येक अंग में और प्रत्येक नस नाड़ी में उसी तरह बुद्धिमानी से बाँधी गई है जिस तरह पुतलीगर भी पुतलियों के भीतर तारें बांधता है।

(७) फिर इस हेतु कि जिस प्रकार मूर्तिमात्र शरीरों के भीतर करने की आत्मा तारों के समान लगाई गई है, उसी तरह करने की आत्मा के भीतर देखने की आत्मा रक्खी गई है, जो उसे व्यापार में प्रेरित करती और इन्द्रियों के द्वारा उसे देखती है। इस तार को जो करने की आत्मा है, वेदविद् ब्राह्मण सूत्रात्मा बोलते हैं, और इस देखने की आत्मा को सूत्रधारी, क्योंकि संस्कृत में सूत्र के अर्थ तार के हैं और सूत्रधारी का अर्थ तार वाले के हैं। परंतु इस कारण कि यह सूत्रधारी मूर्तियों वरन् तारों के भीतर छिपा हुआ उन्हें प्रेरित वा चेष्टावान् करता है, इसलिये अंतर्यामी भी इसका नाम करते हैं, क्योंकि प्रत्येक के भीतर प्रविष्ट हो कर जो उन्हें व्यापार में अनुशासित करता हो, वही संस्कृत भाषा में अंतर्यामी कहलाता है।

(८) यह देखने की आत्मा, जो करने की आत्मा के भीतर केवल ज्योति है, न तो कोई रूप रखती है न चेष्टा। किंतु इस

तरह पाँव चलते हैं, हाथ पकड़ते हैं, कभी नाचते हैं, कभी कूदते हैं, कभी लपते, कभी कुश्ती करते हैं, और फिर एक दूसरे अपने आपको बचाते दूसरों को पछाड़ते हैं, और विचित्र विचित्र तमाशा करते हैं, पर यह तमाशा इसी करने की आत्मा के पैबंध (सम्बन्ध) से होता है।

(६) जब यह करने की आत्मा मूर्तियों से संबंध तोड़ती है, तो फिर ये मूर्तियाँ मृतक के समान न तो स्वयं अपने आप चलती, न पकड़ती, न नाचती, न कूदती हैं, वरन् पत्थर की तरह रह जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि मूर्तमात्र शरीर सब पुतलियों की तरह जड़ है, और करने की आत्मा तार प्रति तार उनके भीतर प्रत्येक अंग में और प्रत्येक नस नाड़ी में उसी तरह बुद्धिमानी से बाँधी गई है जिस तरह पुतलीगर भी पुतलियों के भीतर तारें बांधता है।

(७) फिर इस हेतु कि जिस प्रकार मूर्तिमात्र शरीरों के भीतर करने की आत्मा तारों के समान लगाई गई है, उसी तरह करने की आत्मा के भीतर देखने की आत्मा रक्खी गई है, जो उसे व्यापार में प्रेरित करती और इन्द्रियों के द्वारा उसे देखती है। इस तार को जो करने की आत्मा है, वेदविद् ब्राह्मण सूत्रात्मा बोलते हैं, और इस देखने की अत्मा को सूत्रधारी, क्योंकि संस्कृत में सूत्र के अर्थ तार के हैं और सूत्रधारी का अर्थ तार वाले के हैं। परंतु इस कारण कि यह सूत्रधारी मूर्तियों वरन् तारों के भीतर छिपा हुआ उन्हें प्रेरित वा चेष्टावान् करता है, इसलिये अंतर्यामी भी इसका नाम करते हैं, क्योंकि प्रत्येक के भीतर प्रविष्ट हो कर जो उन्हें व्यापार में अनुशासित करता हो, वही संस्कृत भाषा में अंतर्यामी कहलाता है।

(८) यह देखने की आत्मा, जो करने की आत्मा के भीतर केवल ज्योति है, न तो कोई रूप रखती है न चेष्टा। किंतु इस

(१०) बंध तो यहाँ यही है कि जो शरीर, मूर्तिमात्र, इन तारों में जो करने की आत्मा है, बंधा हुआ है, और आत्मा का जब तक विवेक नहीं तब तक अहंता की स्वाभाविक प्रतीति शरीर में उसे हो रही है। जब इन उपाधियों वा बंधनों में शरीर नाचता है, तो यह भी भ्रमता है कि "मैं नाचता हूँ", उस के दुख-सुख भूख प्यास को अपने दुख-सुख, भूख-प्यास निश्चित करता है। यही अविवेक इस के बंधन का कारण है। किंतु जब यह इस प्रकार सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी आत्मा का विवेक पाता है, तो जीवन मुक्ति पाता है।

(११) अधिकतर ख़राबी अविद्या की यह है कि अनजान मनुष्य इतना ही विचार नहीं करता कि "मैं शरीर हूँ", वरन् करने की आत्माओं को, जो तारों के समान जड़ हैं और संसार के भीतर सब में सब कुछ करती हैं, ईश्वर सर्व-शक्तिमान् मानता है और अपने आप को जो शरीर मानता है, उस के हाथ में विवश देखता उस का बँधा हुआ होता है, यद्यपि ये करने की आत्माएँ भी तारों के समान जड़ हैं। बिना असली आत्मा के जो अंतर्यामी है वे गति नहीं कर सकतीं।

(१२) विचित्रतम बात यह भी हुई है कि इसी के अनुशासन से इसी के पहले जन्म के कर्म जो आरंभ संकल्प में इसी की भावना के अनुसार भोग देने के लिये उदय हुए थे, उन तारों के खिलाने में नियत हुए हैं। इसी के शासन और प्रेरणा से और इसी के कर्मों की जाँच परताल से वह सुख-दुख के भोग का अभिनय करते हैं, और यह इस क्षुद्र मानवी संकल्प से दुःखों को दूर करना चाहता है, पर वे दूर नहीं होते, इसलिये विवश देखता दीन बनता है। यही इस की माया है। परंतु जब यह अपने आत्मा को जो अन्तर्यामी है, दरियाफ़्त करता और पहचानता है, तो देह के अभिमान को छोड़ता अंतर्यामी के

(१०) बंध तो यहाँ यही है कि जो शरीर, मूर्तिमान्, इन तारों में जो करने की आत्मा है, बंधा हुआ है, और आत्मा का जब तक विवेक नहीं तब तक अहंता की स्वाभाविक प्रतीति शरीर में उसे हो रही है। जब इन उपाधियों या बंधनों में शरीर नाचता है, तो यह भी भ्रमता है कि "मैं नाचता हूँ", उस के दुख-सुख भूख प्यास को अपने दुख-सुख, भूख-प्यास निश्चित करता है। यही अविवेक इस के बंधन का कारण है। किंतु जब यह इस प्रकार सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी आत्मा का विवेक पाता है, तो जीवन मुक्ति पाता है।

(११) अधिकतर ख़राबी अविद्या की यह है कि अनजान मनुष्य इतना ही विचार नहीं करता कि "मैं शरीर हूँ", वरन् करने की आत्माओं को, जो तारों के समान जड़ हैं और संसार के भीतर सब में सब कुछ करती हैं, ईश्वर सर्व-शक्तिमान् मानता है और अपने आप को जो शरीर मानता है, उस के हाथ में विवश देखता उस का बँधा हुआ होता है, यद्यपि ये करने की आत्माएँ भी तारों के समान जड़ हैं। बिना असली आत्मा के जो अंतर्यामी है वे गति नहीं कर सकतीं।

(१२) विचित्रतम बात यह भी हुई है कि इसी के अनुशासन से इसी के पहले जन्म के कर्म जो आरंभ संकल्प में इसी की भावना के अनुसार भोग देने के लिये उदय हुए थे, उन तारों के हिलाने में नियत हुए हैं। इसी के शासन और प्रेरणा से और इसी के कर्मों की जाँच परताल से वह सुख-दुख के भोग का अभिनय करते हैं, और यह इस क्षुद्र मानवी संकल्प से दुःखों को दूर करना चाहता है, पर वे दूर नहीं होते, इसलिये विवश देखता दीन बनता है। यही इस की माया है। परंतु जब यह अपने आत्मा को जो अन्तर्यामी है, दरियाफ़्त करता और पहचानता है, तो देह के अभिमान को छोड़ता अंतर्यामी के

को जानता है जिस सूत्र में यह लोक परलोक सब भूत बंधे हुए हैं? पतंचल काप्य ने कहा कि मैं तो केवल यज्ञ-शास्त्र को जानता हूँ, सूत्र-आत्मा को नहीं जानता।

(१६) फिर उसने पतंचल काप्य और हम सब से कहा कि तुम अंतर्यामी को जानते हो जो इस लोक परलोक और सब भूतों को उन के भीतर छिप कर प्रेरणा करता है? तब पतंचल काप्य ने कहा, हम उस को भी नहीं जानते। फिर उसने कहा ऐ भाइयो! जो कोई इस सूत्रात्मा और इस अंतर्यामी को जानता है, वही ब्रह्म को जानने वाला होता है, वही लोक-परलोक के जानने वाला होता है, वही देवताओं के जानने वाला होता है, और वही आत्मा के जानने वाला होता है, वरन् वही सब कुछ जानता है।

(१७) वह जो इस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को नहीं जानता, यद्यपि सहस्रों विद्या रखता है, तो भी कुछ नहीं जानता। जब कोई ज्ञान का तो दावा करे, परंतु इस करने की आत्मा से देखने की आत्मा को पृथक् करके न जाने जो सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी है, तो ज्ञान के क्षेत्र में झूठा ताल ठोकने वाला वादी है। ज्ञानी का यही चिह्न है कि शिष्य को इस करने की आत्मा से देखने की आत्मा का अन्वयव्यतिरेक करके दिखला देवे। जब तक वह ऐसा न कर सके, तो गप मारता है, यही जानो।

(१८) फिर उसने हम को सूत्रात्मा जो करने की आत्मा है और अंतर्यामी जो देखने की आत्मा है भिन्न करके समझा दिया था। ऐ याज्ञवल्क्य! यदि तू उस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता है तो निस्संदेह यज्ञ की सब गाएँ ले जाना तुझे उचित है। यदि नहीं जानता, तो देख, तू यों ही ज्ञान का दावा करता और गाएँ ले जाता है, तेरा शिर गिर जाय गा, जो आकर्षीय शिर है।

(१९) याज्ञवल्क्य ने कहा—ऐ गौतम! मैं निश्चय रूप से

को जानता है जिस सूत्र में यह लोक परलोक सब भूत बँधे हुए हैं ? पतंचल काप्य ने कहा कि मैं तो केवल यज्ञ-शास्त्र को जानता हूँ, सूत्र-आत्मा को नहीं जानता।

(१६) फिर उसने पतंचल काप्य और हम सब से कहा कि तुम अंतर्यामी को जानते हो जो इस लोक परलोक और सब भूतों को उन के भीतर छिप कर प्रेरणा करता है ? तब पतंचल काप्य ने कहा, हम उस को भी नहीं जानते। फिर उसने कहा ऐ भाइयो! जो कोई इस सूत्रात्मा और इस अंतर्यामी को जानता है, वही ब्रह्म को जानने वाला होता है, वही लोक-परलोक के जानने वाला होता है, वही देवताओं के जानने वाला होता है, और वही आत्मा के जानने वाला होता है, वरन् वही सब कुछ जानता है।

(१७) वह जो इस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को नहीं जानता, यद्यपि सहस्रों विद्या रखता है, तो भी कुछ नहीं जानता। जब कोई ज्ञान का तो दावा करे, परंतु इस करने की आत्मा से देखने की आत्मा को पृथक् करके न जाने जो सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी है, तो ज्ञान के क्षेत्र में झूठा ताल ठोकने वाला वादी है। ज्ञानी का यही चिह्न है कि शिष्य को इस करने की आत्मा से देखने की आत्मा का अन्वयव्यतिरेक करके दिखला देवे। जब तक वह ऐसा न कर सके, तो गप मारता है, यही जानो।

(१८) फिर उसने हम को सूत्रात्मा जो करने की आत्मा है और अंतर्यामी जो देखने की आत्मा है भिन्न करके समझा दिया था। ऐ याज्ञवल्क्य! यदि तू उस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता है तो निस्संदेह यज्ञ की सब गाएँ ले जाना तुझे उचित है। यदि नहीं जानता, तो देख, तू यों ही ज्ञान का दावा करता और गाएँ ले जाता है, तेरा शिर गिर जाय गा, जो आकाशीय शिर है।

(१९) याज्ञवल्क्य ने कहा—ऐ गौतम! मैं निश्चय रूप से

(२४) वह जो जलों के भीतर, जलों से शरीर वाला हुआ, जलों को उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और जल उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२५) वह जो अग्नि के भीतर, अग्नि से शरीरी हुआ, अग्नि को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और अग्नि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२६) वह जो आकाश के भीतर, आकाश से शरीरी हुआ, अकाश को उस के वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और आकाश उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२७) वह जो वायु के भीतर, वायु से शरीरा हुआ, वायु को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और वायु उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२८) वह जो देवलोक के भीतर, देवलोक से शरीरी हुआ, देवलोक को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और देव-लोक उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२९) वह जो सूर्य के भीतर, सूर्य से शरीर हुआ, सूर्य को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और सूर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(३०) वह जो दिशाओं के भीतर, दिशाओं से शरीरी हुआ, दिशाओं को उनके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और दिशाएँ उसके वर्ताव को नहीं जानतीं, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(३१) वह जो चन्द्र के भीतर, चन्द्र से शरीरी हुआ, चन्द्र को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और चन्द्र उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है

(३२) वह जो तारों के भीतर, तारों से शरीरी हुआ, तारों को उनके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और तारे उसे नहीं

(२४) यह जो जलों के भीतर, जलों से शरीर वाला हुआ, जलों को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और जल उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२५) वह जो अग्नि के भीतर, अग्नि से शरीरी हुआ, अग्नि को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और अग्नि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२६) वह जो आकाश के भीतर, आकाश से शरीरी हुआ, अकाश को उस के बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और आकाश उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२७) वह जो वायु के भीतर, वायु से शरीरा हुआ, वायु को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और वायु उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२८) वह जो देवलोक के भीतर, देवलोक से शरीरी हुआ, देवलोक को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और देव-लोक उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२९) वह जो सूर्य के भीतर, सूर्य से शरीर हुआ, सूर्य को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और सूर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(३०) वह जो दिशाओं के भीतर, दिशाओं से शरीरी हुआ, दिशाओं को उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और दिशायें उसके बर्ताव को नहीं जानतीं, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(३१) वह जो चन्द्र के भीतर, चन्द्र से शरीरी हुआ, चन्द्र को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और चन्द्र उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है

(३२) यह जो तारों के भीतर, तारों से शरीरी हुआ, तारों को उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और तारे उसे नहीं

जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(४१) वह जो कानों के भीतर, कानों से शरीरी हुआ, कानों को उनके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और कान उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४२) वह जो मन के भीतर, मन से शरीरी हुआ, मन को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और मन उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४३) वह जो त्वचा के भीतर, त्वचा से शरीरी हुआ, त्वचा इन्द्रिय को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और त्वचा उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४४) वह जो बुद्धि के भीतर, बुद्धि से शरीरी हुआ, बुद्धि को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और बुद्धि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४५) वह जो वीर्य के भीतर, वीर्य से शरीरी हुआ, वीर्य को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और वीर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। वह आप दिखाई नहीं देता, वरन् सब का देखने वाला है। वह आप सुनाई नहीं देता, वरन् सबका सुनने वाला है। वह सोचा नहीं जाता, वरन् सब का सोचने वाला है। वह आप पहचाना नहीं जाता, वरन् सब के पहचानने वाला है। वह आप जाना नहीं जाता, वरन् सबका जानने वाला है।

(४६) निदान, विना उसके न कोई देखने वाला है, न कोई सुनने वाला है, न कोई सोचने वाला है, न कोई जानने वाला है। वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। विना उसके सब मिथ्या हैं, और सब उसी के देखने मात्र आभास हैं। तब उद्दालक मौन हुआ और संतोष को प्राप्त हुआ। जो कुछ गंधर्व ने सिखलाया था, वही याज्ञवल्क्य ने विवेक कर दिखलाया॥ ॐ शम्॥

जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(४१) वह जो कानों के भीतर, कानों से शरीरी हुआ, कानों को उनके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और कान उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४२) वह जो मन के भीतर, मन से शरीरी हुआ, मन को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और मन उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४३) वह जो त्वचा के भीतर, त्वचा से शरीरी हुआ, त्वचा इन्द्रिय को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और त्वचा उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४४) वह जो बुद्धि के भीतर, बुद्धि से शरीरी हुआ, बुद्धि को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और बुद्धि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(४५) वह जो वीर्य के भीतर, वीर्य से शरीरी हुआ, वीर्य को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और वीर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। वह आप दिखाई नहीं देता, वरन् सब का देखने वाला है। वह आप सुनाई नहीं देता, वरन् सबका सुनने वाला है। वह सोचा नहीं जाता, वरन् सब का सोचने वाला है। वह आप पहचाना नहीं जाता, वरन् सब के पहचानने वाला है। वह आप जाना नहीं जाता, वरन् सबका जानने वाला है।

(४६) निदान, विना उसके न कोई देखने वाला है, न कोई सुनने वाला है, न कोई सोचने वाला है, न कोई जानने वाला है। वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। विना उसके सब मिथ्या हैं, और सब उसी के देखने मात्र आभास हैं। तब उद्दालक मौन हुआ और संतोष को प्राप्त हुआ। जो कुछ गंधर्व ने सिखलाया था, वही याज्ञवल्क्य ने विवेक कर दिखलाया॥ ॐ शम्॥

१--श्रीराम तीर्थ ग्रन्थावली।

अर्थात्

परमहंस स्वामी रामतीर्थ जी महाराज के

हिन्दी भाषा में समग्र उपदेश व लेख जो २८ भागों में विभक्त हैं, और जो चार२ भागोंके खण्डों में भी मिल सकते हैं।

. मूल्य समग्र भागों का।

साधारण संस्करण कागज़ी जिल्द मामूली कागज़ १३)
विशेष संस्करण कपड़े की जिल्द बढ़िया कागज़ २०)
चार भागों के एक खंड का मूल्य
साधारण संस्करण कागज़ी जिल्द मामूली कागज़ २)
विशेष संस्करण कपड़े की जिल्द बढ़िया कागज़ ३)
मूल्य फुटकर भाग साधारण सं० ।~) विशेष सं० ॥~)
डाक इत्यादि सब खर्च ग्राहक के ज़िम्मे होगा।

(२) रामपत्र।

(अर्थात् ग्रंथावली भाग १७ वां १८ वां)

जो लोग ग्रन्थावली के सब खण्ड नहीं मँगवा सकते, वह इस पुस्तक को अवश्य मँगा कर देखें। इसके पढ़ने से पता चलेगा कि श्री स्वामी जी महाराज को बचपन से ही अपने पथदर्शक (गुरु जी) में कितनी असीम श्रद्धा और अगाध भक्ति थी। स्वामी जी की छात्र-अवस्था के पत्र वर्तमान छात्रों के लिये विशेष उपयोगी हैं। स्वामीजी ने जो पत्र संन्यासाश्रम में अपने अनेक प्रेमियों को लिखे थे वे भी इस पुस्तक में दर्ज हैं। छपाई उत्तम है और पुस्तक तीन चित्रों से सुसज्जित है।

मूल्य साधारण संस्करण बिना जिल्द १)
विशेष संस्करण सजिल्द १॥)

१--श्रीराम तीर्थ ग्रन्थावली।

अर्थात्

परमहंस स्वामी रामतीर्थ जी महाराज के

हिन्दी भाषा में समग्र उपदेश व लेख जो २८ भागों में विभक्त हैं, और जो चार २ भागों के खण्डों में भी मिल सकते हैं।

मूल्य समग्र भागों का।

साधारण संस्करण कागज़ी जिल्द मामूली कागज़ १३)
विशेष संस्करण कपड़े की जिल्द बढ़िया कागज़ २०)
चार भागों के एक खंड का मूल्य
साधारण संस्करण कागज़ी जिल्द मामूली कागज़ २)
विशेष संस्करण कपड़े की जिल्द बढ़िया कागज़ ३)
मूल्य फुटकर भाग साधारण सं० ।-) विशेष सं० ॥-)
डाक इत्यादि सब खर्च ग्राहक के ज़िम्मे होगा।

(२) रामपत्र।

(अर्थात् ग्रंथावली भाग १७ वां १८ वां)

जो लोग ग्रन्थावली के सब खण्ड नहीं मँगवा सकते, वह इस पुस्तक को अवश्य मँगा कर देखें। इसके पढ़ने से पता चलेगा कि श्री स्वामी जी महाराज को बचपन से ही अपने पथदर्शक (गुरु जी) में कितनी असीम श्रद्धा और अगाध भक्ति थी। स्वामी जी की छात्र-अवस्था के पत्र वर्तमान छात्रों के लिये विशेष उपयोगी हैं। स्वामीजी ने जो पत्र संन्यासाश्रम में अपने अनेक प्रेमियों को लिखे थे वे भी इस पुस्तक में दर्ज हैं। छपाई उत्तम है और पुस्तक तीन चित्रों से सुसज्जित है।

मूल्य साधारण संस्करण बिना जिल्द १)
विशेष संस्करण सजिल्द १॥)

"स्वामी जी ने इस गीता संस्करण को अनेक प्रकार से अलंकृत करने की चेष्टा की है। पहले मूल, उसके बाद अन्वयांकानुसार प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। उसके बाद अन्वयार्थ और व्याख्या है। इसके सिवा जगह २ पर टिप्पणियाँ दी गई हैं जो बड़े महत्व की हैं। बीच १ में जहाँ मूल का विषयान्तर होता दिखाई पड़ा है, वहाँ सम्बन्धिनी व्याख्या लिख कर विषय का मेल मिला दिया गया है। स्वामीजी ने एक बात और भी की है। आप ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस का संक्षिप्त सार भी लिख दिया है। इस से साधारण लिखे पढ़े लोगों का बहुत हित साधन हुआ है। मतलब यह है कि क्या बहुज्ञ और क्या अल्पज्ञ दोनों के संतोष का साधन स्वामी जी के इस संस्करण में विद्यमान है। गीता का सरलार्थ व्यक्त करने में तो आपने कसर नहीं उठा रक्खी।"

स्वामी रामतीर्थ के चित्र व फ़ोटो।

राम तथा उनके गुरु और सहायक के छपे चित्र मूल्य प्रति कापी ~) और दस कापी के दाम ॥)

स्वामी राम का बड़ा फ़ोटो आकार (१५×२० इञ्च) अनेक भेष व रूप में मूल्य प्रति फ़ोटो १)

स्वामीजी का कैबिनेट साइज़ फ़ोटो भिन्न २ रूप व पृथक २ दशा में मूल्य प्रत्येक फ़ोटो ।)

बटन फ़ोटो ॥)

अन्य प्रकाशकों के ग्रन्थ।

(१) अमृत की कुञ्जी अर्थात् "ज्ञान किहानी"

इस पुस्तक में पांचों शत्रु (काम क्रोधादि) से बचने का सुगम मार्ग दर्शाया है। अवश्य पढ़िये। मूल्य केवल -)

"स्वामी जी ने इस गीता संस्करण को अनेक प्रकार से अलंकृत करने की चेष्टा की है। पहले मूल, उसके बाद अन्वयांकानुसार प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। उसके बाद अन्वयार्थ और व्याख्या है। इसके सिवा जगह २ पर टिप्पणियाँ दी गई हैं जो बड़े महत्व की हैं। बीच २ में जहाँ मूल का विषयान्तर होता दिखाई पड़ा है, वहाँ सम्बन्धिनी व्याख्या लिख कर विषय का मेल मिला दिया गया है। स्वामीजी ने एक बात और भी की है। आप ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस का संक्षिप्त सार भी लिख दिया है। इस से साधारण लिखे पढ़े लोगों का बहुत हित साधन हुआ है। मतलब यह है कि क्या बहुज्ञ और क्या अल्पज्ञ दोनों के संतोष का साधन स्वामी जी के इस संस्करण में विद्यमान है। गीता का सरलार्थ व्यक्त करने में तो आपने कसर नहीं उठा रक्खी।"

स्वामी रामतीर्थ के चित्र व फ़ोटो।

राम तथा उनके गुरु और सहायक के छपे चित्र मूल्य प्रति कापी -) और दस कापी के दाम ।।)

स्वामी राम का बड़ा फ़ोटो आकार (१५×२० इञ्च) ।-

अनेक भेष व रूप में मूल्य प्रति फ़ोटो ४)

स्वामीजी का कैबिनेट साइज़ फ़ोटो भिन्न २ रूप व पृथक २ दशा में मूल्य प्रत्येक फ़ोटो १)

बटन फ़ोटो ।।

अन्य प्रकाशकों के ग्रन्थ।

(१) अमृत की कुञ्जी अर्थात् "ज्ञान किहानी"

इस पुस्तक में पांचों शत्रु (काम क्रोधादि) से बचने का सुगम मार्ग दर्शाया है। अवश्य पढ़िये। मूल्य केवल